राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – पुरातत्त्वाचार्य जिनविजय मुनि

[सम्मान्य संचालक – राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान]

★

राजस्थान राज्य समायोजित

जैसलमेर ज्ञानभण्डार ग्रन्थोद्धार ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक १

भट्ट-सोमेश्वर-विरचित

काव्यादर्शसंकेतसमन्वित

मम्मटाचार्यकृत

काव्यप्रकाश

★

प्रथम भाग – मूल पाठ

★

प्रकाशक

राजस्थान राज्यसंस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

(राजस्थान ओरियन्टल रीसर्च इन्स्टीटयूट)

जोधपुर (राजस्थान)

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्यद्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थान प्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मय प्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

★

प्रधान संपादक

पुरातत्त्वाचार्य, जिनविजय मुनि

(ऑनररी मेंबर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी)

सम्मान्य सदस्य – भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना; गुजरात साहित्य सभा, अहमदाबाद; विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब; निर्वृत्त सम्मान्यनियामक – (ऑनररी डायरेक्टर) भारतीय विद्याभवन बंबई; प्रधान संपादक – गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली; भारतीय विद्या ग्रन्थावली; सिंघीजैनग्रन्थमाला, जैनसाहित्यसंशोधक ग्रन्थावली; – इत्यादि, इत्यादि ।

★

संकलित ग्रन्थांक ४६

भट्ट सोमेश्वरविरचित काव्यादर्शसंकेतसंयुक्त

मम्मटाचार्यकृत

का व्य प्र का श

प्रथम भाग – मूल पाठ

★

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

(राजस्थान ओरिएन्टल रीसर्च इन्स्टीट्यूट)

जोधपुर (राजस्थान)

★

विक्रमाब्द २०१६ }
खिस्ताब्द १९५९ }

{ राष्ट्रीय
{ शकाब्द १८८०

भट्ट सोमेश्वरविरचित - काव्यादर्शसंकेत - समवेत

मम्मटाचार्यकृत

काव्यप्रकाश

[विविधपाठभेद, विस्तृतप्रस्तावना, बहुविधपरिशिष्टादि समन्वित]

* * *

संपादनकर्ता

प्रा. रसिकलाल छोटालाल परीख

[अध्यक्ष – भो० जे० उच्चतर अध्ययन - संशोधन प्रतिष्ठान गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद]

* * *

प्रथम भाग – मूल पाठ

★

प्रकाशनकर्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

(राजस्थान ओरिएन्टल रीसर्च इन्स्टीटयूट)

जोधपुर (राजस्थान)

★

विक्रमाब्द २०१६ }
खिस्ताब्द १९५९ }

[प्रथमावृत्ति – प्रतिसंख्या ७५०]

{ राष्ट्रीय
{ शकाब्द १८८०

प्रकाशक – गोपालनारायण बहुरा, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर.

मुद्रक – जयंति दलाल, वसंत प्रिन्टिंग प्रेस, घीकांटा रोड, अहमदाबाद.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

★

प्रधान संपादक

मुनि जिनविजय द्वारा संपादित कतिपय ग्रन्थ

१ त्रिपुराभारती लघुस्तव – महाकवि लघुपण्डित कृत
२ शकुनप्रदीप – पं. लावण्यशर्मा कृत
३ करुणामृतप्रपा – कवि सोमेश्वर ठक्कुर कृत
४ बालशिक्षा व्याकरण – ठक्कुर संग्रामसिंह कृत
५ पदार्थरत्नमञ्जूषा – पं. कृष्णमिश्र कृत
६ मुग्धावबोधादि औक्तिक संग्रह – अनेकविद्वत्कृतिरूप
७ प्राकृतानन्द – पं. रघुनाथ कृत
८ ठक्कुर फेरूरचित ग्रन्थावलि (प्राकृत)
९ उक्तिरत्नाकर – पं. साधुसुन्दरगणिकृत
१० राठोडांरी वंशावलि – राजस्थानी ऐतिहासिक भाषारचना
११ राजस्थानी सुभाषित संग्रह
१२ हमीर महाकाव्य – नयचन्द्र कविकृत
१३ मणिरत्नादि परीक्षा ग्रन्थसंग्रह

★

RĀJASTHĀNA PURĀTANA GRANTHAMĀLĀ

General Editor – Achārya Jinavijaya Muni, Purātattvāchārya
[Honorary Director, Rājasthān Prāchyavidyā Pratiṣṭhāna, Jodhpur]

KĀVYAPRAKĀŚA

OF

MAMMAṬA

WITH

THE SAṀKETA NAMED KĀVYĀDARŚA

OF

SOMEŚVARA BHAṬṬA

First Part – The Text

Published By
The Rājasthāna Prāchyavidyā Pratiṣṭhāna
(The Rajasthan Oriental Research Institute)
Established by the Government of Rajasthana
JODHPUR (Rajasthana)

RĀJASTHĀNA PURĀTANA GRANTHAMĀLĀ

Published by the Government of Rajasthan

A Series devoted to the Publication of Sanskrit, Prakrit, Apabhraṁśa, Old Rājasthānī and Old Hindi works pertaining to India in general and Rājasthān in particular.

★

General Editor

Achārya Jina Vijaya Muni, Purātattvāchārya

Honorary Member of the German Oriental Society, (Germany); Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; and Viśveśvrānanda Vaidic Reasearch Institute, Hosiyarpur, Punjab; Gujarāt Sāhitya Sabhā, Ahmedabad; Retired Honorary Director, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay; General Editor, Gujarat Purātattva Mandira Granthāvalī; Bhāratiya Vidyā Series; Singhi Jain Series; etc. etc.

★

No. 46

KĀVYAPRAKĀŚA

OF

MAMMAṬA

WITH

THE SAṀKETA NAMED KĀVYĀDARŚA

OF

SOMEŚVARA BHAṬṬA

First Part – The Text

✶

Published

Under the Orders of the Government of Rajasthana

by

The Director, Rājasthāna Prāchyavidyā Pratiṣṭhāna

(Rajasthan Oriental Research Institute)

JODHPUR (Rajasthana)

V. S. 2016] [1959 A. D.

KĀVYAPRAKĀŚA
OF
MAMMAṬA
WITH
THE SAṀKETA NAMED KĀVYĀDARŚA
OF
SOMEŚVARA BHAṬṬA
(Son of Devaka of the Bhāradvāja family)

★

EDITED

with introduction, appendixes containing variant readings and indexes of verses, names of authors, works and important words etc. etc.

BY

Prof. RASIKLAL C. PARIKH

Director, B. J. Institute of Learning and Research,
Gujarat Vidyasabha, Ahmedabad.
and
Postgraduate teacher of Sanskrit and Ancient Indian Culture of the
Gujarat University

First Part – The Text

★

Published
Under the Orders of the Government of Rajasthana
BY
The Director, Rājasthāna Prāchyavidyā Pratiṣṭhāna
(Rajasthan Oriental Research Institute)
JODHPUR (Rajasthana)

V. S. 2016] [1959 A. D.

Works by Prof. R. C. Parikh.

VAIDIKA PĀTHĀVALI

(a selection from the Vedas and the Brāhmaṇas with Gujarati translation and notes)

KĀVYAPRAKĀŚA (ULLĀSAS 1 to 6)

(Gujarati translation jointly with Prof. R. V. Pathak)

Published by Gujarat Vidya Pitha, Ahmedabad.

KĀVYĀNUŚĀSANA OF HEMACANDRA

Vols. I & II

(Critically edited with an introduction in English on the cultural history of Gujarat and The life and works of Hemachandra)

TATTVOPAPLAVASIMHA OF JAYARĀŚI BHAṬṬA

(Edited with an introduction in English jointly with Pandit Sukhalalji)

Published in the Gaekwad Oriental Series, Baroda.

KĀVYAPRAKĀŚAKHAṆḌANA OF SIDDHICHANDRA

(Critically edited with an introduction in English)

Published in Singhi Jain Series.

NṚTYARATNAKOŚA OF RĀṆĀ ŚRĪ KUMBHA

(Edited with introduction in English jointly with Prof. Dr. Priyabala Shah)

Published in Rājasthān Purātana Granthamālā, Jaipur.

प्रधान संपादकीय किंचित् प्रास्ताविक ।

सन् १९४३ के जनवरी से अप्रैल तक जैसलमेर के जैनग्रन्थ-भण्डारों का जब हमने विशेष रूप से अवलोकन किया तब राजस्थान के उस विशिष्ट ग्रन्थ भण्डार में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं प्राचीन राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषा में रचे हुए, अनेकानेक ऐसे छोटे-बड़े ग्रन्थ हमारे देखने में आये, जो अन्यत्र अप्राप्य अथवा बहुत ही दुर्लभ्य होकर साहित्यिक संपत्ति की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व रखते हैं। करीब ५ महीने हमारा वहां पर निवास रहा और हमने यथाशक्य छोटी-बड़ी ऐसी सैकड़ों ही साहित्यिक रचनाओं की इस दृष्टि से प्रतिलिपियां आदि करी-कराईं कि जिनको भविष्य में यथासाधन प्रकाशित करने-कराने का प्रयत्न किया जा सके ।

इन में से कई ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन का कार्य तो हमने हमारी स्वसंस्थापित एवं स्वसंचालित सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रारंभ कर दिया, जो बंबई के भारतीय विद्या भवन के अन्तर्गत सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ के तत्त्वावधानमें, शनैः शनैः प्रकाश में आ रहे हैं ।

सन् १९५० में राजस्थान सरकार ने हमारी प्रेरणा से **राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर** की (जिस का नाम अब '**राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान**' ऐसा रखा गया है) स्थापना की और इस के कार्य-संचालन का भार हमें सौंपा गया । तभी से, जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार में राष्ट्रीय वाङ्मय महानिधि के बहुमूल्य रत्नसमान जो सैकड़ों ग्रन्थ अव्यवस्थित, अरक्षित एवं अज्ञात स्वरूप अवस्था में पड़े हुए हैं तथा जो दिन प्रतिदिन विनाशकारी परिस्थिति की ओर अग्रसर हो रहे हैं, उन ग्रन्थरत्नों की सुस्थिति, सुरक्षा एवं सुप्रसिद्धि करने का राजस्थान सरकार द्वारा विशिष्ट एवं सुमहत् प्रयत्न होना चाहिये - ऐसा हमारा सतत प्रयत्न चालू रहा।

नूतन भारत के उत्कट विद्या-विज्ञान प्रेमी एवं भारत की प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति का उत्तम मूल्याङ्कन करने वाले हमारे महामान्य राष्ट्रपति डॉ० श्री श्रीराजेन्द्रप्रसाद महोदय तथा नूतन भारत के प्राणप्रतिष्ठाता महामात्य श्री श्रीजवाहरलाल नेहरु को भी जैसलमेर के इस मूल्यवान् ज्ञाननिधि का जब परिचय हुआ तो उनने भी इसके संरक्षण और प्रकाशन की तरफ राजस्थान सरकार का लक्ष्य आकृष्ट किया । हर्ष का विषय है कि राजस्थान सरकार ने इस विषय में अब सुव्यवस्थित कार्य करने की एक योजना स्वीकृत की है और उसके द्वारा, हमारे निर्देशन में, जैसलमेर के ग्रन्थरत्नों की सुरक्षा और प्रसिद्धि का कार्यक्रम चालू किया गया है ।

इस कार्यक्रम के अनुसार 'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र

'जैसलमेर ग्रन्थोद्धार विभाग' खोला गया है और उसके द्वारा जैसलमेर के जैन ग्रन्थभंडार में प्राप्त राष्ट्रीय महत्व के सभी ग्रन्थों की माइक्रोफिल्म एवं फोटो स्टेट कोपी आदि बनवा कर, उन्हें 'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर' में सुरक्षित रखने का आयोजन हो रहा है।

★

सन् १९४३ में हमने जैसलमेर में, ऊपर सूचित जिन अनेकानेक ग्रन्थों की प्रकाशन करने की दृष्टि से प्रतिलिपियां करवाई थीं, उनमें से कई ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य, उक्त रूपसे सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अतिरिक्त, इस **राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला** द्वारा भी करने का हमने उपक्रम किया और यथासाधन कई ग्रन्थरत्न इस माला में भी मुद्रित होने के निमित्त प्रेसों में दिये गये। उन्हीं ग्रन्थरत्नों में से यह एक प्रस्तुत ग्रन्थरत्न 'काव्यप्रकाशसङ्केत' है जो आज इस रूप में विद्वानों के करकमल में उपस्थित हो रहा है।

संस्कृत साहित्य के इस सुप्रसिद्ध एवं सुप्रतिष्ठित काव्यशास्त्र का सम्पादन–कार्य हमने अपने बहुश्रुत विद्वान् मित्र श्रीयुत रसिकलाल छो० परीख को समर्पित किया जो इस विषय के बहुत ही मर्मज्ञ एवं गभीराध्ययनशील, प्राध्यापक हैं। बहुत वर्षों पहले इनने इसी विषय के एक असाधारण महत्त्व के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्यकृत काव्यानुशासन का संपादन किया था; जो विद्वानों और विद्यार्थीवर्गके लिये बहुत ही अभ्यसनीय पाठ्यग्रन्थ सा बना हुआ है। अहमदाबाद की सुप्रसिद्ध गुजरात विद्यासभा जैसी बहुविध कार्यकारिणी संस्था के मुख्य कार्यवाहक नियामक (डायरेक्टर) होने के साथ, गुजरात युनिवर्सिटी की विविध प्रवृत्तियों के एक प्रमुख सदस्य रहने के कारण, इनको समयका बहुत संकोच होने पर भी, हमारी प्रेरणा के वशीभूत हो कर, इसके संपादन - कार्य में इनने जो असाधारण परिश्रम उठाया है तदर्थ हम इनके प्रति अपना हार्दिक कृतज्ञभाव प्रकट करना चाहते हैं।

★

महाकवि मम्मट के काव्यप्रकाश की ख्याति और व्यापकता संस्कृत - साहित्य के अध्ययन - क्षेत्र में सुविश्रुत है। इस पर अनेक विद्वानोंने अनेक व्याख्याएं की हैं और उनमें से अनेक व्याख्याएं प्रसिद्ध भी हो चुकी हैं। प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा जो व्याख्या प्रसिद्ध हो रही है, वह अभी तक प्रायः विद्वद्वर्ग में अज्ञात सी है। क्यों कि इस की उपलब्धि अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं हुई है। जैसलमेर के ग्रन्थभंडार में ही इस की एकमात्र संपूर्ण और सुलिखित प्राचीन ताडपत्रीय प्रति विद्यमान है। इस दृष्टि से इस का प्रकाशन एक महत्त्व का कार्य समझे जाने योग्य है। दूसरा महत्त्व इस का यह है कि काव्यप्रकाश के अनेकानेक व्याख्यानों में इस का स्थान सर्वप्रथम नहीं तो द्वितीय तो अवश्य ही है। काव्यप्रकाश पर

टीका - टिप्पण आदि लिखने वाले ग्रन्थकारों में प्रथम ग्रन्थकार शायद रुय्यक अथवा रुचक नामक पण्डित है और दूसरा विद्वान् प्रस्तुत व्याख्याकर्त्ता सोमेश्वर भट्ट है ।

इस सोमेश्वर भट्ट के विषय में सम्पादक विद्वान् श्रीपरीखने अपनी प्रस्तावना में यथायोग्य परिचय देने का प्रयत्न किया है । जिस तरह काव्यप्रकाश मूलग्रन्थ के कर्त्ता विद्वान् मम्मट कार्श्मीर के निवासी थे, इसी तरह इस काव्यादर्शनामक संकेत के कर्त्ता सोमेश्वर भट्ट भी काश्मीर के निवासी थे । श्रीपरीखने संकेतकार के समय के बारे में जो ऊहापोह किया है उस से ज्ञात होता है कि मूलग्रन्थकार मम्मट और संकेतकार सोमेश्वर के बीच में कोई अधिक काल का व्यवधान नहीं है। उन दानों के मध्य में ५० वर्ष से भी कम ही अन्तर रहा होगा।

काव्यप्रकाश पर संकेत नाम से रची गई एक अन्य व्याख्या जो आज तक अधिक प्रसिद्ध रही है और जिसका प्रकाशन भी कई स्थानों से हो चुका है, वह संकेतरूप व्याख्या जैन विद्वान् माणिक्यचन्द्ररचित है । अभी तक विद्वानों की यह मान्यता रही है कि काव्यप्रकाश पर सब से प्रथम यही एक विशिष्ट व्याख्या लिखी गई है और अन्य अनेकानेक व्याख्याएं इस के बाद रची गई हैं। पर प्रा० श्रीपरीखने अपने प्रस्तुत संपादन के प्रास्ताविक में इस विषय का जो ऊहापोह किया है उस से प्रतीत होता है कि जैन विद्वान् माणिक्यचन्द्र के संकेत के पूर्व ही, प्रस्तुत सोमेश्वरभट्टकृत संकेत की रचना हुई है । हमारे मत से श्रीपरीख का यह अभिमत युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

माणिक्यचन्द्र ने अपने संकेत में रचनाकाल का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर उसका अर्थ निकालने में विद्वानों को कुछ भ्रम हो रहा है, इस लिये उसका समय अपेक्षाकृत ३० या ५० वर्ष जितना प्राचीन माना जा रहा है । डॉ. भोगीलाल सांडेसराने माणिक्यचन्द्र के समय के विषय में जो विचार प्रकट किया है वह हमें अधिक युक्तिसंगत लगता है । माणिक्यचन्द्र का महामात्य वस्तुपाल के सर्वथा समकालीन होना निश्चित है, और उनकी साहित्यिक रचनाएं भी उसी महामात्य के प्रोत्साहनकाल में बनी हैं। अतः हमारे विचार से माणिक्यचन्द्र के सङ्केत का रचना समय, विक्रम संवत् १२१६ नहीं अपि तु १२६६ ही होना चाहिये । वक्त्रशब्द के संकेत से प्रायः १, ४, ६, और १० तक के अङ्क लिये जाने के कुछ आधार मिलते हैं । इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रकाशन में जो संकेतात्मक काव्यप्रकाश की व्याख्या प्रकट हो रही है वह एक प्रकार से काव्यप्रकाश की सर्वप्रथम प्रमाणभूत एवं सुन्दरतम व्याख्या है ।

इस प्रकाशन में काव्यप्रकाश का जो मूल पाठ मुद्रित है वह भी आज तक मुद्रित अन्यान्य अनेकानेक पाठों की तुलना में, अद्यावधि ज्ञात एवं प्राप्त प्राचीनतम प्रति के आधार

पर तैयार किया गया है। अतः इसकी प्रामाणिकता और शुद्धता सर्वोपरि स्थान रखने वाली मानी जानी चाहिये।

राजस्थान सरकार ने जैसलमेर के ग्रन्थभण्डार में सुरक्षित ग्रन्थरत्नों को प्रकाश में लाने के लिये जो उक्तप्रकार से विशिष्ट प्रयत्न की योजना की है उस के अनुसार, हम **राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला** के अन्तर्गत 'जैसलमेर ज्ञानभण्डार ग्रन्थोद्धार ग्रन्थावलि' नाम की एक पृथक् श्रेणी (सीरीझ) प्रकट करने का प्रारम्भ कर रहे हैं और उस के प्रथम अंक के रूप में यह ग्रन्थ विद्वानों के कर-कमल में विभूषित हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को दो भागो में प्रकट करने की व्यवस्था की गई है जिसका यह मूल-ग्रन्थरूप प्रथम भाग है। दूसरा भाग भी इसी के साथ ही तैयार हो रहा है जिस में संपादक विद्वान् द्वारा बहुत परिश्रमपूर्वक मूलग्रन्थ से सम्बद्ध प्रस्तावना और परिशिष्टादि विविध सामग्री का सङ्कलन किया गया है।

विशेष आभार प्रदर्शन

हम यहां पर, जैसलमेर के ज्ञानभण्डारविषयक ग्रन्थोद्धार का सुमहत् आयोजन करने के निमित्त, राजस्थानराज्य के प्रेरक प्राणस्वरूप वर्तमान मुख्य मंत्री महोदय श्री श्रीमोहनलालजी सुखाडिया तथा मुख्य सचिव श्री भगवन्तसिंहजी मेहता और शिक्षासचिव श्री विष्णुदत्तजी शर्मा के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रदर्शित करना चाहते हैं, जिनके राज्यकल्याणकारी सद्विचारों और सत्प्रयासों के परिणामस्वरूप, राजस्थान के सामाजिक एवं सांस्कारिक जीवन में नूतन उत्साह, नूतन प्रेरणा और नूतन संगठन का प्रसार हो रहा है और साथ में राजस्थान की प्राचीन संस्कृति के संरक्षण और समुद्धार के निमित्त भी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जैसी देश-विदेश में ख्याति प्राप्त करने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास भी प्रशंसनीय रूप में वृद्धि प्राप्त कर रहा है।

१ जनवरी, १९६०
अनेकान्त विहार
अहमदाबाद

— मुनि जिनविजय

काव्यप्रकाशः ।

प्रथम उल्लासः ।

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति —

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

नियतिशक्त्या नियतरूपा, सुखदुःखमोहस्वभावा, परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा, षड्रसा, न च हृद्यैव तैः,[3]

भट्टसोमेश्वरविरचितः काव्यादर्शनामा काव्यप्रकाशसंकेतः ॥

पदार्थकुमुदव्रातसमुन्मीलनचन्द्रिकाम् ।
वन्दे वाचं परिस्पन्दजगदानन्ददायिनीम् ॥

समुचितेति । यत् किल प्रस्तुतं वस्तु काव्यालंकरणं तदधिदैवतरूपा वक्ष्यमाणरामणीयकहृदयहारिणी वाणी ॥ अनन्यपरतन्त्रामिति । कवेरपेक्षया अन्यशब्दनिर्देशः । परमाण्वादीन्युपादानकारणानि, कर्मादीनि सहकारिकारणानि । यथाङ्कुरस्य बीजमुपादानकारणं, क्षित्यातपसलिलादीनि सहकारिकारणानि ॥ षड्रसेति । मधुरादयः ष , शृङ्गारादयस्तु नव रसाः ॥ न चेति । तिक्तादयो हि न हृद्याः ॥ एतद्विलक्षणेति । वक्तीति वाक् शब्दः । उच्यत इति वागर्थः । उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः । तत्र शब्दार्थयोर्वैचित्र्यप्रकारनिर्मितेरानन्त्यमभिधा । वैचित्र्यप्रकाराणामप्यनियतत्वं, यतः सुकविभिरनुबध्यमाना भावा अचेतना अपि चेतनवच्चेतना अप्यचेतनवद् विवर्तन्ते । यदुक्तं —

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

जयति, परिच्छिन्नशक्तेः प्रजापतिनिर्मितेरप्युत्कर्षेण वर्तते । सर्वोत्कर्षे च वर्तमानो जयतिरकर्मको, नियतोत्कर्षे च सकर्मको द्विकर्मकश्च । यथा ‘ शत्रुं जयति ’ ‘ शतं कितवं जयती ’ति । अत एव ‘ तस्यै नमः, ’ ‘ तां नमामी ’-

ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिरत एव जयति । जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह —

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥२॥

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनं, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणं सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं प्रभुसंमितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तर-

त्यादिस्तुतिवाक्यानि उत्सृज्य सहृदयेन जयतीति कृतम् ॥ यतोऽत्र अनैयत्येन स्तुत्याया उत्कर्षोऽभिप्रेतो यस्याश्च सर्वोत्कर्षेण स्थितिस्तां प्रति को न नमस्यतीत्यर्थाच्च नम्रतापि वक्तुरुक्तैव भवतीत्याह—जयत्यर्थेनेति । कविप्रजापतिवाचश्चास्या आधिक्ये नियतीत्यादेरुपमेयोत्कर्षहेतोरुक्तावाक्षिप्ते चौपम्ये व्यतिरेकालंकारो व्यङ्ग्यः । कविभारतीप्रभावख्यापने वक्तुरतितरां रतिरित्यलक्ष्यक्रमः स्थायी भावोऽत्र वाक्ये व्यङ्ग्यः ॥ १ ॥

इहाभिधेयमिति । दोषत्यागेन गुणालंकारसंस्कृतं काव्यमभिधेयं शास्त्रं चेदमभिधायकं तयोरभिधानाभिधेयलक्षणः संबन्धोऽर्थादुक्तः । प्रयोजनं च सर्वत्र प्रवृत्त्यङ्गम् । यदुक्तम् —

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ॥

तदपि दृष्टमदृष्टं चाह — काव्यमिति । राजादीनां हि वर्ण्यमाने व्यवहारे तदङ्गभूतामात्यादिव्यवहारा औचित्येन निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तमुपदिशन्ति ॥ आनन्दमिति । परब्रह्मास्वादसदृशीं प्रीतिं करोतीत्यन्वयः ॥ प्रभुसंमितेति । कर्तव्यमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः ॥ सुहृत्संमितेति । अस्येदं वृत्तममुष्मात् कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफलसंबन्धप्रकटनकारिभ्योऽर्थे तात्पर्यं विद्यते येषामित्यर्थ-

वर्णनानिपुणकविकर्म तत्कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः

प्रधानेभ्यः । यदाह —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुवंशचरितं **पुराणं** पञ्चलक्षणम् ॥
धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्**तमितिहासं** प्रचक्षते ॥

रसाङ्गेति । **रसस्याङ्गिनो योऽङ्गभूतो व्यञ्जनात्मा व्यापारस्तन्निष्ठतया विसदृशम् । यद्** भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र **शास्त्रं** पृथग् विदुः ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वद**न्त्याख्यान**मेतयोः ॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये **काव्य**गीर्भवेत् ॥

वर्णनानिपुणेति । **'कवृ वर्णे' इति दर्शनाद् वर्णनाच्च कविः । यद्** भट्टतोतः —

नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः ।
नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना ॥

रामवदिति । **यथा रामायणादिषु गुणवतो नायकस्योत्कर्षो, दोषवतश्च त्रैलोक्यविजयिनोऽप्युच्छेदस्तथान्यस्यापि इति विधिनिषेधोपदेशं च ॥ अयं भावः । ये खलु राजपुत्रप्राया धर्माद्युपेयार्थिनो मृद्वाशयत्वात् क्लेशभीरवश्च जगद्व्यापिव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाश्चावश्यव्युत्पाद्यास्तेषां कान्तातुल्यत्वेन प्रीतिकारिणः काव्याद् योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः पुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धस्तत्र हृदयानुप्रवेशेन व्युत्पत्तिराधेया । तदुक्तम् —**

त एते यौवनोन्मादविशृङ्खलविचेष्टिताः ।
प्रेमवैदग्ध्यशालिन्या प्रेयस्येवाभिजातया ॥
हृदयानुप्रवेशेन ललितोपायरञ्जिताः ।
संमुखा राजपुत्राद्या विनीयन्ते प्रयोक्तृभिः ॥

सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । यां विना काव्यं न प्रसरेत् । प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थाव-

---

हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय इति रसोचितविभावाद्युपनिबन्धे रसास्वादविवशचेतसां श्रोतॄणां चतुर्वर्गव्युत्पत्तिफलत्वेऽपि प्रीतिरेव मुख्यं प्रयोजनम्, अन्यथा प्रभुमित्रसंमितेभ्यो वेदेतिहासादिभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य कान्तातुल्यत्वलक्षणो विशेषः । प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव च काव्यम् ॥ यथायोगमिति । कवेरेव यशो न सहृदयस्य । यतोऽत्र चिरातीता अपि कवयः श्रूयन्ते ॥ कवेरिति । काव्यकर्तृत्वलक्षणपूर्वावस्थापेक्षया कविशब्दनिर्देशः । यतः कवेरपि भावकावस्थायामेव रसास्वादः संपद्यते । पृथगेव हि कवित्वाद् भावकत्वम् । यस्य तु काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते चित्तादर्शे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता सहृदयसंवादभाक्, स सहृदयः ॥ यतनीयमिति । यतः —

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥

यच्च—

वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीहामो वृद्धान् —

इत्याद्यसदुपदेशकं तन्निषेध्यत्वेन, न विधेयत्वेन । य एवंविधा विधयस्तांस्त्यजेदिति कवीनां भावः ॥२॥

एवं काव्यस्यासाधारणानि प्रयोजनान्युक्त्वा कारणमाह – शक्तिरिति ॥ संस्कार इति । वर्णनीयवस्तुविषयनवनवोल्लेखशालि प्रतिभानम् । तस्य विशेषो रसावेशवैवश्यसुन्दरकाव्यनिर्माणक्षमत्वम् । यदाह —

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥

प्रधानं चैतत् कारणम्, अत एवास्य प्राङ् निर्देशः ॥ न प्रसरेदिति । न

रजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसंबन्धिनाम् । आदिग्रहणादितिहासादीनां विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः । काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन

निष्पद्येत ॥ लोकवृत्तस्येति । प्रधानं चैतदङ्गं सर्वस्य हि साहित्यस्य लोकवृत्तप्रतिपादनपरत्वात् । तच्च देशकालस्वभावभेदाद् अनेकप्रकारं वक्ष्यते ॥ चन्दति ह्लादं करोति दीप्यते वा श्रव्यतयेति छन्दश्छन्दोविचितिः । छन्दःप्रभृतीनां पूर्वं पूर्वं प्रधानं, काव्यबन्धेष्वपेक्षणीयत्वात् । काव्याभ्यासाद् वृत्तनिश्चये सत्यप्यर्धसमवृत्तादौ संशयः स्यादिति छन्दःशास्त्राद् वृत्तसंशयच्छेदः ॥ व्याकरणेति । शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः प्रयुज्यन्ते ॥ अभिधानकोशो नाममाला । ततः पदार्थनिश्चये प्रयुक्तस्याभिधेयस्य प्रयोगः । पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् संदिग्धार्थत्वेन न गृह्णीयाद् न च जह्यादिति बन्धविप्लवः । यथा नीवीशब्देन जघनवस्त्रग्रन्थिः सामान्येनोच्यते । ‘नीविराग्रन्थनं नार्या जघनस्थस्य वाससः’ इति नाममालाप्रतीकमपश्यतः स्त्रियाः पुरुषस्य वेति संशयः ॥ कला गीतनृत्तादिकाश्चतुःषष्टिः । तासां शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि ॥ चतुर्वर्गो धर्मार्थकाममोक्षाः । तत्र, धर्मशास्त्राणि श्रुतिस्मृत्यादीनि । अर्थशास्त्रं चाणक्यादि । ततो हि नयापनयज्ञानम् । तत्र षाड्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो नयः, तद्विपरीतोऽपनयः । न हि तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं निबद्धुं शक्यम् । कामशास्त्रं वात्स्यायनादिप्रणीतम् । ततः कामोपचारनैपुणम् । कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्य । मोक्षशास्त्रं गीतादि ॥ महाकवीति । महच्छब्दोऽशेषविशेषविषयप्रावीण्यमाह । महाकविव्यपदेशो ह्यभिधास्यमानव्यङ्ग्यजीवितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजनत्वेनैव भवति । काव्यान्तरेषु हि परिचयाल्लक्ष्यज्ञत्वम् । ततो हि प्रबन्धबन्धुरता ॥ इतिहासादीनामिति । आदिशब्दात् तर्कायुर्वेदज्योतिःशास्त्ररत्नपरीक्षाधातुवादधनुर्वेदादि । न च तद्वाच्यं वाचकः शब्दो वास्ति यन्न काव्याङ्गमिति । कविना सकलशास्त्रप्रवणेन भाव्यम् ॥ विमर्शनादिति । प्रतिभामोपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलं हि व्युत्पत्तिः ॥ य इति । सत्कवयः सहृदयाश्च ते हि वक्ष्यमाणस्वरूपनिरूपणया काव्यविषये परं प्रकर्षं प्रापयन्ति ॥ उपदेशेनेति । असदपि पद्मादि नदीषु, हस्त्यादि आकाशगङ्गायां, हंसादि जलाशयमात्रे, स्वर्णरत्नादि यत्र तत्र अद्रौ, सूचीभेद्यत्वमुष्टिग्राह्यत्वे तमसि, कुम्भोपचा-

करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति[10] त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।

ह्यत्वं ज्योत्स्नायां, शौक्ल्यं यशोहासादौ, कार्ष्ण्यमयशःपापादौ, रक्तत्वं क्रोधानुरागयोः, चन्द्रिकापानं चकोरेषु, निशि भिन्नतटाश्रयणं चक्रवाकयुग्मेषु वर्णयेत्। सदपि पुष्पफलं चन्दनद्रुषु, फलमशोकेषु, मालतीं वसन्ते, ज्योत्स्नातमसी शुक्लकृष्णपक्षयोः, रक्तत्वं कामिदन्त-कुन्दकुड्मलयोः, हरितत्वं कमलमुकुलादौ, पीतत्वं प्रियङ्गुपुष्पेषु, दिवा नीलोत्पलानां विकासं, निशानिमित्तकं विस्रंसं च शेफालिकापुष्पेषु न वर्णयेत्। तथा मुक्तास्ताम्रपर्ण्यामेव, मकरान् अब्धिष्वेव, चन्दनं मलये एव, भूर्जोत्पत्तिं हिमवत्येव, सामान्योपादाने मणिपुष्पमेघानां शोणत्वशुक्लत्वकृष्णत्वान्येव, पिकरुतं वसन्ते एव, मयूराणां रुतं नृत्तं च वर्षास्वेव वर्णयेत्। तथा कृष्णनीलयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोः, चन्द्रे शशमृगयोः, कामध्वजे मकरमत्स्ययोः, अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नयोश्चन्द्रयोः, द्वादशानामप्यर्काणां, नारायणमाधवविष्णुदामोदरकूर्मादेः, कमलासंपदोः, नागसर्पयोः, क्षीरक्षारसमुद्रयोः, दैत्यदानवासुराणां चैक्यम्। तथा चक्षुरादेरनेकवर्णत्वं, चिरकालजन्मनोऽपि शिवचन्द्रस्य बालत्वं, कामस्य मूर्तत्वामूर्तत्वे च - इति कविसमयः। समस्यापूरण-वाक्यार्थ-शून्यवृत्ताभ्यासश्चोपदेशः। उक्तिपादाद्युपजीवनं च। उक्तयो ह्यर्थान्तरसंक्रान्ता न प्रत्यभिज्ञायन्ते स्वदन्ते च। उक्तिवैचित्र्याच्च काव्यार्थानामानन्त्यम्॥ करणे योजने चेति। विशकलितरूपे प्रबन्धरूपे च॥ समुदिता इति। अयं अभिप्रायः। कवेः काचिद् विचित्रैव सहजा शक्तिरुल्लसति। तया च तथाविधवैदग्ध्यबन्धुरां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्यां च विचित्रवासनाधिवासितमानसोऽभ्यासभाग् भवति। पेशलाभ्यासपरवशस्य च न काव्यार्थविरामः स्यात्, तदेतेषां न कस्यचिन्न्यूनता॥

ननु च शक्तेरान्तरतम्यात् स्वाभाविक्याः कारणत्वं युक्तं, व्युत्पत्त्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटेत?। सत्यं, आस्तां तावत् काव्यकरणं, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासात् स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रवर्तेते। तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः। स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेन अवस्थानात्। ततः शक्तिरारभते। तौ च तत्परिपोषमातनुतः। तथा चाचेतना अपि पदार्थाः पदार्थान्तरसंनिधिमाहात्म्याद् अभिव्यक्तशक्तयः। यथा

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह —

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

दोषगुणालंकारा वक्ष्यन्ते । क्वापीत्यनेनैतदाह – यत्सर्वत्र सालंकारौ । क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा –

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः । रसस्य हि प्राधान्यान्नालंकारता ।

चन्द्रमणयश्चन्द्रकरस्पर्शादेव स्यन्दमानसहजरसप्रसराः स्युरिति न शक्तिरेवास्य हेतुः ॥ ३ ॥

तदिति । काव्यम् । शब्दार्थाविति । वाचको वाच्यश्च द्वौ संमिलितौ । तेन कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव अर्थ एव वा काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तम् , यस्माद् द्वयोराह्लादकारित्वं, न पुनरेकस्य । त एवान्यैः काव्यलक्षणसूत्रे 'सहिता'विति कृतम् । सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ, जातिव्यक्तिवदन्योन्याद्यव्यभिचारित्वेनेत्यर्थः ॥ मीमांसकादयो हि शब्दार्थयोरत्यन्तं भेदमाहुः । तथा चोक्तम् – 'मुखे हि शब्दमुपलभामहे, द्विवचनेन च वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते, व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यात् । ततो वाक्यव्यस्थितयोरेव काव्यत्वम् । वेदवाक्यानां च कवेः कर्मेति व्युत्पत्तेर्न काव्यत्वम् । तर्हि शाकटिकवाक्यानामपि वाच्यवाचकसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् काव्यत्वम् । ' नैवम् , शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तं रूपान्तरमेव काव्यमित्याह – सगुणाविति ॥ दोषगुणेति । श्रुतिकटुप्रभृतयोऽनित्यदोषा रसस्यापकर्षहेतवः, उत्कर्षहेतवस्तु गुणा माधुर्यादयस्त्रयः, शौर्यादिवत् । ते च दोषगुणा अन्वयव्यतिरेकानुविधानाद् रसाश्रया रसधर्माश्च गुणवृत्त्या तु तदुपकारिणोः शब्दार्थयोः । अलंकारा अपि रसस्याङ्गिन उपकारकाः शब्दार्थद्वारेण हारादिवत् । एतच्च वितनिष्यते ॥ स्फुटालंकारेति । अनेन गुणानामवश्यंभावः । तथा ह्यनलंकृतमपि गुणवद् वचः स्वदते ' यः कौमारे 'त्यादौ ॥ काव्यत्वेति । भावप्रत्ययान्न भावप्रत्ययः, किंतु, कव्यत इति काव्यं, तस्य भाव इति ॥ ' यः कौमारे 'ति । अत्र वरादेः कारणस्य सामग्र्ये सत्यपि निधुवन-

तद्भेदान् क्रमेणाह —

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य । यथा —

विधेः कार्यस्यानुक्तेर्विशेषोक्तिरलंकारः केवलमस्पष्ट इत्याह – स्फुटो नेति । न चात्र रसवदलंकारः, यतो यत्र प्रधानतया वाक्यार्थीभूतस्यान्यस्यार्थस्याङ्गभूता रसादयस्तत्र रसवदाद्यलंकारस्य विषयः । यत्र चाङ्गितया वाक्यार्थीभूता रसादयः । स रसादिध्वनिरलंकार्यस्तस्योपमादयोऽलंकारा इत्याह – रसस्य हीति ॥३

काव्यस्य सामान्यलक्षणमुक्त्वा व्यङ्ग्यनिबन्धनं त्रैविध्यमाह – इदमुत्तममिति । वाच्यादर्थान्मुख्यलक्ष्यलक्षणाद् व्यङ्ग्ये वस्त्वलंकाररसादिरूपे सातिशये उत्तमं काव्यं काव्यविशेषो ध्वनिरिति व्यपदिश्यते ॥ कथित इत्यादरेणोपदिष्टः । नहि भूयांसो विद्वांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः, अत एव बुधैरिति बहुवचनम् । ततश्चेदम् । प्रथमतात्र न संभाव्यैवेति भावः ॥ काव्यमिति । गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थौ, तत्पृष्ठपाती ध्वनिलक्षण आत्मेति व्यङ्ग्यार्थजीवितं काव्यमित्यर्थः । आत्मात्मवतोरभेदेन च वस्तुतो ध्वनिरेव काव्यम् ॥ अयमभिप्रायः । शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् । तस्य च केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव । अत एव बुध-शब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तकः कृतः ॥

ननु, ध्वन्यते द्योत्यत इति व्यङ्ग्य एवार्थो ध्वनिरस्तु । तन्नेत्याह– बुधैरिति । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणास्तन्मूलत्वात् सर्वविद्यानां तैश्च स्फुटति विकसति अर्थोऽस्मादिति स्फोटस्तद्रूपो व्यङ्ग्यार्थव्यञ्जकः प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णसमूहाभिव्यङ्ग्योऽर्थात्मा अर्थावसायप्रसवनिमित्तं श्रूयमाणः शब्दः, तस्य घण्टानुरणनरूपत्वमस्तीति ध्वनिरिति व्यवहृतम् । यद् भर्तृहरिः–

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजायते ।
स स्फोटः, शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ।

ततोऽन्यैरप्यानन्दवर्धनप्रभृतिभिरुपसर्जनीकृतमुख्यार्थो यो व्यङ्ग्यस्तद्व्यञ्जनसमर्थस्य शब्दार्थयुगलस्य काव्यमिति व्यपदेशस्य व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युच्यते,

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

अत्रा[१३]धमशब्देन तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येन[१४] व्यज्यते ।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम् । तदपेक्षया

ध्वननीति कर्तृव्युत्पत्तेः । तयोर्व्यापारोऽपि ध्वनिर्ध्वननमिति भावसाधनत्वात् । व्यङ्ग्योऽर्थश्च ध्वनिर्ध्वन्यत इति कर्मव्युत्पत्तेः । कारिकायां तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात् । व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्यात् क्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकारा रसादयश्चेति त्रिविधोऽपि वाच्याद् दूरं भिन्नः । तथाद्यस्तावद् भेदो वाच्यादन्यः, स हि विधिप्रतिषेधयोर्विरोधेऽपि वाच्यप्रतिषेधरूपे क्वचिद् विधिरूपो यथा 'निःशेषे'ति । च्युतं चन्दनं, न तु क्षालितम् । निर्मृष्टो न तु किंचिन्मृष्टः । दूरमनञ्जने, निकटे तु साञ्जने । पुलकिता तन्वीति चोभयं विधेयं व्यङ्ग्यपक्षे, अधमपदं च व्यञ्जकम् । अत्र शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः । तथाऽत्रैव स इव त्वं, त्वमिव सोऽप्यधम इत्युपमेयोपमालंकारो व्यङ्ग्यः ।

क्वचिद् वाच्यविधिरूपे प्रतिषेधरूपो यथा 'भम धम्मिये'ति । कस्याश्चित् संकेतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसंचरणान्तरायदोषात् तदवलुप्यमानपल्लवादिविच्छायीकरणाच्च त्रातुमियमुक्तिः भमेति । अतिसृष्टोऽसि, प्राप्तस्ते भ्रमणकालः । अतिसर्गप्राप्त कालयोः पञ्चमी । धार्मिकेति कुसुमाद्युपयोगार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । विश्रब्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात् । स इति यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । तेनेति यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाऽप्याकर्णितो गोदावरीतीरलतागहने वसतीति । अत्र भ्रमेति विधौ वाच्ये तत्र निकुञ्जे सिंहस्तिष्ठति, त्वं च शुनोऽपि बिभेषि, तत् त्वयाऽस्मिन्न गन्तव्यमिति निषेधः प्रतीयते । एवमलंकारा रसादिभेदाश्च व्यङ्ग्या वाच्याद् भिन्ना अग्रे वितनिष्यन्ते ॥

वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरमधमम् । यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

"विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥ ५ ॥

काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूपविशेषनिर्णयो नाम प्रथम उल्लासः ॥ १ ॥

तदपेक्षयेति । नागतेति व्यङ्ग्यस्यार्थस्य मलिना मुखच्छायेत्यनयोक्त्यैव विषयीकृतत्वमिति व्यङ्ग्याद् वाच्यमेव सातिशयम् ।

यच्च रसभावादि व्यङ्ग्यार्थशून्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यमात्रं तच्चित्रं काव्यमित्याह — शब्दचित्रमिति । विस्मयकृद् वृत्तादिवशात्, न तु सहृदयचमत्कारकारिरसनिष्यन्दमयमित्यर्थः । काव्यानुकारित्वाद् वा चित्रं लेख्यमात्रत्वाद् वा कलामात्रत्वाद् वा । तदुक्तम्—

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते: ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥

एतच्च विशृङ्खलगिरां कवीनां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनात् परिकल्पितम् ॥ स्फुटप्रतीयमानेति । यदा रसभावविवक्षाशून्यं कविः शब्दार्थालंकारमुपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः ॥५॥

भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः ॥

[द्वितीय उल्लासः]

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः ।

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् । वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ।

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।

तत्र वाच्यस्य यथा—

विषयभेदाच्छब्दानां भेदो न स्वाभाविक इत्याह— वाच्यादय इति । अभिधानानन्तरं चान्वयप्रतिपत्तिनिमित्तं तात्पर्यशक्तिरप्यस्ति, तद्विषयस्तात्पर्यलक्षणोऽर्थोऽपि, तथापि तौ वाक्यविषयावेवेत्याह— तात्पर्यार्थोऽपि केष्विति । अभिहितान्वयवादिषु भट्टेषु प्रतियोगिषु प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा आकाङ्क्षा, आकाङ्क्षितस्यानन्तर्यं संनिधिः, योग्यता संबन्धार्हत्वम् ॥ अपदार्थोऽपीति । उक्तस्वरूपाकाङ्क्षादिवशाद् अन्योन्यमन्विताः पदार्थास्तात्पर्यपरनामधेयं वाक्यार्थमवबोधयन्ति । यदाह— 'पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि अथेदानीमर्थोऽवगतोऽर्थान्तरमवगमयति' इति प्रभाकरपक्षे चान्विताभिधाने आकाङ्क्षादिवशाद् अन्यान्यमन्वितानि पदानि एव प्रधानगुणतया परस्परानुगतपदकदम्बकस्वरूपं वाक्यार्थमभिदधतीति वाच्य एव वाक्यार्थः । यदाहुः—

कारकोपनिबन्धः स्यात् क्रियादिषु यथा यथा ।
जिज्ञासा जायते बोद्धुः संबन्धिषु तथा तथा ॥
यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं संनिधिं प्रतिपद्यते ।
तदन्वितपदेनार्थः स्वकीयः प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

वक्तृबोद्धव्यकाकुवाक्यवाच्यादिवैशिष्ट्याद् अर्थानां वाच्यादीनां व्यञ्जकतेत्याह — सर्वेषामिति । वक्तृवैशिष्ट्यात् ।

माए घरोवयरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमये[7] ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ६ ॥

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते । लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहेयं खणे खणे दुम्मिआसि मज्झ कये[8] ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइयं तुमये[9] ॥ ७ ॥

अत्र [10]मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् । तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् । व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ[11] णिच्चलनिप्फन्दा[12] [13]भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाया[14] ।
निम्मल[15]मरगय[16]भाअणपरिट्ठिया[17] सङ्खसिप्पि[18] व्व ।

अत्र [19]निष्पन्दत्वेनाश्वस्तत्वम्, तेन च[20] जनरहितत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि[21] कंचित् प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ।

वाचकादीनां क्रमेण रूप[22]माह—

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ ७ ॥

इहागृहीतसंकेतस्य शब्द[23]स्यार्थ[24]प्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति

माए [इ]ति । साधितं कथितम् । एवमेव न वासरस्तिष्ठति । अत्र तस्या असाध्वीत्वेऽवगते व्यङ्ग्यप्रतीतिः, प्रतिपाद्यविशेषात् ॥ साहिन्ती । साधयन्ती कथयन्ती । अत्र विपरीतलक्षणायां प्रियसंभोगः शत्रुत्वं च लक्ष्यम् । एतत् तृतीयोल्लासे वक्ष्यते ॥

यस्येति शब्दस्य ॥ यत्रेति जात्यादौ । वाचक इति शब्दाः संकेतितं प्राहुरित्युक्तेः । वाचकत्वं हि समयवशाद् अव्यवधानेन प्रतिपादकत्वम् । यथा तस्यैव शब्दस्य स्वार्थे ॥

जात्यादिरिति । जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चेति ॥ अर्थक्रियाकारितयेति । यागसाधनहेतुत्वेन ॥ आनन्त्यादिति । यद्येकस्मिन् गोपिण्डे

गौः शुक्लश्चलो[25] डित्थ इत्यादीनां शब्दानां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः । उपाधिश्च[26]—वस्तुधर्मो[27] वक्तृयदृच्छासंनिवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि[28]—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि[29]—पदार्थस्य[30] प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । आद्यो[31] जातिः । उक्तं हि वाक्यपदीये—'न[32] हि गौः स्वरूपेण[33] गौर्नाप्यगौः[34], गोत्वाभिसंबन्धात् तु[35] गौः' इति । द्वितीयो गुणः । शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते । साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः । डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धि-

---

संकेतः क्रियते तदान्येषु कर्तुं न शक्यते ॥ व्यभिचाराच्चेति । यदि व्यक्तौ संकेतः स व्यवहारकालं व्यभिचरति बाल्यादिविशेषात् ॥ गौः शुक्ल इति । गोत्व-शुक्लत्वचलत्वविशिष्टे एव गोपिण्डे संकेताद् गौः शुक्लश्चल इत्यादीनां शब्दानां विषयो नास्ति, ज्ञातार्थानां पुनः प्रयोगानर्हत्वात् । तदुपाधाविति । तेषां शब्दानामुपाधौ । वस्तुधर्मे जात्यादिलक्षणे । तथा हि सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्तमानानाम् उपाध्युपदर्शितविषयविवेकत्वाद् उपाधिनिबन्धना प्रवृत्तिः । वक्त्रा यदृच्छया तत्तत्संज्ञिविषयाभिधा शक्त्यभिव्यक्तिद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् संज्ञिनि उपाधितया संनिवेश्यत इति वक्तृयदृच्छासंनिवेशितः, अतस्तन्निबन्धना यदृच्छाशब्दा डित्थादयः । यस्तूपाधिर्वस्तुधर्मत्वेन अवस्थितः स द्विधा, सिद्धसाध्यताभेदात् । सिद्धोऽपि उपाधिर्द्विधा, जातिगुणभेदात् ॥ आद्य इति । पदार्थप्राणप्रदः सिद्ध उपाधिः । न हि कश्चित् पदार्थो जातिसंबन्धमन्तरेण स्वरूपं प्रतिलभते ॥ द्वितीय इति । जातिमहिम्नैव लब्धस्वरूपस्य वस्तुनः पटादेर्विशेषाधानहेतुः सिद्ध उपाधिः शुक्लादिः । यदुक्तम्—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥

तदेवं यस्य प्राणप्रदोपाधिनिबन्धनत्वं शब्दस्य, स जातिशब्दो गवादिः । यस्मात् तु लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुरर्थः प्रतीयते स गुणशब्द इति ॥ साध्य इति । उपाधिः । साध्योपाधिनिबन्धनाः क्रियाशब्दाः, यथा 'पचति' इति । पूर्वापरीभूतौ तुसबुसादिप्रक्षेपविक्लेदादिरूपौ अवयवौ यस्याः सा तथा ॥ अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति । क्रमवृत्तित्वाच्छब्दानां नैकदेशकालावच्छेदलक्षणः समुदायः संभवति । न खलु 'डि'शब्दोच्चारणकाले 'त्थ'शब्दोऽस्ति,

निर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन संनिवेश्यत इति सोऽयं[३५] संज्ञारूपो[३६] यदृच्छात्मक इति।

'गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः। परमाणुत्वादीनां[३७] तु[३८] गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैला[३९]द्यालम्बनभेदात्।

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यादिरभिन्ना[४०]भिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुला[४१]दिपाकादिष्वेवमेव पाका[४२]दित्वम्। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च[४३] प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु

'[त्थ]'शब्दोच्चारणकाले वा 'डि'शब्द इति। अत एव संहृतक्रमं स्वरूपम्। तत् खलु तां तामभिधाशक्तिमभिव्यञ्जयता वक्त्रा यदृच्छया संज्ञिनि निवेश्यते। तस्माच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां चतुष्ट्वाद् मुख्यः शब्दार्थश्चतुर्विध इत्यन्योक्तेन संवादमाह — गौः शुक्ल इति॥ पारिभाषिकमिति। ततो न जातिशब्दत्वम्। अन्यथा न खलु स्वयं परमाणुर्नाप्यपरमाणुः परमाणुत्वसंबन्धात् तु परमाणुरिति जातिशब्दत्वं स्यात्॥ जातिरेव वेति व्याकुर्वन्नाह — गुणक्रियेति। सर्वेषामपि गुणक्रियायदृच्छाशब्दत्वेन अभिमतानां जातिनिबन्धनत्वम्॥

ननु विभिन्नेषु अभिन्नाकारा बुद्धिर्जातिर्गुणादीनां चैकत्वान्न जातिशब्दत्वमित्याशङ्क्याह — आश्रयभेदादिति। आश्रयाणामनेकत्वाद् आश्रयिणां गुणादीनामप्यनेकत्वम्॥ यथैकस्येति। यथा हि खड्गतैलादीनां प्रतिबिम्बनिबन्धनानां भेदाद् एकमेव मुखं नानाकारत्वेन अवभासते, तथैव शुक्लादिव्यक्तिः शङ्खाद्याश्रयविशेषवशेन नानारूपतयाभिव्यक्तिमासादयतीति गुणशब्दानामपि एकाकारावगतिनिबन्धनत्वाद् जातिरेव एका प्रवृत्तिनिमित्तम्॥ अभिधानं शब्दः प्रत्ययो ज्ञानम्। अभिन्नौ च तौ अभिधानप्रत्ययौ च तयोरुत्पत्तिः॥ पाकादिष्विति। क्रियाशब्देष्वपि गुडतण्डुलादिद्रव्याश्रिता ये पाकादयोऽन्योन्यमन्यत्वेन स्थिताः क्रियाविशेषास्तत्समवेतं सामान्यमस्ति, यद्वशेनायं 'पाकः पाकः' इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययः॥ डित्थादिशब्देष्विति। 'यदृच्छाशब्देषु शुकसारिकामनुष्याद्युदीरितेषु भिन्नेषु समवेतं डित्थशब्दत्वादिकं सामान्यमेव यथायोगं संज्ञिषु अध्यस्तमभिधेयम्। यदि वा उपचयापचययोगितया डित्थादौ संज्ञिनि प्रतिकलं

डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थादित्वमस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये । तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न [४५]दर्शितम् ।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ ८ ॥

स इति साक्षात्संकेतितः । अस्येति शब्दस्य ।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

भिद्यमानेष्वभिद्यमानो यन्महिम्ना डित्थो डित्थ इत्येवमादिरूपत्वेन अभिन्नाकारः प्रत्ययो जायते । तत् तथाभूतं डित्थादिशब्दावसेयवस्तुसमवेतमेव डित्थत्वादि-सामान्यं, तच्च डित्थादिशब्दैरभिधीयत इति गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जाति-शब्दाद् जातिरेवैकः शब्दार्थ इति भट्टाः ॥ तद्वानिति । जातेरर्थक्रियायामनुप-योगाद् विफलः संकेतः, यदाह — ‘ न हि जातिर्दोहपाकादौ उपयुज्यत इति । व्यक्तेस्त्वर्थक्रियाकारित्वेऽपि आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां न संकेतः कर्तुं शक्यत इति जात्युपहिता व्यक्तिः शब्दार्थः ’ इति वैशेषिकाः ॥ अपोह इति । ‘ जाति-व्यक्तितद्योगजातिमद्बुद्ध्याकाराणां शब्दार्थत्वस्य अनुपपद्यमानत्वाद् गवादि-शब्दानामगोव्यावृत्त्यादिरूपः शब्दार्थः’ इति बौद्धाः । अगोत्वनिषेधो हि शब्दार्थो न पुनर्गोत्वविधिरतद्व्यावृत्त्या तु शब्दार्थं स्वीकरोति ॥७॥

शब्दस्य मुख्येन लाक्षणिकेन वा व्यापारेण अर्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यं तावद् अर्थमाह — स मुख्योऽर्थ इति । साक्षात् संकेतितो मुखमिव हस्ताद्य-वयवेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः प्रथमं प्रतीयमानत्वात् । यदुक्तम्—

शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमिष्यते ॥

मुख्यार्थविषयः शब्दोऽपि मुख्यः ॥ तत्रेति । अर्थविषये । समयापेक्षा वाच्या अवगमनशक्तिरभिधा शक्तिः ॥८॥

वाचकस्य शक्तिमुक्त्वा लाक्षणिकस्य लक्ष्यार्थदर्शनद्वारेण व्यापारमाह — मुख्यार्थेति । मुख्यस्यार्थस्य अनुपपत्तेरनुपयोगाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाधे तेन मुख्येनार्थेन सह लक्ष्यस्यार्थस्य योगे संबन्धे सादृश्यादौ सति रूढेः प्रयोजनाद् वातिपवित्रत्वशीलत्वादेरशब्दान्तरवाच्यात् ताद्रूप्यप्रतिपत्त्यादिरूपाद् अमुख्यः शब्दव्यापारो लक्ष्यार्थविषयो लक्षणाशक्तिः ॥ कारिकामेव उदाहरणद्वारेण

कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्यधिकरणत्वासंभवान्मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च संबन्धे रूढितः प्रसिद्धेः, तथा गङ्गातटे घोषः इत्यादेः प्रयोगाद् येषां तथा न प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

व्याकुर्वन्नाह — कर्मणीति । कुशान् लातीति दर्भग्रहणायोगाद् मुख्यार्थबाधे विवेचकत्वादौ संबन्धे प्रसिद्धे प्रसिद्धिवशात् प्रवीणलक्षणो लक्ष्योऽर्थो लक्षणाव्यापारेणावगम्यते । आदिशब्दाद् द्विरेफद्विकादयः । द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगिभ्रमरशब्दे लक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते । यथा वा लावण्यादयो लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थाद् अन्यत्र हृद्यत्वादौ लक्ष्ये रूढाः ॥

'तुरंगकान्ताननहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास ।'

इत्यादौ तु तुरंगकान्ताननहव्यवाहशब्दो वडवामुखाग्नौ लक्षणया प्रयुक्तः । न चासौ तत्र रूढो, वृद्धव्यवहारेष्वननुज्ञातत्वादिति दुष्टत्वम् । सति तु गुप्तार्थप्रतिपादनादिप्रयोजनसद्भावे एवंविधानामपि लक्षणानामदुष्टत्वम् । यद् भट्टकुमारिलः—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते सांप्रतं काश्चिद् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥

'निरूढा' इति भ्रष्टोपचारप्रतीतयः । 'लक्षणा' इति लक्षणाशब्दाः । 'अभिधानवद्' इति वृक्षादिनामशब्दवत् ॥

तथा गङ्गेति । 'गङ्गातटे घोष' इत्युक्ते अपरिमितपावनादीनां न प्रतिपत्तिः ॥ तथेति । अपरिमितत्वेन ॥ अन्योऽर्थ इति । लक्ष्यस्तटादिः ॥ सान्तरार्थनिष्ठ इति । सान्तरः सव्य[व]धानस्तटादिलक्षणोऽर्थस्तदाश्रया क्रिया शब्दव्यापारो लक्षणा । तथा हि गङ्गाशब्दोऽभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणतानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे योऽसौ समीपसमीपिभावात्मकः संबन्धस्तदाश्रयेण तटं लक्षयति । लक्षणायाश्च प्रयोजनं तटस्य गङ्गात्वैकार्थसमवेतासंविज्ञातपदपुण्यत्वादिप्रतिपादनं व्यङ्ग्यम् । न हि तत्पुण्यत्वादिशब्दान्तरैः स्प्रष्टुं शक्यते । तद्योगश्च मुख्यार्थासन्नत्वम् । तत् पञ्चधा आचार्यभट्टमित्रेण उक्तम्—

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ १० ॥

'कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्ता-

अभिधेयेन संबन्धात् सादृश्यात् समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

अभिधेयेन संबन्धाद्, यथा 'गङ्गायां घोषः'। सादृश्याद्, यथा 'गौर्वाहीको गौरेवायम्' इत्यादौ मुख्यस्यार्थस्य सास्नादिमत्त्वादेः प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन बाधेऽभिधेयसादृश्यात् तद्गतगुणसदृशगुणयुक्तमर्थान्तरं वाहीकलक्षणं लक्षयति । प्रयोजनं च ताद्रूप्यप्रतिपत्त्यादि । एते च सारोपायाः साध्यवसानायाश्च गौणलक्षणाया उदाहरणे । समवायः साहचर्यम्, यथा 'कुन्ताः प्रविशन्ती'त्यादौ कुन्तानां प्रवेशस्य असंभवान्मुख्यार्थबाधे साहचर्यात् पुरुषा लक्ष्यन्ते । कुन्तवन्त इति च प्रयोगाद् येषां रौद्रत्वादीनां धर्माणां न तथा प्रतिपत्तिस्तेषां सातिशयानां प्रतिपत्तिश्च प्रयोजनम् । वैपरीत्याद्, भद्रमुख इति। अत्र भद्रमुखशब्दस्य अभद्रमुखे प्रयोगात् स्वार्थबाधः । अतोऽसौ स्ववाच्यभूतभद्रमुखवैपरीत्याद् अभद्रमुखत्वं लक्षणयावगमयति । प्रयोजनं चात्रापि गुप्तासभ्यार्थप्रतीतिः । क्रियायोगात् कार्यकारणयोगाद्, यथा—

पृथुरसि गुणैर्मूर्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं तथा जनकः स्थितेः ।
इति सुचरितैः ख्यातिं बिभ्रच्चिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मांधाता देव त्रिलोकविजय्यपि ॥

अत्र अशत्रुघ्ने शत्रुघ्नशब्दप्रयोगाद् मुख्यार्थबाधः। शत्रुघ्नशब्दश्च अशत्रुघ्ने शत्रुहननक्रियाकर्तृत्वयोगाल्लक्षणया प्रयुक्तः । प्रयोजनं च वर्ण्यमानस्य शत्रुघ्नशब्दाभिधेयनृपतिरूपताप्रतिपादनम् । एवं निरन्तरार्थविषयः शब्दस्य व्यापारोऽभिधा । सान्तरार्थनिष्ठश्च निबन्धनत्रयसमुद्भवो लक्षणा । तेन अभिधैव मुख्येऽर्थे प्रविवृत्सुर्बाधकेन निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वाद् अन्यत्र प्रसरतीत्यभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ॥१०॥

सापि द्विधा, शुद्धत्वाद् उपचारमिश्रत्वाच्च । तत्र शुद्धादिप्रकारा क्वचिदर्थान्तरोपादानेन, क्वचित् तु अर्थान्तरलक्षणेन । किं पुनरुपादानं लक्षणं चेत्याह— स्वसिद्धय इति । स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्य आक्षेप उपादानम् अन्यस्वीकारः ।

दिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनेयं लक्षणा।

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'

इति न्यायात्। इत्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति। न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात् तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्ते-रर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणतासिद्धये गङ्गा-

यत्र तु अर्थान्तरसिद्ध्यत्वेन तटस्य स्वार्थसमर्पणं तत्र लक्षणं स्वार्थसिद्ध्यताया अभावाद् उपादानरूपविपर्यासः॥

जात्या व्यक्तिरिति। गोशब्दव्यापाराद् गोत्वलक्षणा जातिरेवावगम्यते। स एव मुख्योऽर्थः। जातौ तु श्रुतिनोदितमनुबन्धनं न संभवतीति जातिव्यक्त्योस्तादात्म्याद् जात्या स्वाश्रयभूताया व्यक्तेराक्षेपः। न तु शब्देनेति-व्यक्तौ न सव्यवधानः शब्दव्यापार इति न—शब्दव्यापाराद् अवसीयत इति नोपादानलक्षणेयम्॥ यथाऽन्यैर्भट्टमुकुलादिभिरुदाहृता न च क्रमेण द्वयोर्वाच्यता विरम्यव्यापारद्वयाभावादित्यन्योक्तेनाह— 'विशेष्यम्' इमिति। विशेषणे उपाधौ जात्यादिलक्षणे उपक्षीणशक्तिरभिधा समयसहायार्थावगमनशक्तिर्विशेष्यं धर्मिणं व्यक्तिलक्षणं न यायात्। यदि च अविनाभावाद् आक्षेपेऽपि लक्ष्यत्वमिष्यते तदा 'क्रियताम्' इत्यादौ कर्त्रादीनामपि लक्ष्यत्वं स्यात्॥ पीनो देवदत्त इति। अत्रापि नोपादानलक्षणा यथान्यैरुदाहृता॥ श्रुतार्थापत्तेरिति। श्रुताच्छब्दा-दर्थस्य आपतनम्। तेन श्रुतार्थापत्तौ 'रात्रौ भुङ्क्ते' इति शब्दः कल्प्यते॥ अर्थाद् अर्थस्य आपतनम्, अर्थापत्तौ तु रात्रिभोजनमर्थ एव। यथा देवदत्तो गृहे नास्ति। अर्थाद् बहिरस्तीति अभिधेव स्वात्मनि निर्वाहाय शब्दान्तरमर्था-न्तरं वा कर्षयतीति मीमांसकाः॥

शब्दः स्वार्थमर्पयतीत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा । उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रत्वात्। अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् । तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः । गङ्गासंबन्धमात्रप्रतीतौ[५३] तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः ।

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

स्वार्थमिति । स्ववाच्यभूतं स्रोतोविशेषं गङ्गाशब्दाभिधेयम् । अयमभिप्रायः। यत्र शब्दः स्वमर्थं सर्वथा त्यजन्नन्यं लक्षयति तत्र लक्षणेन लक्षणा । यत्र तु स्वार्थमपि वदन्नन्यमर्थमुपादत्ते तत्रोपादानेनेति ॥ उपचारेणेति । यथा गौर्वाहीक इत्यादौ वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, न तथात्रेति भावः ॥ एतदेव द्रढयन्नाह अनयोरिति । तटादीनां लक्ष्याणां प्रतिपादने भेदात्मकं न तटस्थत्वम् ॥ किंतु कुन्तपुरुषयोर्गङ्गातटयोश्च अभेद एवेति यदन्यैस्तटस्थे लक्षणा शुद्धेत्युक्तं तदयुक्तमित्याह — तत्त्वप्रतिपत्तौ हीति । तस्य भावस्तत्त्वमभेदः, तस्य प्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितमशब्दान्तरवाच्यं यदपरिमितं रौद्रत्वादिपावनत्वादि प्रयोजनं तस्य प्रतीतिः । भेदे तु गङ्गासंबन्धमात्रप्रतीतिर्न लक्षणाया विशेषः ॥१०॥

शुद्धां द्विभेदामुक्त्वा उपचारमिश्रां भेदचतुष्टये सारोपामाह — सारोपान्येति ॥ विषयी गवादिर्विषयो वाहीकादिः ॥ यत्रानेति । गौर्वाहीक इत्यादौ आरोप्यमाणो गवादिरारोपविषयश्च वाहीकादिः । तयोर्भेदमपह्नुत्यैवानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्य अधिकस्य आरोप्यमाणत्वात् ॥ सामानाधिकरण्येनेति । समानमधिकरणं ययोः नीलोत्पलादिवद् भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् । इयं चोपमानोपमेयस्वरूपस्य अनपह्नुतत्वाद् वक्ष्यमाणरूपकालंकारस्य बीजम् । यत्र तु आरोपविषयस्य वाहीकादेरध्यारोप्यमाणान्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्र अध्यवसानं सहाध्यवसानेन वर्तते साध्यवसानेत्याह — विषय्यन्तरिति । 'गौरेवायम्' इत्यादौ आरोप्यमाणेन गवादिना निगीर्णतयैव आरोपविषयस्य प्रतीतेः । इयमतिशयोक्ते-

विषयिणारोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णेऽन्यस्मिन्नारोपविषये सति सा साध्यवसाना स्यात् ।

भेदाविमौ च सादृश्यात् संबन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र

बीजम् । यथा—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्याद्
निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि ।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥

अत्र नृपतिबलभराक्रान्तत्वेन समुद्रस्य अकम्पमानस्यापि वितर्कवशाच्चेतनानां मूर्द्धकम्पः प्रायो दृश्यत इति चेतनगतसंशयहेतुकमूर्धकम्पसादृश्यात् कम्पमानत्वमध्यवसितम् । एवं चात्र साध्यवसाना गौणी लक्षणा । इयं च भिन्नयोरपि कम्पयोरभेदेन अध्यवसानाद् भेदेऽपि अभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिः । तन्निबन्धनैव चेति वितर्कान् दधत इवेत्युत्प्रेक्षा । अत्र हि कार्यभूतकम्पदर्शनात् कारणभूतं समुद्रकर्तृकं वितर्कधारणं मिथ्याज्ञानस्वरूपयोत्प्रेक्षयोत्प्रेक्षितम् । अत्रापि वितर्कान् अधारयतोऽपि पयोधेर्वितर्कधारणोपनिबन्धाद् भेदेऽपि अभेद इत्यतिशयोक्तिगर्भीकृता । यद् भामहोत्प्रेक्षालक्षणे—

साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥

या वाच्या सा इवादिभिरुच्यते । प्रतीयमाना तु अर्थसामर्थ्यात् । यावच्च तस्य राज्ञो न भगवद्वासुदेवतारोपिता तावत् कथं तद्व्यापारेषु संशयः स्यात्—इति 'प्राप्तश्रीः 'इत्यादिषु वितर्केषु भगवद्वासुदेवविषयेषु यथायोगं तत्तत्स्वरूपनिराकरणहेतुगर्भतयात्र प्रवर्तमानेषु नृपतेर्भगवद्वासुदेवत्वमाक्षिप्तं, तेनात्र उपादानात्मिका लक्षणा प्रयोजनं च, सर्वत्र भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः । ध्वनिकारस्तु 'ससंदेहोत्प्रेक्षयोः संकरात् संकरालंकारेण वाच्येन वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यत इति रूपकालंकारोऽत्र व्यङ्ग्य' इत्याचष्टे ॥

सारोपसाध्यवसानयोश्च गौणशुद्धभेदाभ्यां प्रत्येकं द्वैविध्यमित्याह— भेदाविमौ चेति ॥ सादृश्यहेतू इति । सादृश्यं हेतुर्ययोः । अयं भावः । यत्रोपमान-

गौरयमित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्तीति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽप्यभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयणेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

उक्तं चान्यत्र—

> अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
> लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥ इति ।

अविनाभावोऽत्र संबन्धमात्रं, न तु नान्तरीयकत्वम्। तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ लक्षणा न स्यात्। अविनाभावे

गतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य उपमेये उपमानशब्द आरोप्यते तौ गौणौ, गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्दवाच्यौ। स्वार्थसहचारिण इति। स्वार्थो गोशब्दस्य गोपिण्डः, परार्थो वाहीकादिः। गोशब्दो वाहीकशब्देन अनुपपद्यमानसमानाधिकरणत्वाद् बाधितमुख्यार्थः सन् स्वाभिधानपुरःसरं स्वसहचारिजाड्यादिगुणांल्लक्षयित्वा तत्सदृशवाहीकगतजाड्यादिगुणलक्षणाद्वारेण गोगुणसदृशगुणोपेते वाहीके उपचरितः, तेनेयमुपचारमिश्रा। लक्षणाद्वयगर्भीकारेण चतुर्थकक्षायां लक्षणेति लक्ष्यमाणगुणमुखेन गोशब्दो वाहीके लक्षणया प्रवर्तत इत्यर्थः॥ न तु परार्थोऽभिधीयत इति। गोशब्देन स्वार्थसहचारिगुणलक्षणापूर्वं तदभेदेन वाहीकगताः स्वसदृशा गुणा एव लक्ष्यन्ते, सव्यवधानशब्दव्यापारात्। न तु वाहीकार्थोऽभिधीयत इत्येकलक्षणागर्भेयं तृतीयकक्षायां लक्षणेत्याहुः– अभिधीयत इति। लक्ष्यते॥ साधारणेति। गोर्वाहीकस्य च साधारणाः सदृशा ये गुणास्तदाश्रयेण वाहीकार्थ एव लक्ष्यः॥ अभिधेयेति। मुख्यादर्थाद् अविनाभूता तत्संबद्धैव यार्थान्तरप्रतीतिः सा लक्षणा शुद्धेत्यर्थः। लक्ष्यमाणैश्च जाड्यादिभिः संबन्धाद् या वृत्तिः सव्यवधानार्थनिष्ठः शब्दव्यापारः सा गौणी॥ नान्तरीयकत्वमिति। न अन्तरं नान्तरम्। अविना तत्रभवं नान्तरीयं, तदेव नान्तरीयकमविनाभावि, येन विना यन्न भवति तन्नान्तरीयकं, तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणं जातिव्यक्त्यादिवत्॥ तत्त्वे हीति। नान्तरीयकत्वेन हि मञ्चपुरुषयोरविनाभावोऽस्ति॥ अविनाभावे चेति। नान्तरीयकत्वे

चाक्षेपेणैव सिद्धे लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

'आयुर्घृतम्, आयुरेवेदम्' इत्यादौ चैवं सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि संबन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणापूर्वमारोपाध्यवसाने । अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम् शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि[१२] । क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः । यथेन्द्रार्था[१३] स्थूणा इन्द्रः । क्वचित् स्वस्वामिभावात् । यथा राजकीयः पुरुषो राजा । क्वचिदवयवावयविभावात् । यथाग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः । क्वचित् तात्कर्म्यात् । यथाऽतक्षा तक्षा ।

लक्षणा तेन षड्विधा ॥१२॥

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ जातिव्यक्त्योस्तादात्म्याज्जात्या व्यक्तेराक्षेपो, न तु लक्ष्यत्वमिति च प्राक् प्रतिपादितम् । सारोपसाध्यवसानौ शुद्धौ, संबन्धविशेषात् । यथा — 'आयुर्घृतम्' इति । अत्र आयुर्लक्षणकार्यकारणभूतस्य घृतस्य स्वरूपेण प्रतिपत्तेरध्यारोपः । 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ तु आयुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतीतेरध्यवसानम् ॥ एवमादौ चेति । आयुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावलक्षणापूर्वकत्वेन आयुष्ट्वं कार्यमुपचरितम् । अत्रापि कार्यकारणभावलक्षणागर्भीकारेण लक्षणा ॥ प्रयोजनवती च लक्षणेत्याह — गौणभेदयोरिति ॥ अन्यवैलक्षण्येनेति । क्षीरादिवैसादृश्येन । यथा घृतमायुःकारणं, न तथा क्षीरादीति । आयुष्ट्वाच्च न व्यभिचरतीति च 'कार्यकारित्वादि प्रयोजनम् । संबन्धाश्च बहवः । यदुक्तमेकशतं षष्ठ्यर्था इत्याह — क्वचित् तादर्थ्यादिति ॥ इन्द्रार्थेति, राजकीय इति, उदाहरणयोः शुद्धा सारोपा उपचर्यमाणेन उपचर्यमाणविषयस्वरूपस्य अनपह्नुतत्वात् ॥ अग्रहस्त इति, अतक्षेत्यनयोश्च शुद्धा साध्यवसाना । सर्वेषु रूढिरेव, न प्रयोजनम् । एवमुपचारमिश्रा चतुर्धा । यदुक्तम्—

> आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः ।
> प्रत्येकं भिद्यमानत्वाद् उपचारश्चतुर्विधः ॥

तेनेत्युपसंहारे ॥ आद्यभेदाभ्यामित्युपादानलक्षणाभ्यां सारोपसाध्यवसानयोश्च गौणशुद्धभेदात् प्रत्येकं द्वैविध्यमिति संकलने षोढा ॥१२॥

आद्यभेदाभ्यां सह ।

सा च व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ।

तच्च गूढमगूढं वा,

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥९॥

मुखमिति । अत्र विकसितशब्देन विकासस्य पुष्पधर्मत्वाद् बाधितव्याकोशात्मकमुख्यार्थेन सच्छायत्वप्रसरणादिसादृश्याद् मुखं लक्षयता हृद्यत्वसुरभित्वादिधर्मसहस्रं व्यङ्ग्यम् । एवं चायमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनिभेदः । अत्र हि वाच्यस्य विकासस्य निःश्वासान्ध इव आदर्श इत्यत्रान्धत्ववत् अनुपपद्यमानत्वाद् अत्यन्ततिरस्कारः । वशितशब्देन निश्चेतने वक्रिमणि असंभवत्पारतन्त्र्यात्मकस्वार्थेन किंकरत्वतन्मुखप्रेक्षित्वादिसादृश्याद् वक्रिमाणं लक्षयता एकान्ततस्तदनुसरणं न कदाचिदप्यन्यत्र सद्भावः। स्वेच्छया यत्रकुत्रचिद् अविचरणमित्यादि ध्वन्यते । समुच्छलितशब्देन अनुपपद्यमानसामस्त्योर्ध्वललनात्मकस्वार्थेन अकस्माद् उत्कल्लोलीभवनसादृश्याद् विभ्रमं लक्षयता प्रौढप्रौढतरत्वबद्धास्पदत्वसर्वजनाभिलषणीयत्वादि व्यङ्ग्यम् । अपास्तशब्देन अमूर्तायां मत्याश्रितमर्यादायामसंभवदपक्षेपणात्मकस्वार्थेन स्वत्वनिवृत्तिसादृश्यात् संस्थां लक्षयता पुनरस्वीकारानवलोकनादि व्यङ्ग्यम् । मुकुलितशब्देन असंभवत्कोरकात्मकस्वार्थेन नवोद्भेदसादृश्यात् स्तनयुग्मं लक्षयता स्पृहणीयत्वरामणीयकास्पदत्वस्मरोद्दीपकत्वादि व्यङ्ग्यम् । उद्धुरशब्देन बाधितधुरोन्मुख्यस्वार्थेन उच्चैस्त्वसादृश्याद् अंसबन्धवज्जघनं लक्षयता उपचितत्वरामणीयकस्मरनिकेतनत्वादि व्यङ्ग्यम् । इन्दुवदनेत्यत्र यदा उपचारस्तदा इन्दुशब्देन बाधितस्वार्थेन पारिमाण्डल्यादिसादृश्याद् वदनं लक्षयता जगज्जीवयितृत्वादि ध्वन्यते । उद्गमशब्देन बाधितोदयात्मकस्वार्थेन अभिनवोद्भेदसादृश्यात् तरुणिमानं लक्षयता स्पृहणीयत्वादि ध्वन्यते । मोदतेशब्देन बाधितहर्षात्मकमुख्यार्थेन

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ॥
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अव्यङ्ग्या, गूढागूढव्यङ्ग्या च ।

तद्भूर्लाक्षणिकः,

शब्द इति संबध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

आर्द्रवितर्दकत्वसादृश्याद् उद्गमं लक्षयता उच्छृङ्खलत्वस्पृहणीयत्वादि ध्वन्यते ॥

उपदिशतीति । यौवनमदस्य अचेतनत्वाद् उपदेशेन असंभवत्स्वार्थेन मर्यादोल्लङ्घनज्ञापकत्वादि सारूप्याद् यौवनमदं लक्षयता शिक्षादानलक्षणं वस्तुव्यङ्ग्यमभिधेयवद् अतिस्फुटतया प्रतीयते । एवं यत्र उत्तानेनैव रूपेण व्यङ्ग्यस्य प्रयोजनस्य अनिगूढता तत्र अगूढत्वं, यत्र तु व्यञ्जकत्वकृतं महत्सौष्ठवमस्ति, अशब्दान्तरवाच्यस्य प्रयोजनस्य निधानवद् गूढतया प्रतीतिस्तत्र गूढत्वम् ॥

अव्यङ्ग्येति । यत्र प्रयोजनं मूलत एव नास्ति, भवति उपचारस्तत्र । यथा कर्मणि कुशलः । लावण्यं आनुलोम्यं प्रातिलोम्यमिति । न यत्र प्रयोजनं किंचिद् उद्दिश्य लक्षणाप्रवृत्तिः 'लावण्णुज्जलङ्गु घरि ढोल्लु पइट्ठा' इत्यादौ तु प्रतीयमानार्थावगतिर्न लावण्यशब्दात् किंतु समस्तवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेवात्र हि प्रियस्यैव समस्ताशाप्रशासकत्वं ध्वन्यते । गूढागूढे व्यङ्ग्ये यस्यां सा तथा ॥१३॥

'साक्षात्संकेतितम्' इत्यादिना वाचकः शब्दः प्रविभक्तस्तस्य यो मुख्योऽर्थस्तेन सह लक्ष्यमाणस्यार्थस्य संबन्धो दृष्ट इति तद्द्वारेण शब्दात् तस्यावगतिरिति मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थभासनशक्तिर्लक्षणा शक्तिः । तदाश्रयं लाक्षणिकं शब्दमाह — तद्भूरिति ॥

ननु, लक्षणाव्यापारादन्यो यः प्रयोजनव्यञ्जनात्मा व्यापारः सोऽपि लक्षणाव्यापार एवास्तु, कथमुक्तं प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेवेत्याह — तत्र व्यापार इति । लक्षणा तावद् अमुख्यार्थविषयो व्यापारः, ध्वननं च प्रयोजनविषयम् ॥

कुत इत्याह—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणाशब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतिपत्तिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः । तथा हि—

नाभिधा समयाभावात्

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः संकेतिताः ।

हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः । तथा च—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥

यस्येति । प्रयोजनभूतस्य फलस्य ॥ समुपास्यत इति । प्रयोजनावगमस्य सुखसंपत्तये हि स शब्दस्तस्मिन्नमुख्येऽर्थे प्रयुज्यते । यदि च सिंहो बटुरिति शौर्यातिशयेऽवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य, तत् तर्हि प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः ॥ 'गम्य' इति ण्यन्तो निर्देशः कर्तव्य इति । गङ्गाशब्दादवगमयितव्ये इत्यर्थः ॥ अन्यत इति । अभिधालक्षणाव्यापारात् ॥ शब्दादिति । गङ्गादेः ॥ अन्यो व्यापार इति । अभिधालक्षणारूपः । तस्मादभिधालक्षणातिरिक्तो ध्वननद्योतनव्यञ्जनादिशब्दव्यपदेश्यस्तृतीयो व्यापारोऽस्ति । व्यापारश्च नाभिधात्मा—इत्याह — नाभिधेति ॥ न चासौ लक्षणैव । हेतुत्रयसंनिधौ हि लक्षणा प्रवर्तत इत्याह—हेत्वभावादिति ॥ १४–१५ ॥

लक्ष्यं न मुख्यमिति । यदि हि लक्षणाव्यापारसमधिगम्यं प्रयोजनमिष्यते तदा लक्ष्यं तटं तावन्मुख्यं न भवति । न च तटस्य प्रत्यक्षादिना मुख्यार्थबाधः । न चापरिमितपुण्यत्वादिभिर्लक्ष्यैः संबन्धः । न च प्रयोजने पावनत्वादौ लक्षयितव्ये प्रयोजनान्तरमस्ति । किंच यत् फलं पावनत्वादिप्रयोजनरूपमुद्दिश्य लक्षणाशब्दप्रयोगः क्रियते तत्र प्रयोजने व्यङ्ग्ये शब्दो न स्खलद्गतिः प्रतिपादयितुमशक्तः । स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो हि व्यापारो लक्षणा । न हि प्रयोजन-

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वद् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् [71]तत्प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र [72]बाधः। न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः संबन्धः। नापि प्रयोजने लक्ष्ये किंचित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

एव[73]मपीति। प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत्प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति [74]प्रकृताप्रतीतिकृदनवस्था भवेत्।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते। गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतिपत्तिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा। तत् किं [75]व्यञ्जनेनेत्याह—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

कुत इत्याह—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।

प्रत्यक्षादेर्हि नीलादिर्विषयः। फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।

मवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। यदि च प्रयोजनेऽवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं स्यात् तत् तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्॥ एतद् वृत्तिकृद् व्याचष्टे—नापि गङ्गाशब्द इति। यथा तटस्य प्रयोजनप्रतिपादनेऽसामर्थ्यं, न तथा गङ्गाशब्दस्य। तस्माद्-ऽभिधालक्षणातिरिक्तस्तच्छक्तिद्वयोपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननात्मा व्यापारः, तेन यत्केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद् व्यसनमात्रम्। तथाभावे च प्रयोजने लक्ष्ये प्रयोजनान्तरान्वेषणेन अनवस्थानाद् अतिव्याप्तिः स्यात्॥१६॥

ततश्च लाभमिच्छतो मूलक्षतिरित्याह—एवमपीति॥ प्रयोजनेनेति। प्रयोजनसहितत्वेन विशिष्टमेव लक्ष्यं लक्षणाया विषय इति किं व्यञ्जनेनेति न वक्तुं शक्यम्। विषयप्रयोजनयोरत्यन्तभेदादित्याह—ज्ञानस्य विषय इति। प्रत्यक्षादेर्हि प्रमाणस्य विषयो घटादिः, फलं तु प्रयोजनरूपम्। प्रकटत्वं भट्टानां मते। संवित्तिः प्रभाकरे। अर्थाधिगतिर्वा नैयायिकादीनाम्॥ तदेवं प्रयोजनविशिष्टं लक्ष्यं लक्षणाया अविषय इति प्रयोजने व्यञ्जनमेव व्यापारः॥

विशिष्टे लक्षणा नैवम्

व्याख्यातम् ।

विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१८॥

लक्षिते तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जनध्वननादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् । अभिधामूलं त्वाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१९॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इत्युक्तदिशा सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते । रामलक्ष्मणाविति दाशरथौ । रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्तवीर्ययोः । स्थाणुं भज भवच्छिद इति हरे । सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे । कुपितो मकरध्वज इति कामे । देवस्य पुरारातेरिति

ननु, एवं 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ काव्यरूपत्वं स्यात्, ध्वननलक्षणस्य आत्मनो भावात् । सत्यम्, गुणालंकारसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्यत्वम् । यथा शरीरस्य विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्यवहारोऽन्यथात्मनो विभुत्वेन भावाद् घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात् ॥१७–१८॥

अवाच्यार्थधीकृदिति व्यङ्ग्यार्थबुद्धिकृत ॥ अञ्जनमिति । व्यञ्जनमेव व्यापारः ॥ सशङ्खेति । अत्र संयोगाद् विप्रयोगाच्च विष्णुरेवोच्यते । यथा वा 'धेनुर्दोग्ध्री दीयताम्' इति धेनुशब्दस्य गवाजादिलक्षणार्थद्वये प्रसिद्धेर्विवक्षितस्य विशेषस्य अप्रतीतौ सवत्सा सवर्करेति नियतेन संसर्गिणो विशेषावगमहेतुना गवादौ दोग्ध्रीविशेषप्रतीतिः ॥ स्थाणुं भजेति । अर्थात् प्रयोजनाच्छम्भौ ॥ सर्वं जानातीति । प्रकरणाद् युष्मदर्थे । प्रकरणमशब्दम्, अर्थस्तु शब्दवानित्यनयोर्भेदः ॥ कुपित इति । लिङ्गाच्चिह्नात् कामे । कोपलक्षणं हि चिह्नं कामस्यैव, न

शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति सांमुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद् देशाद् राजनि। विभावसुर्विभातीति दिने[८४] रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि। मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्। आदिग्रहणात्

एद्दहमेत्तत्थणिया एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहि[८८] दिअएहि ॥११॥

इत्यादावभिनयादयः।

समुद्रस्य, अचेतनत्वात् ॥ देवस्येति। पुरारातेरिति शब्दान्तरसंनिधानाच्छम्भौ ॥ मधुना मत्त इति। सामर्थ्याद् वसन्ते वसन्तस्यैव कोकिलमदजनकत्वात् स एव मधुशब्दवाच्य इत्यर्थः ॥ पात्विति। बहुप्रकारं हि रक्षणम्। तत्र दयितामुखमपेक्ष्य औचित्यात् प्रसादसांमुख्यमेव पालनं नियम्यते ॥ दिन इति। दिवारूपाद् रात्रिरूपाद् वा कालात्। व्यक्तिः स्त्रीपुंनपुंसकानि। सर्वत्र प्रतीतिरिति योगः ॥ स्वरात् त्वर्थविशेषप्रतीतिः काव्यमार्गेऽनुपयोगिनीत्याह इन्द्रशत्रुरिति। 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति। इन्द्रश्चासौ शत्रुश्चेति कर्मधारये 'समासस्य' इति सामान्यसूत्रेणान्तोदात्तत्वम्। इन्द्रः शत्रुर्यस्येति 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इति विशेषसूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे इन्द्रशब्दान्तोदात्तत्वम्। तथा हि यथा—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

अभिनयादय इत्यादिशब्दाद् अपदेशनिर्देशसंज्ञेङ्गिताकारा गृह्यन्ते। अपदेशो यथा—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम् ॥

निर्देशो यथा—

भर्तृदारिके दिष्ट्या वर्धामहे। यदत्रैव कोऽपि कस्यापि तिष्ठतीति मामङ्गुलीविलासेनाख्यातवत्यः ॥

संज्ञा यथा—

अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
वीक्षितेन परिगृह्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा । नियमनात् तस्याः । न लक्षणा । मुख्यार्थबाधाद्यभावात् । अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः ।

यथा—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

इङ्गितं यथा—

कदा नौ संगमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम् ।
अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत् ॥

आकारो यथा—

निवेदितं निःश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न विद्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥

इत्थमिति । इत्थं संयोगाद्यैर्नियमितायामभिधायां यार्थान्तरप्रतीतिः सा व्यञ्जनव्यापारादेवेत्याह—तत्र नाभिधेति ॥

भद्रेति । भद्रः कल्याणप्रकृतिः । भद्रा हस्तिनां विशिष्टजातिश्च । वंशः पृष्ठनाडि[रन्वय]श्च । शिलीमुखाः शरा भ्रमराश्च । परान् वारयति । परः प्रकृष्टो वारणो हस्ती च । दानं त्यागो मदश्च । अत्र राजवर्णनप्रस्तावेन नियन्त्रिताभिधानशक्तयो भद्रादयः शब्दा एकमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव । तदनन्तरं त्वर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात् । अत्र पदसमूह एव शब्दशक्त्या गजवृत्तान्तं ध्वनतीति वस्तुध्वनिः । यदा तु गजस्य नृपतेश्च यत् साम्यं तदत्र ध्वन्यते गजवृत्तान्तस्तूच्यत इति पक्षस्तदा पदैः प्रकरणनियन्त्रितैः पदार्था नृपतिसमुचिता उच्यन्ते । तात्पर्यशक्त्या तु वाक्यार्थः, ततः प्रकरणस्य शब्दशक्त्या श्रुतिरूपया वाक्योपपत्तिसहायया न्यक्करणं जायते । यथा 'वृद्धिरादैच्' इति मङ्गलप्रतिपत्तौ । तेन गजवृत्तान्तोचितपदार्थवाक्यार्थप्रतिपत्तिः । ततो द्वयोर्वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयता, ध्वननव्यापारादित्युपमालंकारध्वनिरयं, वक्ष्यते च

तद्युक्तो व्यञ्जक शब्दः

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

काव्यप्रकाशे शब्दनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ॥२॥

'संबद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसांक्षीत्' इत्यादि । एष लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये वाक्यप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः । यत्र तु शब्दान्तरेणान्येनाभिधायाः प्रतिसवनाद् अभिहितस्वरूपोऽलंकारो न त्वाक्षिप्तस्तत्र वाच्यालंकारव्यवहार एव, न शब्दशक्तिमूलो ध्वनिः ॥

यथा—

दृष्ट्या केशवगोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

'हे केशव, गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किंचिद् दृष्टं मया, तेनैव कारणेन मार्गे स्खलितास्मि'–इत्येवंविधेऽर्थे यद्यप्येते प्रकरणेन नियताभिधानशक्तयः शब्दास्तथापि सा द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धापि सती 'सलेशम्' इत्यनेन शब्देन प्रत्युज्जीविता । 'सलेशं' समूचनमित्यर्थः । अल्पीभावनं हि सूचनमेव । "हे केशव, गोपस्वामिन्, रागहृतया दृष्ट्या, केशवगेन गो [? उ] परागेण हृतयेति वा स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जाता । 'पतिताम' इति भर्तृभावं मां प्रति 'एकः' इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव, यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसां ईर्ष्याकालुष्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गतिर्जीवितरक्षोपायः" इत्यर्थः । अत्र श्लेषालंकारः । सलेश-पदेनैव असंबद्धतापि निरस्ता ॥१९॥

सहकारितयेति । यद्यपि अविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथापि अर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् ॥२०॥

इति भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते द्वितीय उल्लासः॥२॥

[तृतीय उल्लासः]

अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्

अर्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः । तेषां वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानाम् । अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

कीदृशीत्याह—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः ॥२१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् । अर्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनः । क्रमेणोदाहरणानि—

अयिपिहुलं जलकुम्भं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरियम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसंमामि खणम् ॥१३॥

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते ।

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मह मन्दभायिणीये केरं सहि तुहवि अहह परिहवइ ॥१४॥

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

अर्थव्यञ्जकतेति । अर्थो व्यञ्जको यदि निरपेक्षस्तत्सर्वदा तमर्थमवगमयेत् । अथ सापेक्षः किं तस्यापेक्षणीयमित्याह—वक्तृबोद्धव्येति । यः परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता । साकाङ्क्षाणां पदानां समूहो वाक्यम् । शब्देन द्विविधं मुख्यं लाक्षणिकं वाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद् गोचरीक्रियते तद् वाच्यम् ॥

अइपिहुलमिति । काचिद् अविनीतवधूः कृतपरपुरुषसंभोगा गात्रगतविकारविशेषापह्नवेनाभिधत्ते । तस्याश्च असाध्वीत्वे अवगते तृतीयस्य तटस्थस्य प्रतिभाजुषो व्यङ्ग्यप्रतीतिः ॥

सहि तुहवीति । द्वितीयार्थे षष्ठी । त्वामपीत्यर्थः । 'ककि लौल्ये' इत्यस्य धातोः 'काकु' शब्दः प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छति—इति लौल्यमस्याभिधीयते । यद्वा, ईषदर्थे 'कु' शब्दस्य कादेशः । तेन हृदयस्थवस्तु-

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः, कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् । प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः ।

तइआ मह गण्डत्थलणिमियं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
इंण्हिं सच्चेयं अहं ते अ कउलौ ण सा दिट्ठी ॥१६॥

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायां तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं त इति व्यज्यते ।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ॥
किं चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥१७॥

प्रतीतेरीषद्भूमिः काकुस्तद्वैशिष्ट्याद् यथा — 'तथाभूताम्' इति । कौरवैर्युधिष्ठिरं प्रति प्रधानाः प्रेषिताः, ततस्तेन सहदेवे 'संप्रति सन्धिः कर्तुं युक्तः' इति भीमं प्रति प्रेषिते भीमस्येयं सकाकूक्तिः ॥

ननु, 'तथाभूतां दृष्ट्वा' इत्यादि वाच्यस्य सिद्धौ काकुः स्वरविशेषोऽङ्गकारणमिति वाच्यसिद्ध्यङ्गलक्षणो गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदः कथं न भवतीत्याशङ्क्याह — न च वाच्येति । 'हे सहदेव कुरुषु किं न खेदो गुरोर्यन्मयि खेदः' इत्येवंरूपेण प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तत्वात् । काकोस्तु यद् वैशिष्ट्यं तत्पर्यालोचनया सहृदयस्य व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः ॥ वाक्यविशेषाद् यथा — तइए ति । तदा मम गण्डस्थलनिमितां निक्षिप्तां नानैषीरन्यत्र, इदानीं च सैवाहं, तौ च कपोलौ ॥ प्रच्छन्नकामुकत्वमिति । वाक्योपात्तपदसमन्वयान्यथानुपपत्तेर्वाक्यपर्यालोचनयावसीयते। वाच्यविशेषाद् यथा — 'उद्देशः' इति । न ह्यत्र वक्तृस्वभावपरिशीलनस्योपयोगः, नापि वाक्ये पदानां व्यङ्ग्यमन्तरेण अन्वयानुप[प]त्तिः,

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ णवर होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥

अत्र संध्या संकेतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेय किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥१९॥

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति निवार्यते ।

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वया विसर्ज्य इत्याश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मन्दभायिणि अहअम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं च्चेअ सुणसि करणिज्जम् ॥२१॥

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदहं तावन्न भवामि, तव तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते । आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समापादितम् ।

किंतु वाच्यविशेषस्वरूपविचारेण 'रतार्थं प्रविश' इति व्यज्यते ॥ अन्यसंनिधियथा—'णोल्ले[इ]'ति । प्रेरयति अनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे ॥ सकले क्षणमात्रं यथा—'संध्यायां केवलं भवति न वा भवति विश्रमः । अत्र प्रच्छन्नकामुके क्वापि देशे सांनिध्यभाजि सति सखीं प्रति स्वैरिणीं गाथां पठन्तीं दृष्ट्वा चतुर्थः सहृदयो व्यङ्ग्यमर्थं प्रतिपद्यते । यद्यपि संध्यायामवसरो भवत्येवेति विवक्षितं, तथापि तदुच्यमानं परस्य लक्षणीयं भवतीति तथा नोक्तम् ॥ प्रस्तावविशेषाद् यथा—'सुव्वइ' इति ॥ देशविशेषाद् यथा—'अन्यत्र' इति ॥ 'उद्देशोऽयम्' इत्यादिवृत्ते समस्तस्यापि वाच्यस्य वैशिष्ट्यम्, इह तु देशस्यैवेति भेदः ॥ आश्वस्तां प्रतीति । यथा सह संकेतो मिलितस्तां प्रतीत्यर्थः ॥ द्वारोपान्तेति । मयीति ।

आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लते ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते । निराकाङ्क्षप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया पुनरुदाह्रियते ।

वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन क्रमेण ल[illegible]-ङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् । द्विकभेदे वक्तृबोद्धव्ययोगे यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअंधिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥२३॥

प्रच्छन्नकामुके ॥ प्रोल्लास्येति । भरतोक्तोऽयं कश्चिद्भावः ॥ परस्परेति । लज्जालुताप्रकटकोऽयं भावः । अनुरागे हि सति लज्जा भवतीति ॥

ननु द्वितीयोल्लासेऽपि वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यानामर्थानां व्यञ्जकत्वमुदाहृतं, तत् किं पुनरुक्तमित्याशङ्क्याह—निराकाङ्क्षेति । वक्तृबोद्धव्येत्यादि । क्रमेणोदाहृते निराकाङ्क्षाप्रतिपत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ मिथः संयोग इति । तत्र वक्तृबोद्धव्ययोगे यथा—अत्ता इत्थ नु मज्ज इति । अत्तेति श्वश्रूरसहिष्णुः, न तु माता । तेन गुप्तमभिलाषः पोषणीयः ॥ न च सर्वदा भयदेत्याह—अत्रेति । दूरे सा च शेते न जागर्ति । अत्र त्वन्मार्गनिकटेऽहमुपभोगयोग्या । सांप्रतं विघ्नकारीति कुत्सितं दिवसम् । प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः । तस्मात् संप्रति विलोकय । अन्योन्यवदनविलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः । रात्रावधिकमदनोद्रेकादन्धशय्याविभागानभिज्ञशय्यायां मा शयिष्ठा, अपि तु प्रहरचतुष्टयमपि निधुवनेन क्रीडा[व इत्यर्थः ॥] मह इति । निपात आवयोरित्यत्रार्थे न तु ममेति ॥ एवं हि विशेषवचनमेवाशङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नोऽभ्युपगमो न स्यात् । ततश्च व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमेव स्यात् । अत्र निषेधे वाच्ये वक्तृबोद्धव्यपर्यालोचनया शेष्वेति विधिरूपव्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः । एवं द्विकयोगान्तरे त्रिकादियोगे च स्वयमूह्यम् । एषु वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहृतम् ॥ अनेनेति । वक्त्रादिक्रमेण ॥ लक्ष्यव्यङ्ग्ययोरिति । ‘ साहिंती सही ’ इत्यादि वक्तृवैशिष्ट्याद् उदाहृतम् ॥२२–२२॥

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि[३९] प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो[४०] व्यञ्जकः ।

काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम
तृतीयोल्लासः ॥३॥

सहकारितेति । विवक्षितान्यपरवाच्येऽर्थशक्तिमूले शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्य अव्यञ्जकत्वात् । ततः शब्दार्थयोरुभयोरपि व्यञ्जकत्वं, केवलमर्थस्यात्र मुख्यत्वम् ॥ नहीति । ध्वननं हि शब्दस्यैव व्यापारः ॥२३॥

इति भट्टश्रीसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते
तृतीय उल्लासः ॥

[चतुर्थ उल्लासः]

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालंकाराणां स्वरूपमभिधानीयं तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

'तददोषौ शब्दार्थौ' इत्युक्तं, तत्र 'साक्षात्संकेतितम्' इत्यादिना शब्दार्थयोर्निर्णयः कृत इत्याह—यद्यपीति ॥ काव्यभेदानिति। अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनव्यापारः, यतो भामहोद्भटादयोऽप्यलंकारकारा व्यङ्ग्यमर्थं वाच्योपस्कारितयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथा हि पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्यसंस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः, परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः। रुद्रटेनापि भावालंकारो द्विधैवोक्तः। पर्यायोक्तादौ वस्तु रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादौ उपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारत्वेनोक्तः। रसवत्प्रेयस्विप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा च स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। तदित्थं वस्त्वलंकाररसादिरूपं त्रिविधमपि व्यङ्ग्यमभ्युपगतमेव केवलमलंकारकारित्वाद् वाच्यालंकारविशेषविषयत्वेनालंकारतया ख्यापितम्। गुणालंकाराणां चोद्भटादिभिः प्रायः साम्यमेव सूचितम्। संघटनाधर्मा गुणाः, शब्दार्थधर्मा अलंकारा इति विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। वामनेनापि सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः; केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इत्युक्तम्। वक्रोक्तिजीवितकारेणापि सत्यपि त्रिविधे व्यङ्ग्ये व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचर इति अभिधाप्रकारविशेषा एवालंकारा इति व्यापारप्राधान्यं काव्यस्येति चोक्तवता उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एव, केवलं वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावा वक्रोक्तिरेव प्राधान्यात् काव्यस्य जीवितं, न व्यङ्ग्यार्थः। भट्टनायकेन तु व्यञ्जनव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्येऽशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मैव भोगापरपर्यायो व्यापारो विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः। ध्वनिकारस्तु अभिधालक्षणातात्पर्याख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्क्रियमाणस्य विश्रान्तिस्था-

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्यविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनावित्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम् ॥ यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमादाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥ २४ ॥

अत्र वचनाद्युपदेशादिरूपतया परिणमति ।

नतया प्राधान्यादात्मत्वं साधितवान् । एष एव च पक्षः सहृदयानामावर्जकः । यत् तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिलिङ्गतया लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानमिति व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य व्यङ्ग्येन तादात्म्यतदुत्पन्नभावाद् अयुक्तम् ॥ एवं व्यञ्जनाव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात् प्रकारान्तरस्य चाप्रतिष्ठानात्, तस्य च व्यङ्ग्यमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भः, व्यङ्ग्यस्य च प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यौ काव्यभेदौ । तत्रोत्तमो ध्वनिस्तस्य लक्षणाभिधामूलत्वेन अविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्याख्यौ द्वौ भेदौ । तत्र लक्षणामूलोऽविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विभेद इत्याह -अविवक्षितवाच्य इति । अविवक्षितवाच्यो यो ध्वनिभेदः, तत्र वाच्यं ध्वनौ भवेत् । वाच्यं ध्वनिः । ध्वनतीति कर्तृव्युत्पत्तेः, व्यञ्जकोऽर्थो ध्वनिरित्यर्थः । अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतलक्षणेन वाच्यस्य व्यञ्जकस्य वैचित्र्येण व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः । व्यञ्जकवैचित्र्याद् वियुक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यम् ॥ संक्रमितमिति । णिचा सहकारियुतेन व्यञ्जनव्यापारेणेति योगः । येन वाच्येनाविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्व्यपदिश्यते तद् वाच्यं द्विधेति संबन्धः ॥ तत्रेति । प्रकारद्वये योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद् धर्मान्तरसंवलतयाऽन्यतामिव गतोऽपि लक्ष्यमाणः, स रूपान्तरपरिणतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो, वाक्ये यथा–'त्वामस्मि' इति । अत्रानुपयोगात्मिका मुख्यार्थबाधास्ति–इति लक्षणामूलत्वम् । शुद्धस्य चार्थस्याविविवक्षितत्वाद् अविवक्षितवाच्यत्वं, न च तिरस्कृतत्वं, धर्मिरूपेण तस्यापि तावत्यनुगमात् ॥ अत एव परिणत इत्युक्तया व्यवहृतं–वचनादीति । अनुपयुज्यमानार्थ उपदेशादि लक्षयत् व्यङ्ग्यं प्रयोजनरूपमन्यशब्दावाच्यं धर्मान्तरं व्यनक्ति । न हि वचनमात्रमेव, किं तु आप्ततयोपदेशं ते यच्छामीत्युपदेशो वाक्यार्थः परिणमितः ॥

क्वचिदनुपपद्यमानतयात्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥२५॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद् वक्ति ।

विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च—

कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २५ ॥

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसोऽपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः । स तु न लक्ष्यते ।

तत्र—

क्वचित्पुनरिति । अनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव योऽर्थः स तिरस्कृतः ॥ उपकृतमिति । इदं हि वाक्यमसंभवत्स्वार्थमित्यविवक्षितवाच्यं सद् वैपरीत्यादनुपकारं लक्षयद् अपकारकृताप्राशस्त्यं ध्वनति । एवं यत्रार्थस्य अनुपयोगस्तत्रार्थान्तरसंक्रमितत्वं, यत्र तु अनुपपत्तिस्तत्रात्यन्ततिरस्कृतत्वम् ॥२४॥

अविवक्षितवाच्यं लक्षणामूले द्विभेदमुक्त्वाभिधामूलं विवक्षितान्यपरवाच्यं ध्वनिभेदं द्विप्रकारमाह—विवक्षितं चेति ॥ वाच्यमिति अभिधेयम् ॥ स इति । विवक्षितान्यपरवाच्यो ध्वनिः ॥ एष चेति । ध्वनिरलक्ष्यक्रमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतया द्विधेत्याह—कोऽपीति । न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृशं व्यङ्ग्यं यत्रेति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः । सोऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिः । अलक्ष्यक्रमत्वाच्च लक्षणासमुन्मेषमात्रमप्यत्र नास्ति ॥

ननु, क्रमः कश्चिदस्त्येव, यतो न हि विभावानुभावव्यभिचारिणः स्वरूपेण रसाः, किं तु विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति, तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात् क्रमोऽवश्यंभावीत्याह—न खल्विति ॥ तत्कथमलक्ष्यक्रमत्वमित्याह— स तु न लक्ष्यत इति । सन्नपि क्रम उत्पलदलसूचीवेधन्यायेन लाघवान्न प्रकाशते । एतदुक्तं भवति । संघटनाव्यङ्ग्यत्वाद् रसादीनां अनुपयुक्तेऽप्यर्थविज्ञाने उचितसंघटनाश्रवणसमये एव रसास्वादः ॥२५॥

तत्रेति । तयोर्मध्याद् रसादिरर्थोऽक्रमः । ध्वनेरक्रमो नाम भेदः । न विद्यते क्रमो यत्रालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इत्यर्थः । रसादिरर्थो हि वाच्येनार्थेन

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥

आदिग्रहणाद् भावोदयभावसंधिभावशबलत्वानि । प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालंकार्यः । यथोदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वत्समाहितादयोऽलंकाराः । ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधान उदाहरिष्यन्ते ।

तत्र रसस्वभावमाह—

विभावादिना सहेवावभासते ॥

किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः ? । नेत्याह— भिन्न इति । रसादेः प्राधान्येनालंकार्यत्वाद् अलंकाराश्च तदुपस्कारकाः, अत एव रसादिरेव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितम् ॥ रसाद्यलंकारादिति । रसवदाद्यलंकाराद् भिन्नः पृथग्भूतो रसादिरङ्गिभावेन स्थितो व्यवस्थितः । रसो वक्ष्यमाणः । भावा रत्यादयो निर्वेदादयश्च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः, तदाभासा रसाभासभावाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः । रसस्य च परविश्रान्तिरूपत्वात् शान्तिर्न संभवतीति भावस्यैव शान्तिः प्रशाम्यदवस्था । स च रसादिरङ्गिभावेन स्थितो यस्मिन् काव्ये शब्दार्थालंकारैर्गुणैश्च रसादिनिष्ठैरेवोपक्रियते तत्र रसादिध्वनिरक्रम इत्याह— प्रधानतयेति । तस्माद् रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति स्थितम् । यथोदाहरिष्यते 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादौ ॥ यत्र तु वाक्यार्थस्य प्राधान्यमङ्गिभावो रसादिश्चाङ्गभूतोऽप्रधानः, तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवदाद्यलंकारस्य विषय इत्याह— अन्यत्र त्विति । यस्मिन् काव्ये रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थस्तत्र रसवदादयः । स एवालंकारशब्दवाच्यो योऽङ्गभूतो, न त्वन्य इति यावत् । तदुक्तम्—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥

एवं च ध्वनेरुपमादीनां रसवदादीनां चालंकाराणां विभक्तत्वं भवति । यद्यपि रसेनैव जीवति काव्यं, तथापि यदा कश्चिद् रत्यादिर्व्यभिचारी चोद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्न एकघनचमत्कारातिशये प्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः ॥ २६ ॥

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

उक्तं हि भरतेन—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस-"निष्पत्तिरिति । एतद् विवृण्वते–विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः स्थायी रत्यादिको भावो जनितोऽनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः" व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि" प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः ।

कारणानीति । रत्यादेश्चित्तवृत्तिविशेषस्य स्थायिनो लोके यानि कारणकार्यसहकारिशब्दव्यपदेश्यानि, तान्येव नाट्ये काव्ये चेत् तदा विभावानुभावव्यभिचारिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । तैश्च व्यक्तः सामाजिनां वासनात्मतया स्थितः साधारण्येन चर्वणात्मकप्रतीतिगोचरः स्वसंवेदनसिद्धः स्थायी रत्यादिको भावो रसनाव्यापारविषयो रसः ॥ एतदिति । मुनिसूत्रम् ॥ विभावैरिति । विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते वागाद्यभिनयसहिताः स्थायिव्यभिचारिलक्षणाश्चित्तवृत्तयो यैः । यन्मुनिः—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयात्मकाः ।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥

स च स्थाय्यात्मकरत्यादेरुत्पत्तौ कारणं, ललनादिकमर्थमालम्ब्य रत्यादीनामुत्पत्तेः । ललना आलम्बनकारणं, उद्यानवसन्तेन्द्वादि तूद्दीपनकारणम् ॥ अनुभावैरिति । सामाजिकः स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषमनुभवन्ननुभाव्यते साक्षात्कार्यते यैः ।

वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभाव इति स्मृतः ॥

व्यभिचारिभिरिति । विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरणशीलैस्तैः उपचित इति । तेनानुपचितावस्थः स्थायी भावो, विभावादिभिरुपचितावस्थस्तु रसः । स चोभयोरपि नटव्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते, किंतु अनुकार्याभिमतं नर्तकम् । आस्वादयिता तु सामाजिक इत्याह – नर्तकेऽपीति । तेनानुभावैः प्रतीतिपदं

राम एवायमयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधके रामोऽयमिति, रामः स्याद् वा न वायमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे–

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥२६॥

इति,

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥२७॥

नीतो व्यभिचारिभिरुपचितो मुख्यवृत्त्यानुकरणीये रामे रामादिरूपतानुसंधानबलाद् अनुकर्तर्यपि नटे प्रतीयमान इति भावः । किं तु प्रागवस्थाभावः स्थायी, रसीभवति तु क्रमेणोपचित इत्युक्तं, तत्रापि विपर्ययो दृश्यते, यत इष्टजनवियोगाद् विभावादुत्पन्नो महान् शोकः क्रमेणोपशाम्यति, न तु दार्ढ्यमुपैति । क्रोधोत्साहरतीनां च निजनिजकारणबलाद् उद्भूतानामपि कालवशादमर्षस्थैर्यसेवाविपर्ययेऽपचयो दृश्यते । तस्मान्नैव भावपूर्वकत्वं रसस्य, अपि तु तद्विपर्यय एवेति लोल्लटादिव्याख्या निरस्ता ॥

ततोऽन्यथा शङ्कुको व्याचचक्षे । 'राम एवायम् , अयमेव रामः' इति सम्यक्प्रतीतिः । नह्यत्र 'नर्तक एव सुखी' इति प्रतिपत्तिः । 'न रामोऽयम्' इति पर्यालोचनया बाधके 'रामोऽयम्' इति मिथ्याप्रतीतिः । 'रामो वा न वा' इत्युभयकोट्यवलम्बिसंशयप्रतीतिः । 'रामसदृशोऽयम्' इति सादृश्यप्रतीतिः । ताभ्यो विलक्षणया प्रतिपत्त्या चित्रतुरगादिन्यायेन न हि चित्रतुरगादौ एताः प्रतीतयः । तद्वद् 'यः सुखी रामोऽसावयम्' इति ग्राह्ये नटे प्रतीतिरस्ति । उक्तं च—

प्रतिभाति न संदेहो न तत्त्वं न विपर्ययः ।
धीर् 'असावयम्' इत्यस्ति 'नासा एवायम्' इत्यपि ॥
विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितविप्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥

विरुद्धा संदेहाद्यात्मिका, अविवेचितेति असंवेदितानेकरूपताप्रतिभासः ॥

'सेयं ममाङ्गेषु' इति । 'अविरलविलोल' इति । **काव्यानुसंधानबलाद् आलम्बनोद्दीपन-**

इत्यादिकाव्यानुसंधानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपादनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः ।

विभावैः, शिक्षाभ्यासाद् अनुभावैः सात्त्विकवाचिकाङ्गिकाहार्याभिनयरूपैस्तथाभ्यासनिर्वर्तितं यत् स्वकार्यं कृत्रिमनिजानुभावार्जनं, तत्प्रकटनेन च व्यभिचारिभिः प्रकाशितैः कृत्रिमैः प्रयत्नार्जिततया ॥ तथेति । कृत्रिमत्वेन ॥ गम्यगमकेति । वह्नेः शीतनिवृत्तिरनुमीयते इति । कारणस्यापि गमकत्वम् । एवं विभावादेरपि गमकत्वमिति रसो वस्तुसुन्दरत्वाद् अनुमीयते, न च अनुमितमात्रतयैव स्थित इत्याह – रसनीयत्वेनेति । रसनाव्यापारगोचरत्वेन कषायफलचर्वणपरपुरुषदर्शनप्रभवमुखप्रसेककलनारूपेण हेतुना अन्यानुमेयविसदृशः स्थाय्यनुकर्तृस्थत्वेन विभावादिभिः प्रत्याय्यमानः ॥ तत्रासन्नपीति । नटेऽत्यन्ताविद्यमानोऽपि ॥ चर्व्यमाण इति । सामाजिकजनास्वाद्यमानो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस्यमानत्वाद् रसः । विभावा हि काव्यबलाद् अनुसंधेयाः, स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसंधातुं शक्यः । रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्ति अभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयरूपतयावगमयन्ति । नहि वागेव वाचिकम्, अपि तु तया निर्वृत्तमङ्गैरिवाङ्गिकम् । तेन—

विवृद्धात्माप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।
वाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते ॥

इत्यादौ न शोकोऽभिनेयः, अपि तु अभिधेयः ॥

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ॥

—इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायिभावोऽभिनीयते, न तु उच्यते । अवगमनाशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वाद् अन्या । ततः काव्यबलादपि स्थायी नावगन्तुं शक्यः । अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि मुनिना नोपात्तम् । स्थायिना रसनिष्पत्तिरिति स्थाय्येव

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभि-

रसीभवतीति वेत्त्येवंरूपतया। ततः प्राक् कथमपि न स्थायी प्रतीयते, विभावादियोग एव ह्यनुकरणरूपः स प्रतीयते। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इत्यर्थः॥ इदमपि न क्षोदक्षममिति भट्टतोतः॥ तथा हि, अनुकरणरूपो रस इत्युक्तं न च तद् युक्तम्, यतः किंचिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमित्युच्यते, यथैव 'असौ सुरां पिबति' इति सुरापानानुकरणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति। इह च नरगतं किं तदुपलब्धं सद् रत्यनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि रोमाञ्चगद्गदिकादि भुजाक्षेपवलनप्रभृति भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्तिरूपाया अनुकारत्वेन कस्यचित् प्रतिभाति जडत्वेन भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन भिन्नाधिकरणत्वेन च ततो वैलक्षण्यात्। मुख्यावलोकने च तदनुकरणप्रतिभासः न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। यच्चोक्तम्—'रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिस्तदपि यदि तदात्वे निश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात्, बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम्। वास्तवेन च वृत्तेन बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्ध्यसंभेदाद्' इत्यसत्॥ नर्तकान्तरेऽपि च 'रामोऽयम्' इति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यमित्यायातम्। यच्चोक्तम्—'विभावाः काव्याद् अनुसंधीयन्ते' तदपि न विद्मः। न हि 'ममेयं सीता काचिद्' इति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य। तस्मात् सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इति शङ्कुकोक्तमपि निरस्तम्॥ न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति 'स्थाय्यनुकरणं रसा' इत्यलम्॥ प्रतीतिपक्षे कक्षीक्रियमाणे सा प्रतीतिः परगता स्वगता वेति दूषयन्नाह—न ताटस्थ्येनेति। रसो यदि परगततया प्रतीयेत तत् ताटस्थ्यमेव स्यात्, न च स्वगतत्वेन प्रतीयते। रामादिचरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। ततः करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता सीतायाः सामाजिकं प्रति, अविभावत्वात्। न च कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुर्विभावतायां प्रयोजकं, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। ये च रामादीनां समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न च तत्त्वतो रामः स्मर्यतेऽननुभूतत्वात्। यदि च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतिरिष्यते तदा न लोकस्य रसोपजननः प्रत्यक्षादिव। नायकमिथुनप्रतिपत्तौ हि लज्जाजुगुप्सास्पृहा-

व्यज्यतेऽपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः ।

दिस्वोचितचित्तवृत्त्युदयव्यग्रतया का सरसत्वकथापि स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ॥ एतदेवोत्पत्तावपि दूषणम् । ततो नोत्पत्तिरपि ॥ नाभिव्यज्यत इति । शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्य पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात् । तत्रापि च किं स्वगतोऽभिव्यज्यते परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः, इत्याह — अपि तु काव्य इति । दोषाभावगुणालंकारमये ॥ नाट्य इति । चतुर्विधाभिनयरूपे ॥ अभिधात इति । अयमर्थः । काव्यात्मनः शब्दस्याभिधाभावनाभोगीकृतिरूपास्त्रयोंऽशाः । तत्र अभिधायकत्वं वाच्यविषयं, भावकत्वं रसादिविषयं, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः । तत्राभिधायोगो यदि शुद्धः स्यात्, तत् तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलंकाराणां को भेदः । वृत्तिवैचित्र्यं श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च अकिंचित्करम् । तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारो, यद्वशाद् अभिधापि विलक्षणा । स च विभावादीनां साधारणीकरणत्वहेतुः, तेन च भावितो रसो भोगेनानुभवस्मृतिविलक्षणेन सत्त्वोद्रेकात् प्रकाशो यस्यानन्दस्य तन्मयी या संविद्विश्रान्तिश्चित्स्वभावनिर्वृतिविश्रमः सैव सतत्त्वं परमार्थो यस्य तेन परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारिणेति यावत् ॥ स एवाह—

अभिधाभावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च ।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः ॥

ततोंऽशत्रयमध्यात्—

भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः ।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः ॥

किं तु कोऽयं भोगः प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तः संसारे, रसनेति चेत्, सापि प्रतीतिरेवेति भोगीकरणव्यापारः काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किंचित्, केवलं नामान्तरम् । निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वाऽसन् वा रसः स्याद् न तृतीया गतिः । न चाप्रतीतं वस्त्वस्तिताव्यवहारयोग्यम् । भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वक्ष्यते । किं तदपूर्वम् ॥३॥

लोके प्रमदादिभिः कारणादिभिः[21] स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण[22] विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैते[23] न शत्रोरेते[24] न तटस्थस्यैते[25] इति संबन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्[26][27] साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमित-

---

प्रमदादिभिरिति । आदि–शब्दात् कटाक्ष–भुजाक्षेपादिभिर्निर्वेदादिभिश्च व्यभिचारिभिः कारणादिभिरिति कारणकार्यसहकारिरूपैर्लिङ्गभूतैर्लौकिकी या चित्तवृत्तिस्तदनुमानेऽभ्यासवतां नाट्येऽपि तैरेव प्रमदादिभिर्विभावादिव्यपदेश्यैः स्थायी रत्यादिरभिव्यक्तः। काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्त्यादिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसनावार्ता यन्मुनिः काव्यार्थान् भावयतीति भावः। अस्यार्थः। पदार्थवाक्यार्थौ रसेष्वेव पर्यवस्यत इत्यसाधारण्यात् प्राधान्याच्च काव्यस्यार्था रसाः । अर्थ्यन्ते प्राधान्येनेत्यर्थाः । न तु अर्थशब्दोऽभिधेयवाची रसादीनां स्वशब्दानभिधेयत्वात् ॥ वासनात्मतयेति । एकघनताप्रतीत्या सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात् ॥ साधारणोपायबलादिति । 'नटी विदूषको वापि' इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरःसरप्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः, अलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डपगतकक्ष्यापरिग्रहनाट्यधर्मी सहितस्तस्मिन् हि सत्यस्यैवात्रैवैतद्वैव च सुखं दुःखं चेति न भवति प्रतीतिः, स्वरूपस्य निह्नवाद् रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासविश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात् सत्यतदीयरूपनिह्नवमात्र एव पर्यवसनात् । एष साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन मुनिना परिकरः श्रितः ॥ अपरिमितभावेन प्रमात्रेति । सर्वप्रमातॄणां यो रसनीयः सर्वप्रमातृतावलम्बनेनैव रस्यते, अत एव नाटकमण्डपान्तःप्रविष्टाः सर्वे हृदयसंवादभाजो भवन्तीत्युच्यते । तथा निजसुखादिविवशश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रमयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलयोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैरातोद्यगानविचित्रमण्डपविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं श्रितं,

भावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्हृदयमिव प्रविशन्सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्नन्यत् सर्वमिव तिरोदधद्ब्रह्मानन्दास्वाददमिवानुभावयन्नलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

स च न कार्यः । विभावादिविनाशेऽपि तस्य[३०] संभवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः । सिद्धस्य तस्या[३१]भावात् । अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः । कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेद्— न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिक[३२]त्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिक-

---

येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते ॥ चर्व्यमाणैकप्राण इति । चर्व्यमाणैकसारो, न तु सिद्धस्वभावो, न च चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, अत एव विभावादिजीवितावधिः । तदस्त्यास्वादात्मा प्रतीतिर्यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपरूपेति । संक्षेपश्चायं—मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते, गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति । तत एवोभयदेशकालत्यागः । रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टा नटे देशकालानियमेन रतिं गमयन्ति, यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्टोऽत एव न तटस्थतया रत्यवगमः । न च नियतकारणतया येनार्जनाभिष्वङ्गादिसंभावना, न च नियतपरात्मैकगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयः, तेन साधारणीभूता संतानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरीभूता रतिः शृङ्गारः । साधारणीभावना च विभावादिभिः ॥ न कार्य इति । विभावादयो न रसनिष्पत्तिहेतवस्तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गाद्, नापि ज्ञप्तिहेतवः प्रमेयभूतस्य कस्यचित् सिद्धस्य रसस्याभावात् ॥ अलौकिकत्वसिद्धेरिति । अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः । स एव च भूषणं, पानकरसास्वादोऽपि किं द्राक्षामरिचादिषु दृष्ट इति तत्समानोऽयम् ॥

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात् । एवमेतत् । रस्यैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः । तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेयं रसस्य, अपि तु तद्विषयाया रसनायाः । तन्निष्पत्त्या तु तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुपचर्यत इत्याह—

प्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालि[३३] मितयोगिज्ञानवेद्य[३४]संस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्य[३५]भिधीयताम् । तद्ग्राहकं च[३६] न निर्विकल्पकम् । विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्प्य[३७]श्चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य तस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभ[३८]याभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गम[३९]यति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकाना[४०]म्, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता[४१] निर्दिष्टाः ।

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २८ ॥

इत्यादौ,–

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

चर्वणानिष्पत्त्येति । स च लौकिकप्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधात् तथा तटस्थपरसंवित्तिशालियोगिज्ञानात् सकलवैषयिकोपरागशून्यात्मारामावहितपरयोगिगतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यत इत्याह–लौकिकप्रत्यक्षादीति । लौकिकाद् आस्वादाद् योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः, यतो विभावादिचर्वणा तत्कालसारैवोदिता, न पूर्वापरकालानुबन्धिनी । जातिगोत्रादिविशेषपरामर्शनरहितं ज्ञानं निर्विकल्पम् । तेन विभावादिसंयोगाद् रसना निष्पद्यते, अतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं मुनिसूत्रस्येत्यभिनवगुप्तपादाः । ततोऽभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव रस्यन्ते । तत्राङ्गित्वेनाभिव्यक्तौ ध्वनिः, अन्यथा तु रसवदाद्यलंकारः । विभावानामनुभावानां व्यभिचारिणां च पृथक् पृथग् रसेषु नियमो नास्ति, व्यभिचारात् । सामग्री तु न व्यभिचारिणीत्याह – व्याघ्रादयः इति । यत्रापि विभावानामनुभावानां व्यभिचारिणां वा प्रधानत्वेन विवक्षितानां केवलानामेवोपादानं तत्राप्यौचित्याद् अन्यतमद्वयाक्षेपः, यथा – 'वियदलि' इति । अत्र च मुख्यार्थबाधाद्यभावान्मध्यकक्षा (?) लक्षणाया–

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेद[४२]पाण्डुः कपोलः ॥ २९ ॥

इत्यादौ,

दूरादुत्सुकमागते [४३]विवलितं संभाषिणि स्फ रितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवमने किंचाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो मपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ ३० ॥

इत्यादौ च यद्यपि वि[४४]भावानामनुभावानामौत्सुक्यव्रीडाहर्ष-कोपासूयाप्रसादानां[४५] व्यभिचारि[४६]णां केवलानामेवास्ति स्थितिः, तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ।

तद्विशेषानाह—

श्रृङ्गारहास्य[४७]करुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२९॥

स्तृतीयस्या अभावादभिधा ध्वननं चेति द्वावेव व्यापारौ, अत एवाभिधामूलत्वम् ॥ टङ्को बन्धः ॥ प्रणतिपर इति विषयसप्तमी ॥ ईक्षणमिति । ईक्षणव्यापारे ईक्षण-शब्दः ॥ अन्यतम इति । विभावापेक्षयानुभावव्यभिचारिणां, अनुभावापेक्षया विभावव्यभिचारिणां, व्यभिचार्यपेक्षया च विभावानुभावानामन्यतमत्वम् । तथा हि 'वियदलि' इत्यादौ विभावभूतस्य सौन्दर्यस्यानुगतत्वेन 'प्रसीद' इति पद-महिम्नानुभाववर्गो, मुग्धपदाच्च व्यभिचारिवर्गो भाति। 'परिमृदित' इत्यादौ चाङ्ग-म्लानत्वादेरनुभावस्यानुगत्या प्रवृत्तिः । 'कथमपि' इति पदार्पितोऽभिलाषचिन्तौ-त्सुक्यग्लान्यालस्यादिर्व्यभिचारी विभावश्च भाति । व्यभिचारिणां च प्राधान्यं तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम् , यथा – 'दूरादुत्सुकम्' इति । अत्रौत्सुक्यादे-र्व्यभिचारिणोऽनुगतत्वेन 'राद्' इत्यादिपदार्पितः सहसाप्रसरणादिरूपोऽनुभावः 'प्रेयसि' इति विभावश्च प्रकाशते । एवं द्वयप्राधान्ये सर्वप्राधान्येऽप्युदाहार्यम् । किं तु सर्वप्राधान्य एव रसास्वादोत्कर्षः। तच्च प्रबन्ध एव, मुक्तकेषु तु कल्प्यते ॥ नानैकान्तिकत्वमिति न व्यभिचारः ॥ २७–२८ ॥

शृङ्गारेति । सकलजातिसुलभत्वेन हृद्यतया च पूर्वं शृङ्गारस्तदनुगामी च ततो हास्यस्तद्विपरीतः करुणः । ततस्तन्निमित्तमर्थप्रधानो रौद्रः । कामार्थ-

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ, संभोगो विप्रलम्भश्चेति । तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते । यथा—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
> र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं [४८]निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
> विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं[४९]
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ३१ ॥

योर्धर्ममूलत्वाद् धर्मप्रधानो वीरः । तस्य भीताभयदानसारत्वात् ततो भयानकः । तद्विभावसाधारण्यसंभावनात् ततो बीभत्स इतीयद् वीरेणाक्षिप्तम् । वीरस्यान्तेऽद्भुतः फलमिति ततोऽद्भुतः । सर्वे चामी सुखप्रधानाः, स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्य आनन्दसारत्वात् । तथा ह्येकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः, अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् । अविश्रान्तिरूपतैव च दुःखम् । अत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरिति आनन्दरूपता सर्वरसानाम् ॥ अष्टाविति । एत एवोपरञ्जका इति भावः । तेनार्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इत्यसत् । स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः । तेन तुल्ययोरन्योन्यं रतिः स्नेहः; अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्तिः; उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यमित्यादौ च भावस्यैवास्वाद्यत्वम् ॥ तत्रेति । तेषु मध्ये ॥ शृङ्गारस्येति । स्त्रीपुंसप्रायर्तुशैलपुरहर्म्यचन्द्रपवनोद्यानाद्यालम्बनोद्दीपनरूपविभावाः, पुलकस्वेदकटाक्षाद्यनुभावाः, जुगुप्सालस्यौग्र्यवर्जव्यभिचारिका यूनोः प्रारम्भादिफलपर्यन्तव्यापिनी सुखोत्तरा परस्परास्थाबन्धात्मिका रतिः स्थायी भावश्चर्व्यमाणतैकप्राणः शृङ्गारो रसः । उपचारात्तु संभोगशृङ्गारः, लज्जाद्यैर्निषिद्धान्यपि इष्टदर्शनादीनि कामिनौ यत्र संभुङ्क्तः । संभोगेऽपि न चेद् विरहाशङ्का तदा स्वाधीनेऽनुकूले वानादर एव स्यात् । यतः सुलभावमानी मदनः । तथा ह्यभिलष्यमाणं वस्तु प्राप्तं चेत् काऽभिलाषः । तेन प्राप्तं प्राप्तमपहारितमिव, गतं [गतं] प्राप्तमित्येवं परंपराक्रमेण वर्धिष्णुरयं कामः परां प्रीतिं तनोति । अत एव तद्वशाद्द्वयमीलने सातिशयश्चमत्कारो मुक्तकेष्वपि । यथा—

'एकस्मिञ् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतोः' इति ॥

चुम्बनादीत्यादिपदाद् जलक्रीडाचन्द्रोपवनादि ।

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३२ ॥

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः ॥

क्रमेणोदाहरणानि—

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥ ३३ ॥

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहह हा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३४॥

एषा विरहोत्कण्ठिता ।

सा पत्युः प्रथमेऽपराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।

वीटिकाः कञ्चुकग्रथनानि । सस्मिता या सखी सैव नेत्रोत्सवः ॥ अपर इति विप्रलम्भशृङ्गारः । सुखास्वादनलोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्मात्रेति । द्वयोरप्यन्योन्यं रत्युत्पत्तावपि कुतोऽपि हेतोरप्राप्तसमागमोऽभिलाषविप्रलम्भो यथा वत्सराज – रत्नावल्योः । विरहविप्रलम्भस्तु खण्डितया प्रसाद्यमानयापि प्रसादमव्रजन्त्या, ततः पश्चात् तप्तया विरहोत्कण्ठितया सह । ईर्ष्याविप्रलम्भस्तु प्रणयखण्डनादिना खण्डितया सह । प्रवासो भिन्नदेशत्वं, तद्विप्रलम्भः प्रोषितभर्तृकयेति विभागः । करुणविप्रलम्भस्तु करुण एव, यथा रतिप्रलापेषु 'हृदये वससीति मत्प्रिय' इत्यादौ ॥

प्रेमार्द्रा इत्यनुवादेन परिचयाद् उद्गाढरागोदया भवेयुरिति विधेयम् । लयस्तन्मयत्वम् ॥

निशान्तोऽन्तःपुरम् । सख्युर्भावः सख्यं, तेनोपदेशः ॥

स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥ ३५ ॥
प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित प्रिय सुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३६॥
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ ३७ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणानि—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
तारस्वरं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३८ ॥

जीवित प्रिय इत्यामन्त्रणपदद्वयं, प्रियेति तु सुहृद्विशेषणे ॥ प्रियसखैरिति अस्रविशेषणं न वाच्यम् ॥

हास्यादीनामिति । वर्णदेशकालवयोवैपरीत्याद् विकृतवेषनर्तनगत्यनुकरणासत्प्रलापविभावो नासौष्ठस्पन्दस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणाद्यनुभावः त्रपावहित्थालस्यादिव्यभिचारी हासः स्थायी हास्यः । स चोत्तममध्यमाधमेषु स्मितहसितापहसितैरात्मस्थस्त्रिधा । तथा स्मितादीनां संक्रान्तिजातैर्हसितापहसितातिहसितैः यदा परं हासयति तदा परस्थोऽपि ।

यन्मुनिः—

ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥
आकुञ्चिताक्षिगण्डं यत् सस्वनं मधुरं तथा ।
कालागतं सास्यरागं तद् वै विहसितं भवेत् ॥
अस्थानहसितं यत् तु साश्रुनेत्रं तथैव च ।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥

हा मातस्त्वरितासि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाशिषो
धिक्प्राणान्पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥ ३९ ॥
कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ ४० ॥
क्षुद्राः संत्रासमेते [11]विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
[12]किंचित्संरम्भलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥ ४१ ॥

इष्टानिष्टवियोगयोगविभावो दैवोपालम्भनिःश्वासस्वरभेदाश्रुपातवैवर्ण्यप्रलयस्तम्भकम्पभूलुठनाद्यनुभावो निर्वेदग्लानिचिन्ताविषादमरणादिव्यभिचारी शोकस्थायी करुणः ॥ दारापहारदेशजात्यभिजनविद्यानिन्दोपहासाधिक्षेपादिविभावो नेत्ररागभ्रुकुटीकरणदन्तौष्ठपीडनहस्ताग्रनिष्पेषशस्त्रसंपातप्रहरणरुधिराकर्षणाद्यनुभाव औग्र्यावेगोत्साहादिव्यभिचारी क्रोधस्थायिभावो रौद्रः । उत्साहोऽत्र व्यभिचारी, क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात् । अस्य चोद्रिक्तं हन्तृत्वम् । येषां उद्धतास्तद्वेषधारिणो ये नटास्ते प्रकृतिश्चर्वणोदयहेतुः । भीमादयो हि स्वभावक्रोधनत्वाद् उद्धताः, तदनुकारिणि नटे रौद्र आस्वाद्य इति तेऽस्य प्रकृतिः ॥ प्रतिनायकगतनयविनयाध्यवसायप्रतापविक्रमाधिक्षेपादिविभावः स्थैर्यगाम्भीर्यत्यागाद्यनुभावः स्मृत्यौग्र्यधृतिगर्वामर्षादिव्यभिचारी उत्साहः स्थायी धर्मदानयुद्धभेदात् त्रिधा वीरः । यन्मुनिः—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च ।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥

रौद्रममता[? र्ष]प्राधान्याद् अनुचितयुद्धाद्यपि इति मोहविस्मयप्राधान्यम् । इह च पर्यङ्कनिमग्नतां स्वल्पसंतोषं चापास्य यस्तत्त्वनिश्चयरूपोऽसंमोहाध्यवसायः स एवोत्साहहेतुरिति भेदः । प्रेतादिविकृतस्वरश्रवणतदवलोकनस्वजनबान्धववधादिदर्शनशून्यगृहारण्यादिविभावं चलद्दृष्टिकरकम्पहृत्पादस्पन्दकण्ठौष्ठशुष्कता-

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने द[४]त्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
[५]शष्पैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लु[६]तत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४२॥

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृ[७]थूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
[८]आत्तस्नाय्वन्त्रनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥४३॥

चित्रं महानेष ब[९]तावतारः क्व कान्तिरेषाभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४४॥

एषां स्थायिभावानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥३०॥

स्पष्टम् ।

व्यभिचारिणो ब्रूते—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥३१॥

द्यनुभावं शङ्कापस्मारत्रासादिव्यभिचारि भयं स्थायिभावो भयानकः । अहृद्य-पूतिव्रणकीटादिदर्शनश्रवणविभावोऽङ्गसंकोचननासामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावोऽपस्मारौग्र्यमोहगदादिव्यभिचारी जुगुप्सास्थायिभावो बीभत्सः ॥ इष्टदर्शनादिमायेन्द्रजालादिविभावो नेत्रविस्ताररोमाञ्चाश्रुस्वेदसाधुवाददानाद्यनुभावो हर्षावेगजडतादिव्यभिचारी चित्तविस्तारात्मा विस्मयः स्थायिभावो रसनीयतां गतोऽद्भुतो रसः ॥

नरकरिपुणा विष्णुना ॥२९॥

रतिर्हासेति । स्थायित्वमेषामेव । जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति । केवलं कस्यचित् काचिद् अधिका चित्तवृत्तिः काचिद् ऊना, कस्यचिद् उचितविषयनियन्त्रिता, कस्यचिद् अन्यथा । रत्यादयो हि संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते,वस्त्वन्तरविषयस्य रत्यादेरखण्डनात् ॥ भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावाः । स्थायिनो व्यभिचारिणश्च ।

निर्वेदः स्वावमाननं, ग्लानिर्बलापचयः, शङ्कानिष्टोत्प्रेक्षा, असूयाक्षमा,

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥३२॥

सुप्तं [७०] विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम् । तेन

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

मद आनन्दसंमोहसंभेदः शृङ्गारादिभिः, मनसः क्रियाविद्वेष आलस्यं, इतिकर्तव्यतायामनालोचो मोहः । आवेगः सम्भ्रमः, जडतार्थाप्रतिपत्तिः, गर्वः परावज्ञा, विषादो मनःपीडा, औत्सुक्यं कालाक्षमत्वं, निद्रा मनःसंमीलनं, अपस्मार आवेशः, सुप्तं निद्राया गाढावस्था, विबोधो विनिद्रत्वं, अमर्षः प्रतिचिकीर्षा, न बहिस्थं चित्तं यत्र पृषोदरादित्वाद् अवहित्थमवहित्था वा इङ्गिताकारगुप्तिः, मतिरर्थनिश्चयः, उन्मादः चित्तस्य विप्लवः । मरणमिति आदीर्घकालमत्यापत्तिरिति केचित् । 'मृङ् प्राणत्यागे' इति धात्वर्थविचाराद् विषभक्षणपाशबन्धादीत्यन्ये । वितर्कः संभावना । विविधमाभिमुख्येन स्थायिधर्मोपजीवनेन स्वधर्मार्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः । ते हि चित्तवृत्तिविशेषा जन्ममध्ये समुचितविभावाभावाद् न भवन्त्यपि । तथा हि कृतरसायनस्य ग्लान्यालस्यादयो न भवन्त्येव । यस्यापि वा स्युर्विभावबलात्तस्यापि हेतुक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां नानुबध्नन्त्येव ॥ नामतस्त्रयस्त्रिंशदिति, संख्यावचनं नियमार्थम् । तेनान्येषामत्रैवान्तर्भावः । यथा, उद्वेगस्य निर्वेदे, दम्भस्यावहित्थे, क्षुत्तृष्णादेर्ग्लान्यादौ । एषां विभावानुभावाः स्वयमूह्याः । तथा हि व्याध्यपमानाधिक्षेपदारिद्र्येष्टवियोगताडनतत्त्वज्ञानादिविभावो रुदितनिःश्वसितानुपादेयताद्यनुभावो निर्वेदः । एवमन्येऽपि ॥ ३०–३४ ॥

शान्तोऽपीति । वैराग्यभाक्तनपरिपाकपरमेश्वरानुग्रहाध्यात्मरहस्यपरमात्मपरिशीलनादिविभावो यमनियममोक्षशास्त्रचिन्तनाद्यनुभावो धृतिस्मृतिमत्यादिव्यभिचारी विषयाभिलाषक्षय[ः] सर्वतोनिवृत्तिरूपो निर्वेदः स्थायीभूतो

यथा—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥ ४५ ॥

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥३५॥
भावः प्रोक्तः

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया । कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः । उदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे ॥४६॥

रस्यमानताकृतपोषः शान्तो **रसः** ॥

ननु, तत्र हृदयसंवाद[ा]भावाद् रस्यमानता न युक्ता । निवृत्तविषयेच्छाप्रसरत्वकाले प्रतीयमानोऽपि न सर्वस्य श्लाघास्पदम् । नैवम्, वीतरागाणां शृङ्गारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसत्वाच्च्यवताम् । न च धर्मवीरेऽस्यान्तर्भावो युक्तः । वीरस्य ह्युत्साहोऽहमेवंविध इत्येवंरूपाभिमानमयोऽस्य चाहंकारप्रशम एवैकं रूपमितीहामयत्वनिरीहत्वाभ्यामत्यन्तं तयोर्विरोधः । आधिकारित्वेन तु शान्तो रसो न निबध्य इति चन्द्रिकाकारः । अन्ये तु चित्तवृत्तिशम एवास्य स्थायीति मन्यन्ते । तच्च असत्, अभावस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपत्वे चेतोवृत्तित्वाभावेन भावत्वायोगात् । पर्युदासे त्वस्मत्पक्ष एवायम् । तच्च भट्टतोतेन काव्यकौतुकेऽभिनवगुप्तेन च तद्वृत्तौ निर्णीतम् ।

एवं सीदत्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात् साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तुसत्त्वम् । अथवानुपहतं मनःसत्त्वम् । तत्रभवाः सात्त्विका भावाः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चस्वरभेदकम्पवैवर्ण्याश्रुप्रलया अष्टौ । स्तम्भो विष्टब्धचेतनत्वम् । प्रकर्षेण प्राणनिलीनेष्विन्द्रियेषु लयः प्रलयः । ते चान्तरालिकभावशंसनात्मकविकाररूपत्वाच्छरीरधर्मा बाह्या अनुभावाः । अपीति पृथग् नोक्तः । यद् धनिकः —

'पृथग् भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥'

रसध्वनिमुक्त्वा भावध्वनिमाह – रतिर्देवेति । यदा रतिर्व्यभिचारी चोद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नौ चमत्कारातिशये प्रयोजकौ स्यातां तदा तौ भावध्वनी इत्याह – अञ्जित इति । अङ्गित्वेन व्यञ्जितो भाव एव न पुना रसः ॥

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥४७॥

एवमन्यदप्युदाहार्यम् । व्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता ततः ।
नो यावत्परिरभ्य चाटुकशतैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रः कृतः ॥४८॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च । तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान्रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बला-
त्तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥४९॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादनं व्यनक्ति । भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमास्या ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥५०॥

अत्र चिन्ता, अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ॥

प्रत्यसूयेति । विप्रलम्भरससद्भावेऽप्यसूयास्थितिचमत्कारकृत एवास्वादातिशयः ॥

अभिलाषमिति । परस्परास्थाबन्धात्मिकाया हि रतेः शृङ्गारत्वमुक्तम् । अत्र तु कामनाभिलाषमात्ररूपा रतिर्व्यभिचारिभावो न स्थायी । एवं हास्याद्याभासोऽपि ॥

अत्र चिन्तेति । अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्यम् । एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान् । आभासोऽनुकृतिरमुख्यतेति एको ह्यर्थः, तेन निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपणात् तदाभासः, यथा—

'पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनीभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥'

भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणानि—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
संश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तस्याश्च तद्विस्मृतम् ॥५१॥

अत्र कोपस्य ।

एकस्मिञ्शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यः कोपपराङ्मुखग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणाद्
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥५२॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलयन्
आनन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥५३॥

अत्रावेगहर्षयोः[५२] ।

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५४॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

तिरश्चोर्यथा —

‘मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।’ इत्यादौ ।

अत्र संभोगाभासः ॥ भावाभासो यथा —

‘त्वत्कटाक्षावली लीलां विलोक्य सहसा प्रिये ।
वनं प्रयात्यसौ व्रीडाजडदृष्टिर्मृगीजनः ॥’

भावस्येति । व्यभिचारिणः । भावशान्तिभावोदयभावसंधिभावशबलताश्चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः ॥ उदयावस्थाप्रयुक्तश्चमत्कारो यथा – ‘एकस्मिन्निति । अत्र व्यभिचारिणः प्रशमावस्थापि ॥ सुप्त इवेति प्रार्थनापराङ्मुखः । व्यभिचारिणोः

मावस्थितिस्तूक्ता । उदाहृता च 'जाने कोपपराङ्मुखी' इत्यादिना ।

मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

ते भावप्रशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः । तत्र—

अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥३८॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

वस्त्वेवेत्यनलंकारं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

संधिरेव चर्वणास्पदम्, यथा – उत्सिक्तस्येति ॥ स्थितिस्तूक्तेति, 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः' इत्यादौ 'जाने कोपपराङ्मुखी' इत्युदाहृता च ॥

ननु, विभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति तद्ध्वनिरपि वाच्यः । नैवम्, विभावानुभावौ स्वशब्दावाच्यावेव, तच्चर्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति न रसभावेभ्योऽधिकं चर्वणीयम् ॥३६॥

ननु, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रमातुः स्थाय्यंशचर्वणाकृत एवास्वादः, तत् कथं भावशान्त्यादीनामङ्गित्वमित्याह – मुख्ये रसेऽपीति ॥

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं भेदं विचार्य लक्ष्यक्रममाह – अनुस्वानमिति । अनुस्वानोऽनुरणनम् । तत्सदृशीघण्टाया ह्यनुरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति ॥ आद्यपदमनुवादरूपम् । हेतुत्वेनोपात्तं । शब्दशक्तिमूलम् । अनुरणनेन रूपो रूपणासादृश्यं यत्र, तादृग् व्यङ्ग्यं यत्र ध्वनौ स तथा ॥ ३७ ॥

तत्रेति । त्रिषु । यद्यपि शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता अस्त्येव, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । शब्दशक्तेस्तु केवलं व्यञ्जकत्वे मुख्यत्वमित्याह – प्रधानत्वेनेति । अनलंकारमिति । अलंकाररूपाभावेनोपलक्षितं वस्तुमात्रम् । मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम् । यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो, न च लौकिकः, किंतु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादिविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासना-

उल्लास्य कृष्णकरवालनवाम्बुवाहं देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥५५॥

अत्र वाक्यस्यासंबद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालंकारो व्यङ्ग्यः ।

नुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयो रसः काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरेव ॥ 'उल्लास्ये'ति । शत्रुविषये संतापकारिणी प्रसिद्धिः प्रतापः । अत्र गर्जितादयः शब्दाः प्रकरणान्नियन्त्रिताभिधानशक्तय एकमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव । तदनन्तरं त्वर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात् । तत्र केचिद् मन्यन्ते 'यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरं चित्रं दृष्टं, ततस्तथाविधेऽर्थान्तरेऽदृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एव तेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलत्वं न व्यङ्ग्यत्वं च'इत्यविरुद्धम् । अन्ये तु 'अर्थसामर्थ्येन सादृश्यात्मकेन द्वितीयाऽभिधैव प्रतिप्रस्तूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव, न ध्वन्यते । तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयस्यार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद् भात्येव । न चान्यतः ॥ शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात् । तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वादिति प्रकृताप्रकृतयोर्वाक्यार्थयोः साम्यं ध्वन्यत इत्यलंकारध्वनिरित्याह – वाक्यस्यासंबद्धार्थाभिधायकत्वमिति । यथा वा 'गावो वः पाव[मा]ना[ः] परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु' इत्यादौ गावो रश्मयः सुरभय इवेति साम्यं ध्वन्यते । सुरभिवृत्तान्तस्तूच्यत एव । पदैर्हि प्रकरणनियन्त्रितैः पदार्था रश्मिसमुचिता उच्यन्ते । ततः प्रकरणस्य शब्दशक्त्या वाक्योपपत्तिसहायया न्यक्करणं जायते, तेन सुरभिवृत्तान्तोचितवाक्यार्थप्रतिपत्तिस्ततो द्वयोर्वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयभावो ध्वननव्यापारात् । यदा तु पदसमूह एव शब्दशक्त्या सुरभिवृत्तान्तं ध्वनतीति पक्षास्तदा वस्तुध्वनिरेव ॥

ननु, यदि शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयस्तर्हि श्लेषस्य विषयो नास्ति । नैवम्, यत्र सामर्थ्याक्षिप्त एवालंकारो न वस्तुमात्रं शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिः, वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः । अत्र चार्थाक्षिप्तः श्लेषो न शब्दोपारूढ इत्यनुस्वानोपमव्यङ्ग्ये ध्वनौ न श्लेषविष-

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५६॥

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षदः प्रभो ।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥५७॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥५८॥

अत्र व्यतिरेकः । अलंकार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालंकारता ।

वस्तुमात्रं यथा—

[101]पन्थिअ ण [102]एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
[103]उन्नअ[104]पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥५९॥

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि [105]तदास्स्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥६०॥

यत्वम् । एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूला अलंकारा व्यङ्ग्या यथा 'तिग्मे'ति । तिग्मो रुचिरश्च प्रतापो यस्य । विधुराणां द्विषां निशाकृन्मारकः । मधुरा मनोज्ञा लीला यस्य । मतौ माने तत्त्वे च वृत्तिर्यस्य । प्रतिपदं प्रतिप्रयोजनं पक्षस्याग्रणीः न भीयते स्म । समितः संग्रामात् । अहितः शत्रूणां यशोभिश्च सहितः ॥ व्यतिरेक इति । शम्भोरितरचित्रकराद् आधिक्यमिति वाक्ये व्यतिरेकोऽलंकारो व्यङ्ग्यः ॥

ननु, व्यतिरिक्तोऽलंकारोऽलंकार्याद्, यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः, अलंकारव्यवहारश्चालंकार्येऽङ्गिनि सति युक्त इत्याह – अलंकार्यस्यापीति । यः क्वापि वाक्यार्थे पूर्वमुपमाद्यलंकारतामन्वभून्, संप्रति त्वलंकार्यत्वाद् अनलंकाररूप एव सोऽन्यत्र गुणीभावात् पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलाद् अलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते, यतो ब्राह्मण एव सन् यः श्रमणः स्यात् स उच्यते ब्राह्मणश्रमण इति ॥ संस्तरस्तृणादिशय्या । मणं मनागपि । प्रस्तराः पाषाणाः । एवमपि चेन्मेघभयं तद् वस । उन्नयेति, उन्नतं मेघं प्रेक्ष्येत्यर्थः । व्यङ्ग्यं तु प्रहरचतुष्टयमप्युपभोगेन नात्र निद्रा कर्तुं लभ्यते । सर्वे ह्यत्राविदग्धाः, तदुन्नतपयोधरां मां दृष्ट्वा उपभोक्तुं यदि

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति व्यत्ययेन ध्वन्यते[106] ।

अर्थशक्त्युद्भवो[107]ऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३९॥
प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वालंकृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलंकारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ।

[108]इदंप्रथमकल्पितः स्वतःसंभवी चेति द्विविधोऽर्थः । तत्र स्वतः-संभवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः । कविना [109]प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः कविनिबद्धेन वा वक्त्रेति द्विविधोऽपर इति त्रिविधः । वस्तु वालंकारो वासाविति षोढा व्यञ्जकः । तस्य वस्तु वालंकारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः । क्रमेणोदाहरणानि—

[110]अलससिरोमणिधुत्ताणं[111]अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ[112] ।
[113]इयं भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥६१॥

वससि तदास्स्वेति वाक्ये वस्तुमात्रम् । अत्र वाच्यबाधेन व्यङ्ग्यस्य स्थितत्वा-त्तयोर्नोपमानोपमेयभाव इति नालंकारो व्यङ्ग्यः । अशनिर्वज्रमपि । अनुदारो अनुगतदारोऽपि । चकारश्चात्र विरोधद्योतक एवेति विरोधालंकारो वाच्यो, न तु व्यङ्ग्य इत्यभिप्रायेण वस्तुध्वनावुदाहरणान्तरम् । एकं कार्यं 'निहन्ति' इत्यत्र निहननलक्षणं, 'भाति' इत्यत्र भानलक्षणम् । व्यत्ययेनेति, शनिरशनिः-इत्यादि-रूपेण ॥३८॥

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यं द्विभेदमुक्त्वार्थशक्तिमूलानुरणनरूप-व्यङ्ग्यं वाक्यप्रकाशमाह—अर्थशक्त्युद्भवेऽपीति । अपि-शब्दो भिन्नक्रमे, तेन व्यञ्जकोऽर्थोऽपि त्रिधा । न केवलमनुस्वानोपमः शब्दशक्तिमूलः संलक्ष्यक्रमो द्विधा, यावत्तद्भेदो द्वितीयोऽपि व्यञ्जकार्थत्रैविध्यद्वारेण त्रिधेत्यपिशब्दार्थः ॥ प्रौढोक्तीति । प्रकर्षेण ऊढः संपादयितव्येन वस्तुना प्राप्तः, ततः कुशलः प्रौढः । उक्तिरपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढोच्यते ॥ बहिरिति लोकवृत्ते । अपर इति । इदंप्रथमकल्पितः । अयं प्रथम इति रचितः । स्वतःसंभवी । कवेः प्रौढो-क्तिमात्रान्निष्पन्नः, तेन कविना निबद्धो यो वक्ता तत्प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो वेति त्रिधा ॥ असाविति व्यञ्जकोऽर्थः । 'इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना

अत्र [११४]ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति[११५] प्रणिहितश्च करः प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥६२॥

अत्र त्वमधन्याहं तु धन्येति व्यतिरेकोऽलं[११६]कारः ।

दर्पान्धगन्धगजकुम्भक[११७]पाटकूट-
[११८]संक्रान्तनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥६३॥

अत्रोपमालंकारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात्करिष्यत इति वस्तु ।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः ।
[११९]ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन्युधि रुषा निजाधरम ॥६४॥

अत्र विरोधालंकारेणाधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता, मम क्षत्याप्यन्यस्य क्षतिर्नि[१२०]वर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्य[१२१]ते इति । इत्युत्प्रेक्षा च । एषूदाहरणेषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसंजातशं[१२२]का
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्तयन्ति ॥६५॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ।

जाता ।' अत्र वाक्यार्थेन वस्तुमात्ररूपेण धनसमृद्धिमयत्वेन ममैव भोग्य इति वस्तु व्यज्यते । अहं तु धन्येति । उपमानोपमेयभावप्रतीतौ निधुवनविलासोत्कर्षादभिनन्दनीयत्वेनाधिक्यम् ॥ उपमालंकारेणेति, सकलवाक्यवाच्येन ॥ तद्बुद्धिरिति, राजबुद्धिः ॥ प्रथमशिखरे प्रधानशिखरे येषां दिग्मातङ्गानामर्थाधिगमो नास्ति, कीर्तिरित्युल्लेखेन ॥

केसेसु बला[123]मोडिअ नेणअसमरम्मि जअ[124]सिरी गहिआ ।
जह [125]कन्दराहि विहुरा तस्स दढं [126]कण्ठअम्मि संठविआ ॥५६॥

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्तीत्युत्प्रेक्षा, एकत्र सङ्ग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः [127]पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति का[128]र्यहेतुः, न [129]पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान्कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ।

गाढालिङ्गणरहसु[130]ज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।
[131]माणंसिणीअमाणो पोल[132]णभीतुव्व हिअआहिं ॥६७॥

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र [133]विजृम्भत इति वस्तु ।

[134]जं थेरं व हसन्ती [135]कइवअणम्बुरुहबद्धविणिवेसा ।
दावेइ [136]भुअणमण्डलमण्णं [137]विअ जअइ सा वाणी ॥६८॥

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगदजडासनस्था निर्मिमीत इति व्यतिरेकः । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्प[138]न्नः ।

जे लङ्कागिरिमेह[139]लाहि खलिदा संभोअखिण्णोरयी
फारुप्फुल्लफणावली[140]कवलणा पत्ता दरिद्द[141]त्तणम् ।
ते [142]ईण्हि मलयानिला [143]विरहिणीणीसाससंवग्गिणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा इ[144]व ॥६९॥

केशेष्विति । बलामोडिए त्ति, बलात्कारवाची देश्यः । तस्य विधुरा वैरिण इति संबन्धः । अत्र वाक्यार्थेन वस्तुरूपेणैकस्याः केशग्रहावलोकनम्, अन्यस्या अपि मन्मथोन्माथं करोतीत्यालिङ्गनस्योत्प्रेक्षा, जयश्रीग्रहणेन च वाक्यार्थीभूतेन हेतुना जातभयाः शत्रवो नंष्ट्वा गुहासु गता इति काव्यलिङ्गं प्रस्तुतस्य च पलायनस्यापह्नवाद् अपह्नुतिश्च व्यज्यते, कविप्रजापतिवाचोऽस्याः कामधेनुत्वात् ॥

लघु यथा भवति । एवं समन्ताद् अपसरति मनस्विनीनां मानः । अत्र कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नेन पीडनभीत इवेत्युत्प्रेक्षालंकारेण मानं मुक्त्वालिङ्गनचुम्बनादि कुर्वन्तीति वाक्ये वस्तु व्यङ्ग्यम् । थेरं ब्रह्माणं स्थविरं च । दावेइ दर्शयति । भुवनमन्यदेव । तत्प्रसादाद् हि कविगोचरोऽर्थश्चमत्कारकारी निरवधिः संपद्यते । एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा ॥ फणावलीकवलनात् प्राप्ता दरिद्रत्वम् । मम मानस्य धीरत्वेन आश्वासं विरचय्य प्रियदर्शनविसृङ्खलक्षणे,

अत्र निःश्वासः प्राप्तैश्वर्या[145] वायवः किं किं न [146]कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पिअदंसे[147]ण[148]विहलङ्कुले[149]क्खणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥७०॥

अत्र वस्तुना अकृतेऽपि[150] प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना प्रिये[151]दर्शनसौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यत इत्युत्प्रेक्षा[152] चेति।

उल्लोल[153]करअरअणक्खएहि[154] [155]तुअं लोयणेहि मह दिन्नम्।
रत्तंसुअं प[156]साओ कोवेण पुणो इमे ण [157]अक्कमिआ ॥७१॥

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि, इत्युत्तरालंकारेण न केवलमार्द्रनखक्षतानि [158]गोपयसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु।

महिलासहस्स[159]भरिए तुह हिअए सुहअ सा अ[160]माअन्ती।
[161]अनुदिणमणण्ण[162]कम्मा अङ्गं तणुअं [163]पि तणुएइ ॥७२॥

अत्र हेत्वलंकारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति विशेषोक्तिः। एषु कविनिबद्ध[164]वक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः।

शब्दार्थोभयभूरेकः।

य[165]था—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७३॥

तेन धीरत्वेनापसृतम् ॥ विभावनेति। कारणाभावे कार्यस्य प्रसादस्य सद्भावात्। तवार्द्रार्द्रनखरदनक्षतैर्मम लोचनयो रक्तांशुकं प्रसादो दत्तः, कोपेन पुनरिमेनाक्रान्ते। प्राकृते द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ अत्र प्रतिवचनवशाद् भर्तृप्रश्नवाक्यं कल्पत इत्युत्तरालंकारेण वाच्येन। अमायन्ता आवर्तमाना ॥ हेत्वलंकारेणेति। कविना निबद्धा या वक्त्री तत्प्रौढोक्त्या निष्पन्नेन ॥ महिलासहस्रभृते इति हृदयेऽवर्तमानत्वे। हेतुत्वेनोक्तमिति हेत्वलंकारेण। तनोस्तनुत्वलक्षणे कारणे सत्यपि हृदयवर्तनं कार्यं नोक्तमिति विशेषोक्त्यलंकारोऽर्थशक्त्युद्भवानुरणरूपो वाक्यप्रकाशो व्यङ्ग्यः ॥३९–४०॥

अनुस्वानोपमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य सप्रभेदं प्रकारद्वयं निरूप्योभयशक्तिमूलानुरूपव्यङ्ग्यं तृतीयं प्रकारमाह—शब्दार्थेति। चन्द्रः कर्पूरमपि। समुत् सहर्षा।

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः ।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वे कथमष्टादशेत्याह—

रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथा हि । नव रसाः । तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ । संभोगो विप्रलम्भश्च । संभोगस्यापि परस्परावलोकनालिङ्गनपरिचुम्बनादिकुसुमोच्चयजलकेलिसूर्यास्तमयचन्द्रोदयषडृतुवर्णनादयो बहवो भेदाः । विप्रलम्भस्याभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि विभावानुभावव्यभिचारिवैचित्र्यम् । तत्रापि नायकयोरुत्तममध्यमाधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देशकालावस्थादिभेदः । इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम् । का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वं तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिरेको भेद एव गण्यते ।

तारका कनीनिकापि । श्यामा रात्रिः । कान्ता च । अत्र 'चन्द्र' इति तारका' इति च शब्दो व्यञ्जकः ॥ 'समुद्दीपित' इति 'सानन्दम्' इति चार्थोऽपि व्यञ्जक इति शब्दार्थयोरुभयोः शक्त्या रात्रियोषितोः प्रकृताप्रकृतयोरुपमा वाक्ये व्यङ्ग्या ॥

भेदा इति । तथा हि लक्षणामूलस्याविवक्षितवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ द्वौ भेदौ। अभिधामूलस्य तु विवक्षितान्यपरवाच्यस्यालक्ष्यक्रमो रसादिध्वनिरेकः, लक्ष्यक्रमस्तु अनुरणनरूपः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विधा । तत्राद्योऽलंकारवस्तुव्यञ्जकत्वेन द्विधा, द्वितीयोऽपि स्वतःसंभवी कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरश्चेति त्रिधा । त्रयोऽपि प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोर्वस्त्वलंकाररूपत्वाच्चतुर्विधा इति द्वादशभेदोऽर्थशक्तिमूलः । उभयशक्तिमूलस्त्वेकः, इत्यष्टादशभेदा वाक्यप्रकाशाः ॥ तयोरपीति । संभोगविप्रलम्भयोः । तथा हि सुखमयस्त्रीपुंसमाल्यर्तुहर्म्यादिविभावः पुलकस्वेदकम्पाश्रुमाल्यादिसम्यग्निवेशनकटाक्षचाटुप्रभृतिवाचिककायिकव्यापारलक्षणानुभावो धृतिमतिलज्जादिव्यभिचारी संभोगः । सुखलब्धस्त्रीपुंसमाल्यादिविभावोऽङ्गनेत्रक्षामतावचोवक्रतासंतापदीनसंचरणप्रलापलेखलेखनवाचनसंदेशदानस्नेहनिवेदनमरणोद्यमाद्यनुभावश्चिन्ताशङ्काग्लानिनिद्रासुप्तप्रबोधासूयाश्रमस्वप्नजडताव्याध्यपस्मारमरणादिव्यभिचारी विप्रलम्भः ॥४१॥

वाक्ये द्व्युत्थः

द्व्युत्थ इति । शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

पदेऽप्यन्ये

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि । एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्यापि भारती भासते । तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥७४॥ (१)

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वं नियन्त्रणीयत्वस्नेहपा-

द्व्युत्थ इति । काव्यरूपसमुदायापेक्षया द्वाभ्यां शब्दार्थाभ्यां उत्था उत्थानं यस्य स तथा । वाक्य एव द्व्युत्थो, न पदे, यथा उदाहृतं 'अतन्द्र' इति ॥ अन्य इति । द्व्युत्थापेक्षया । तेनार्थान्तरसंक्रमितवाच्यादयः सप्तदश भेदाः पदेऽपि स्युः । तथा हि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेत्यविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति विवक्षितान्यपरवाच्यस्यापि द्वौ । असंलक्ष्यक्रमोऽनन्तभेदोऽप्येकः । क्रमव्यङ्ग्ये तु शब्दशक्तिमूलौ द्वौ । एवं पञ्च । अर्थशक्तिमूलाद्वा दशेति पदप्रकाशाः ॥

ननु, 'इदमुत्तमप्रतिशयिनि'इत्यादौ समुदाय एव काव्यविशेषो ध्वनिः, तत्कथं तस्य पदप्रकाशता ? काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः संदर्भविशेषः, काव्यविशेषत्वं च न पदप्रकाशत्वे उपपद्यते, पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वाद्, इत्याशङ्क्याह—एकावयवेति । यदुक्तम्—

विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनैव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥

यथा श्रुतिदुष्टानां पेलवादिपदानामसभ्यार्थं प्रति न वाचकत्वं, तद्वशाच्च आचाररूपं काव्यं श्रुतिदुष्टम् । तच्च श्रुतिदुष्टत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रागेव व्यवस्थाप्यते, तथा प्रकृतेऽपि पदानां व्यञ्जकत्वमुखेन ध्वनिव्यवहारः ॥ न च ध्वनिव्यवहारे वाचकत्वं प्रयोजकं, व्यञ्जकत्वेन तस्य व्यवस्थानात् ॥ मित्रादिशब्दा इति । अनुपयोगात्मिका मुख्यार्थबाधास्तीति लक्षणामूलत्वं शुद्धस्यार्थस्य अविवक्षितत्वाद् अविवक्षितवाच्यत्वम् । ततो द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वादि लक्षयन्तो धर्मान्तराण्यन्यशब्दावाच्यान्यादरास्पदत्वादीनि व्यञ्जन्ति ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः ।

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जेइ वि तह वि धीराणम् ।
हिअअवअस्सबहुमआ णहु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥७५॥ (२)

अत्र विमुह्यन्तीति ।

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥७६॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।

'हृदयवयस्यबहुमता न व्यवसाया विमुह्यन्ति ।' विमुह्यन्तीति व्यवसायानामचेतनत्वेन एतत्पदमसंभवत्स्वार्थं बाधितमोहात्मकमुख्यार्थमनुपपद्यमानत्वादेव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यं विमंस्थुलत्वादिभवनसादृश्याद् व्यवसायांल्लक्षयत् प्रेक्ष्यपूर्वकारित्वादिधर्मान्तरं ध्वनति । प्रसिद्धं चैतल्लक्ष्येषु, यथा वाल्मीकेर्हेमन्तवर्णने रामस्योक्तौ—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषाराविलमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

'अन्धः' इति उपसंहतदृष्टिः ॥ ननु, जन्मान्धस्य दृष्ट्युपसंहारो नास्ति । नैवम्, जातान्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात् । ततोऽन्धशब्दो बाधितमुख्यार्थोऽनुपपद्यमानत्वाद् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं सादृश्यं निमित्तीकृत्यादर्शे लक्षयन्नसाधारणविच्छायित्वानुपयोगित्वादिधर्मजातमसंख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति । 'अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यति' इत्यत्र तु अस्ति तिरस्कारो, न त्वत्यन्तम् । इह तु आदर्शस्य आन्ध्यमारोप्यमाणमपि न सह्यम् ॥ विवक्षितान्यपरवाच्यस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो यथा 'लावण्यम्' इति । लावण्यं संस्थानमुग्धिमा, अवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव । कान्तिः प्रभा । तदाह्लादकारि लावण्यम् । असावपि आप्यायिका कान्तिः । तद्रूपं वचसोऽप्यगोचरम् । स वचःक्रमः सातिशयविभ्रमैकास्पदमिति लावण्यादिगतस्वसंवेद्यानन्तगुणगणस्मारकाणि तदादिपदानि सातिशयविप्रलम्भावेगविभावतां व्यञ्जन्ति । यद्यपि सर्वेणानेन वाक्येन विप्रलम्भरसो व्यज्यते, तथापि स्मरणोल्लिखितं तल्लावण्यादि सातिशयं विभावत्वमेतीति पदप्रकाशता ॥

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७७॥ (३)

अत्र भीताननेति । एतेन हि नीचैःशंसनविधानस्य युक्तता गम्यते । भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः ।
झटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृपभीमः ॥७८॥ (४)

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥७९॥ (५)

काचित्संकेतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति ।

सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालिङ्गितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥८०॥(६)

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्तासीति वस्त्वधुनापदद्योत्यं व्यज्यते ।

भीताननेति पदं व्यञ्जकम् ॥ युक्तेति भयस्य अकृत्रिमत्वप्रकाशनात् ॥ भावादीनामिति भावतदाभासभावशान्तिभावोदयादीनाम् ॥

तस्यैव लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदे शब्दशक्तिमूलौ द्वौ अलंकारवस्तुध्वनी । क्रमाद् यथा 'रुधिर' इति । विटङ्कितं संबद्धम् ॥ 'उपमानम्' इति । भीम इति पदं वर्णनीयसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणनरूपतया प्रकृताप्रकृतयोः साम्यं प्रतिपादयतीति उपमालंकारो व्यङ्ग्यः ॥ शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो वस्तुध्वनिः पदप्रकाश्यो, यथा 'भुक्ति' इति । भुक्तिः कान्तोपभोगोऽपि, मुक्तिरुद्वेगव्यापारादपि । एकान्तः संकेतस्थानमपि । सतः सुन्दरस्य आगमनं शोभन आगमश्च । अत्र काचित् संकेतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसतीति वस्तु सदागमपदेन प्रकाश्यते । अत्र अर्थयोर्वैसदृश्याद् नोपमा ॥ अर्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे स्वतःसंभविना वस्तुना वस्तुव्यङ्ग्यत्वे पदप्रकाशता, यथा 'सायम्' इति । अत्र 'अधुना' इति पदं वस्तुस्वभावं स्वतःसंभावितशरीरार्थशक्त्या नायिकायाः संभोगखेदरूपं वस्तुमात्रं ध्वनति ॥

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥८१॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परं ब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ॥८२॥ (७)

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोग्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्ताकृताह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं चाशेषचयशब्दद्योत्ये अतिशयोक्ती ।

क्षणदासावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥८३॥(८)

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्तत इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इय णववहुया सोऊण कुणइ वयणं महीसंमुहं ॥८४॥ (९)

अत्र रूपकेण त्वयास्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् । एषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

राईसु चन्दधवलासु ललियमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजम्भन्तो ॥८५॥ (१०)

एवं चेति । अशेषचयपदयोरर्थौ वस्तुमात्रस्वभावौ स्वशक्तिमाहात्म्याद् अतिशयोक्त्यलंकारं ध्वनतः ॥

क्षणदा रात्रिः । अक्षणोऽनुत्सवः । अवनं रक्षाहेतुः । अवीनां मेडकानाम् असनं प्रेरणम् । तदेव व्यसनम् । 'क्षणदा कथमक्षणदा'—इत्यादिशब्दा विरुद्धाः, ततः शब्दशक्तिमूलो विरोधः, तदङ्गेन च 'त्वयि पराङ्मुखे सर्वमेव पराङ्मुखम्'-इत्यर्थान्तरन्यासेन दैवमपि तवानुकूलमिति वस्तु सर्वपदे व्यज्यते ॥

'गोसम्मो'ति प्रभाते । 'आसीदधरो म्लानकमलदलम्'इति पदार्थौ रूपकरूपः स्वभावशक्त्या काव्यलिङ्गं ध्वनति । 'महीसंमुहं' अवनतं लज्जयेत्यर्थः ॥
काव्यलिङ्गमित्यलंकारो हेतुश्च परिचुम्बनादिको, म्लानत्वस्यान्यथानुपपत्तेः ॥

'राईसु' इति । रात्रिसमये कामः चित्तमाक्षिपतीत्येतावानयमर्थो वस्तुरूपः

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशातिवाह्यत इति भुवनराज्यपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ।

निशितशरधियार्पयत्यनङ्गो
　　दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र
　　व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥८६॥ (११)

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः ।

वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकअत्थियेण हिअएण ।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥८७॥ (१२)

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणेन हेत्वलंकारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्त इति न चलतीतिपदव्यङ्ग्यं वस्तु ।

सो मुद्धसामलङ्गो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधादबलं गहिअ सरो सुरयसंगरे जअइ ॥८८॥ (१३)

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तो यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति स्कन्धपदद्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

कविप्रौढोक्त्या स्मरस्य राज्ये कामिनो भृत्याः, ते चोपभोगनिष्ठत्वात् स्मरादेशपरा इति वस्तु व्यनक्ति ॥

'अराले' वक्रे तारुण्यरूपे । 'सा' इति दृक् । 'व्यतिकरं' मिश्रीभावम् । अवस्था अभिलाषचिन्तनाद्या दश । तासां चान्योन्यविरुद्धानां यौगपद्यमसंभाव्यमिति विरोधालंकारो व्यङ्ग्यः ॥

'वार्यमाणोऽपि पुनः संतापकदर्थितेन हृदयेन स्तनभरवयस्येन' । स्तनभरो हि विषमोन्नतत्वाद्धारं[वारं] चलयन् मित्रीभूतः । विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः, किंतु कम्पमान एवास्ते, न त्रुट्यति । विशुद्धजातित्वलक्षणः पदार्थरूपो हेतुः ॥ हेत्वलंकारेणेति । काव्यलिङ्गेन ॥

'स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धेन बलं लब्ध्वा स्मरः सुरतसंगरे जयति ॥' [छाया] स्मर

णवपुण्णि[115]मामियङ्कस्स सुह[116]यं को तं सि भणसु मह सच्चम ।
का सोहग्गसमग्गा [117]पओसरअणिव्व तुह अज्ज ॥८९॥ (१४)

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति [118]नवेत्यादि—[119]पओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु [120]व्यज्यते ।

सहि [121]णवेनिहुयणसमरम्मि [122]अङ्कवाली [123]सहिएँ णिबिडाए ।
हारो णि[124]वारिओ ज्जिअ [125]उव्वयरन्त [126]तदो कहं रमिअम् ॥९०॥(१५)

अत्र वस्तुना [127]हारच्छेदादनन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत्तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः [128]कथंपदगम्यः ।

पविसन्ती घरबारं विवलिअवअणा विलोइ[129]ऊण पहम् ।
[130]खन्धा घेत्तूण घडं हाहा [131]णट्ठोत्ति रुअसि सहि किं[132] ति ॥९१॥

अत्र हेत्वलंकारेण संकेतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि [133]तदापरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु[134] किंतिपदव्यङ्ग्यम् ।

यथा वा—

विहलङ्खलं तु[135]अं सहि दट्ठूण [136]कुडेण तरल[137]तरदिट्ठिम् ।
वारप्फं[138]सामिसेणं अप्पा [139]गुरुओत्ति [140]पाडिय [141]विहिण्णो ॥९२॥ (१६)

इव स्मरः । स ह्यभिलाषमुत्पादयति ॥ कविप्रौढोक्तीति । कवेरेव समयितव्यवस्त्वर्पणकुशलोक्तिः ॥

'नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य कस्त्वमसि', 'प्रदोषरजनीव का तवाद्य' । प्रदोषरजन्यां हि क्षणमात्रं प्रथममनुरक्तश्चन्द्रो भवति । अत्र कविना खण्डिता वक्त्री या निबद्धा तत्प्रौढोक्त्या निष्पन्नेन वाच्येन वस्तुरूपेण 'तस्यां त्वं प्रागेव रक्तः' इति वस्तु नवपूर्णिमामृगाङ्कस्येति 'प्रदोषरजनी वा' इति पदप्रकाश्यमर्थशक्तिमूलतया व्यज्यते ॥

अङ्कपाली आलिङ्गनम् । सैव सखी । तया निबिडयान्तरङ्गया च हारो निवारित एवोद्‌ध्रियमाणोऽधिकीभवन् स्पर्शविघ्नहेतुत्वात् । घनालिङ्गनेन हारस्त्रोटित इत्यर्थः । एतावत्तु मयापि दृष्टं, ततः कथं रमितम् ॥ अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरेण व्यञ्जकेन वस्तुरूपेण कथमिति पदद्योत्योऽर्थशक्तिमूलतया हारच्छेदनानन्तरभाविनो रतस्याधिक्यमिति व्यतिरेकालंकारो व्यज्यते ॥

'विशृङ्खला त्वां दृष्ट्वा घटेन द्वारस्पर्शमिषेणात्मा गुरुक इति पातयित्वा

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसंकेतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारराघातव्याजेन बुद्धिपूर्वकव्याकुलया त्वया घटः स्फोटित इति मया चेतितं तत्किमिति नाश्वसिषि तत्समीहितसिद्धये व्रजाहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्य इति द्वारस्पर्शव्याजेनेत्यपह्नुत्या वस्तु ।

जोह्णाए महुरसेण अ वियण्णतारुण्णऊसुअमणा सा ।
वुड्ढावि णवोढव्व परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥९३॥

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः । एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद् भेदाः ।

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥४२॥

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ । तथा च—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले ॥९४॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ॥९५॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥९६॥

विभिन्नः ।' स्पर्शव्याजेनेत्यत्र व्याजपदेऽपह्नुतिः । कविना या निबद्धा वक्त्री सखी तत्प्रौढोक्त्या 'श्वश्रूं ते बोधयिष्ये' इति वस्तु ध्वनति ॥

'ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्या उत्सुकमना वृद्धापि नवोढेव हरति' इत्युत्सुकयति । अत्र कविनिबद्धा या विदग्धा वक्त्री तत्प्रौढोक्तिनिष्पन्नेन काव्यलिङ्गेनार्थशक्तिमूलतया परवधूपदद्योत्यः प्रतिषेध इवेष्टस्येति निषेधरूप आक्षेपालंकारो व्यङ्ग्यः ॥

प्रबन्धेऽपीति । विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्यभेदे अर्थशक्तिमूला द्वादश भेदाः प्रबन्धेऽपि निमित्तभूते व्यञ्जके सति व्यङ्ग्यतया ज्ञेयाः । तत्रार्थः स्वतःसंभवी कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नस्तन्निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरो वा वस्तु वालंकारो वासौ प्रत्येकं वस्त्वलंकार व्यञ्जक इति द्वादश भेदाः ॥

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं बालास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥९७॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्तननिष्ठं चेति प्रबन्ध एव प्रथते। अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थगौरवभयान्नोदाहृताः। स्वयं तु लक्ष्यतोऽनुसर्तव्याः । अपिशब्दात्पदवाक्ययोः ।

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंबिअं जअइ ॥९८॥

कालधर्मं मरणम् ॥ प्रबन्ध एवेति । प्रबन्धप्रतिपाद्येन ह्यर्थेन गृध्रगोमाय्वोर्भक्षणाभिप्रायो व्यज्यते । स चाभिप्रायः शान्तरसनिष्ठ एव । यथा वा मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु ॥ अन्ये त्विति । वस्तुनोऽलंकारव्यञ्जकत्वेऽलंकारस्य च प्रत्येकं वस्त्वलंकारव्यञ्जकत्वे इत्यादयः ॥ यथा पदे वाक्ये चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसादिध्वनिस्तथा पदांशादिष्वपीत्याह—पदैकदेशेति । पदांशाश्च प्रकृतिः स्यादित्यादि संबन्धकालवचनपुरुषव्यत्ययपूर्वनिपातविशेषविभक्तितद्धितोपसर्गनिपातसर्वनामप्रातिपदिकाव्ययीभावकर्मभूताधारादिविशेषाः । रचना शब्दार्थगता संघटनाऽसमासा मध्यमसमासा दीर्घसमासेति त्रिधा । यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिरेव रसास्वादे निबन्धनं, तथापि ते विभावादयो यदा विशिष्टेन केनापि पदांशादिनार्प्यमाणा रसचमत्कारविधायिनो भवन्ति तदा पदांशादीनामसौ महिमा । तथा वर्णानामपि श्रुतिसमयोपलक्ष्यमाणोऽर्थानपेक्ष्यपि श्रोत्रैकग्राह्यो मृदुपरुषात्मा स्वभावो रसास्वादे सहकार्येव । अत एव वर्णेष्विति निमित्तसप्तमी । तेषु सत्स्वित्यर्थः ॥ एवं पदेऽप्यन्य इत्यत्रापि सप्तमी ॥ वर्णादीनां निमित्तत्वमात्रमेव विभावादिसंयोगाद्धि रसनिष्पत्तिरित्युक्तम् । वर्णाश्च स्वरूपमात्रमेवाभिदधतः श्रोत्रेन्द्रियपथप्राप्ता एव रसमभिव्यञ्जन्तीति अभिधात्र मूलमस्त्येव ॥ रसादय इति । रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावसंध्यादयः । रतिकेलिहृतनिवसनश्चासौ करकिसलयरुद्धनयनयुगश्च तस्य समानेऽपि स्थगनप्रयोजने साध्ये तुल्ये च लोचनत्वे देव्या परिचुम्बनेन यस्य निरोधः संपाद्यते तद् भगवतस्तृतीयं नेत्रं जयति सर्वोत्कर्षेण

अत्र जयतीति न शोभत इत्यादि । समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव[११३] रूपेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् ।

यथा वा—

प्रेयान्[११४]सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटलसन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥९९॥

अत्र पदानीति न तु द्वा[११५]रादीनीति । तिङ्सुपोर्यथा—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक्सायकान्पुष्पधन्वा
[११६]पुरि पुरि च निवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥१००॥

वर्तत इत्याह—तदेवेति । तृतीयं नेत्रम् ॥

'सशपथम्' इति, अपाकृत इति, पादानत इत्युभयसंबद्धं क्रियाविशेषणम् । करयुगले लसन्ती या वल्लभबन्धनाय नीवी तया । निबन्धः संरोधनं यत्र, कृतः प्रणामः पादपतनं च यत्रेति च धरणक्रियाविशेषणे । 'प्रत्युत' इत्यनेन या किल प्रार्थितासीत् सैवानङ्गीकृतप्रार्थनतया वैमनस्यभाजि प्रियेऽपसरति सति तस्य वनितान्तरसमागमशङ्कया प्रार्थिका जातेति व्यज्यते ॥ एवं च प्रेम्णो विचित्रत्वम् । पदत्रयमेव यावन् न याति तावद् धृत इति प्रेमातिशयो ध्वन्यते ॥ यथा वा 'तद् गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदम्' इत्यादौ । अत्र दिवसार्थेनात्यन्तासंभाव्यमानतास्यार्थस्य ध्वन्यत । 'तद्' इति प्रकृत्यंशश्चात्र । 'नतभित्ति' इत्येतत् प्रकृत्यंशसहायसमस्तामङ्गलभूतां मूषकाद्याकीर्णतां ध्वनति । 'तद्' इति केवलमुच्यमाने ह्युत्कर्षोऽपि संभाव्येत ॥

'पथि' इति । प्रथमतरावतीर्णवर्षासमयसमुल्लसितसुन्दरपदार्थसार्थसमर्थितातुलशक्तिः स्मरः सरसहृदयविधुरताविधायी वर्तते । मानिनीमानदलनदुर्ललितशौर्यविभवे चास्मिन् कुसुमशरनिकरनिपातकातरितान्तःकरणानां मानचर्चापि नाभूत् ॥ किरणस्येति । वर्तमानकालाभिधायी 'ति' प्रत्ययोऽतीतानागतरहितकिरणस्य वर्ण्यमानस्य निष्पाद्यमानत्वेनोत्कर्षं व्यनक्ति ॥ सिद्धत्वमिति । निवर्तनलक्षणधात्वर्थस्य निष्पाद्यमानतामनादृत्य निष्पन्नत्वेनाभिधानं

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वं निवृत्तेति निवर्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च । तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतत्वं द्योत्यते ।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥१०१॥

अत्र[267] लिखन्निति न तु लिखतीति, तथास्त इति नत्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्त इति, भूमिमिति न तु भूमाविति न हि [268]बुद्धिपूर्वकं रूपकं किंचिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम् । संबन्ध[269]स्य यथा—

गाँ[270]मारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण आणामि ।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥१०२॥

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीद्' इति कालस्य । एषा हि [271]भग्नमाहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताँ[272]ण गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाण तस्स पेम्मस्स ।
ताँ[273]ण भणियाण सुन्दरि[274] एरिसअं जाअमवसाणम् ॥१०३॥

चमत्कारकारि परिनिष्पत्तिं यावत्साध्यत्वेनोक्तौ प्रस्तुतस्यार्थस्य दुर्बलः परिपोषः, ततः सिद्धत्वेनाभिधानं निष्पन्नत्वाच्च प्रकृतार्थं पुष्णाति ॥

प्रसादपर्यन्तमास्त इत्यर्थो 'लिखन्'इत्यस्य भवति, न तु 'लिखति' इत्यस्य । सर्वत्र सुबादीनामभिप्रायविशेषाभिव्यञ्जकत्वम् । स तु अभिव्यक्तोऽभिप्रायो यथास्वं विभावादिरूपताद्वारेण रसादीन् व्यनक्ति ॥

'ग्रामरुहा' प्रत्यन्तग्रामजाता ॥ षष्ठ्या इति । यदि हि 'नायरिअपइणो' इत्युच्यते तदा संबन्धमात्रं स्यात् । यदा तु साक्षात् षष्ठी तदा 'नागरिकाणां दक्षस्त्रीणां ये पतयो रागभरतरलितास्तानपि हरामि' इति व्यज्यते । आसीदित्यनेनातीतकालनिर्देशाद् दाशरथेः कथाशेषत्वं व्यज्यते ॥

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते । पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ॥१०४॥

अत्र प्रहासः । पूर्वनिपातनस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते संमतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः ।
ये क्ष्माशक्र पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०५॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि धीर धनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥१०६॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गे तृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।

बहुत्वमित्यनेकभङ्गिवैदग्ध्यं ध्वनद्विप्रलम्भोद्दीपकतामिति । अयं हि वाक्यार्थः । प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावनया विभाव्यमानो रसवान् ॥

चञ्चललोचनायामञ्चिता रुचिर्येन तत्तथेति चेतोविशेषणम् । कश्चिद् निर्वेदवांश्चित्तं प्रत्याह । महिमानं मुक्त्वाबलां विलोक्य प्रहास इति । प्रहासे च मन्योपपदे [? मन्ये—इत्युपपदे] मध्यमः पुरुषो मन्यतेश्चोत्तमः । 'किं त्वमेवं मन्यसे यथाहमनया सह विहरिष्यामि' इति तत्रार्थः ॥

'येषां दोर्बलमेव केवलं, न नीतिमार्गो, दुर्बलास्ते येऽपि पराक्रमरहितास्तैरपि किं कार्यम् । 'पराक्रमनये'ति द्वन्द्वसमासे नयशब्दस्य अल्पस्वरत्वेऽपि पराक्रमस्य प्राधान्येनाच्यर्त्वात् पूर्वनिपातः ॥

'अपवर्गः' फलप्राप्तौ क्रियासमाप्तिः, तत्र तृतीयोक्तेति त्वया जितमिति ध्वन्यते ॥ 'विधुरैः' शत्रुभिः ॥

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं य-
द्गाढोत्कण्ठोल्लुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०७॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१०८॥

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया
किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विपः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्
न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥१०९॥

अत्र तुल्ययोगितोद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य ।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।

'अङ्कैः' इत्यनुकम्प्यैरङ्गाणां सौकुमार्यादि व्यङ्ग्यम् ॥

'पुनर्जन्मनि' इति द्वितीयमात्रे पुनःशब्दः । 'प्रध्वंसाद्' इत्यत्र प्रशब्दः प्रकर्षं द्योतयन् निर्विवेकत्वातिशयं ध्वनति । द्वित्राणामप्युपसर्गाणामेकत्र प्रयोगो रसव्यक्त्यापेक्षयेव, यथा 'प्रभ्रस्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन्' इत्यादौ ॥ तथा

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः ।
योगीश्वरैरप्यसुबोधमीशं त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः स्वतर्कैः ' ॥

अत्र सम्यग्भूतमुपांशु कृत्वा आ समन्तात् चरन्तमित्यनेन लोकानुजिघृक्षातिशयस्तत्तदाचरतः परमेश्वरस्य ध्वन्यते ॥

तुल्ययोगितेति । तुल्ययोगितालंकारस्य वीररसनिष्ठत्वादिति । सैव द्योत्या ॥ 'च' इति निपातस्येति । जातावेकवचनम् । निपातानां च द्योतकत्वं प्रसिद्धमपीह रसापेक्षयोक्तम् ॥ यदाहुः—'स्वातन्त्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठ्यादिलिङ्गसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतका निपाताः' इति । तेषां च द्वित्राणां रसव्यक्त्यर्थं प्रयोगो

बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥११०॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामवचनप्रातिपदिकवचनानां न त्वदिति न मद्दित्यपि त्वस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणो व्यञ्जकत्वं भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन, नत्वभावमुखेनाभिधानस्य ।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥१११॥

अत्रेमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य, तरुणत्व इति धनुषः समीप इति मौलौ वसतीत्यत्र त्वादिभिस्तुल्येऽन्येषां वाचकत्वेऽस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति । एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् ।

यथा—'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' ॥ अत्र 'अहो, बत' इत्यनेन श्लाघातिशयो ध्वन्यते ॥

राघवानन्दे रावणमुद्दिश्य कुम्भकर्णोक्तौ—'राम' इति । रामशब्दार्थो दाशरथिरूपो जामदग्न्यावजयवालिवधादिधर्मान्तरपरिणतः । 'असौ' इति उत्कर्षातिशयशाली । 'भुवनेषु' इति सर्वेष्वेव, न त्वेकस्मिन् । गुणाः षट् सन्ध्यादयः । 'गुणैः' इति बहुवचनमनेकभङ्गिवैदग्ध्यं ध्वनति । तेन सर्वनामादिभिरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो वीररसः प्रकाशितः ॥ न त्वभावमुखेनेति । भाग्याभावादिति नोक्तं, किं तु विपर्ययादिति । ततः सन्त्यस्माकं भाग्यानि, परं तेषामन्यथाभाव इति ध्वन्यते ॥

'तरुणिमनि' इति । भ्रुवोः संबन्धिन्यग्रभागे मदनधनुषः समीपे पठति सतीत्यर्थः । भ्रुवोरग्रं शिष्य इव, मदनधनुश्चोपाध्यायः । तच्च वक्रमिति शिष्यस्यातिवक्रत्वं ध्वन्यते । आधारस्य कर्मतापत्तेर्मौलिमिति । एषामिति इमनिजादीनाम् । स एव व्यञ्जकत्वमिति स एव व्यञ्जकभावः । विभावादिव्यञ्जनद्वारतया पारंपर्येणेत्यर्थः ॥ एवमिति । यथा 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इति बहुवचनं शत्रुशत्रुपक्षावो ममानुचित इति संबन्धानौचित्यं क्रोधविभावं व्यनक्ति । तपो विद्यते यस्येति पौरुषकथाहीनत्वं तद्धितेन मत्वर्थीये नाभिव्यक्तम् । तत्र अपि—शब्देन निपातसमुदायेन तापसस्य सतः शत्रुताया अत्यन्तासंभाव्यमान-

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपेण उदाहरिष्यते । अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु । एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड् भेदाः ।

त्वं व्यज्यत इत्यादि । सर्व एवांशो व्यञ्जकः । अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागादीनामपि व्यञ्जकत्वम् । यथा—

‘ व्रीडायोगान्नतवदनया संनिधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पस्तनकलशयोर्मन्युमन्तर्नियम्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य बाष्प-
मन्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥ ’

अत्र प्रवासविप्रलम्भोद्दीपनं त्रिभागादिशब्दसंनिधौ स्फुटं भातीति ॥ वर्णरचनानामिति । तत्र संघटनामकाशासंलक्ष्यव्यङ्ग्यो यथा ‘चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य’ इति । अत्र दीर्घसमासा संघटना कर्णसरणिमागतैव दीप्तं रसं रौद्रं व्यनक्ति । यद्यप्यत्र वर्णवाक्यादेरपि रौद्रव्यञ्जकता तथापि संघटनापि भवत्येव व्यञ्जिकेति कार्योदाहरणमेतद्, न नियमोदाहरणम् । साक्षाद् माधुर्यादयो रसधर्मा ये गुणास्तद्व्यञ्जकत्वमेव । तद्द्वारेण तु रसस्योत्कर्ष इति वक्ष्यते ॥ प्रबन्धेष्विति । यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिः प्रबन्धे रसादिव्यञ्जकत्वेन निबन्धनम् । शृङ्गारवर्णनेप्सुना हि तादृशी कथा संश्रयणीया यस्यां ऋतुमाल्यादेर्विभावस्य लीलादेरनुभावस्य हर्षधृत्यादेः संचारिणः स्फुट एव सद्भावः ॥ तत्रेति वृत्ते । यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदा तां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेद्, न हीतिहासवशादेव निबद्धव्यं, तत एव तत्सिद्धेः । यदुक्तम्—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा ।
यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभाष[? स]ते ॥

संधीनां च मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपपरिकरन्यासावलोकनादीनां घटनं रसादिव्यक्त्यपेक्षया, यथा रत्नावल्यां धीरललितनायकस्य धर्माद्यविरुद्धसंभोगसेवायामनौचित्याभावाद् राज्यफलानुबन्धिकन्याकामफलोद्देशेन प्रस्तावनोपक्रमे पञ्चापि संधयोऽवस्थापञ्चकसहिताः समुचितसंध्यङ्गपरिपूर्णा अर्थप्रकृतियुक्ता दर्शिता एव, न तु केवलया शास्त्रस्थिति-

भेदास्तदेकपञ्चाशत्

व्याख्याताः ।

तेषां चान्योन्ययोजनम् ॥४३॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद् भेदा भवन्ति यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन संकरेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने ।

वेदखाब्धिवियच्चन्द्रा १०४०४

शुद्धभेदैः सह ।

शरेषुयुगखेन्दवः १०४५५ ॥४४॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

संपादनेच्छया । यथा वेणीसंहारे 'समीहा रतिभोगार्थं विलासः परिकीर्तितः' इति विलासाख्यस्य प्रतिमुखसंध्यङ्गस्य प्रकृतवीररसबन्धाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम् । उद्दीपनप्रशमने च प्रबन्धे व्यञ्जके, यथावसरमन्तरा रसस्य । उद्दीपनं विभावादिपूरणया, यथा 'अयं सो राया उदयनो' इति सागरिकायाः । प्रशमनं वासवदत्तातः पलायने । पुनरुद्दीपनं चित्रफलकोल्लेखे । प्रशमनं सुसंगताप्रवेश इत्यादि । अनवसरपरिमृदितो हि रसः कुसुमवत् झगिति म्लानिमेति, विशेषतस्तु शृङ्गारः ॥ एवं रसादीनामिति । रसभावतदाभासभावशान्त्यादीनां पदैकदेशरचनावर्णप्रबन्धेषु व्यङ्ग्यत्वाच्चत्वारो भेदाः । पूर्वगणिताभ्यां तु वाक्यपदप्रकाशलक्षणाभ्यां षड् वाक्ये पदे च रसादय इत्युक्तम् ॥४२॥

एकपञ्चाशदिति । वाक्येऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादयो अष्टादश, पदे सप्तदश, प्रबन्धे चार्थशक्तिमूला द्वादश । रसादीनां तु पदांशरचनावर्णप्रबन्धप्रकाश्यत्वाच्चत्वारः । सर्वमीलने शुद्धा एकपञ्चाशद् ध्वनिभेदाः ॥ तत्र लक्ष्ये ध्वनिर्भवन्नेकाकी वा भवति स्वप्रभेदैः संसृष्टो वा स्वप्रभेदैः संकीर्णो वेत्याह—तेषां चेति ॥ स्वप्रभेदैरिति । एकपञ्चाशतां शुद्धानां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता गुणने जातानि षड्विंशतिशतान्येकाधिकानि २६०१ । तेषां पुनरपि ससंदेहत्वेनाङ्गाङ्गिभावेनैकवाचकानुप्रवेशेनेति त्रिधा संकरेण संसृष्ट्या चैकविधयेति चतुर्भिर्गुणनम् । शुद्धाभेदैरित्येकपञ्चाशता । तत्र स्वप्रभेदद्वयसंकीर्णः संशयास्पदत्वेन । यथा

छ[२९४]णपाहुणिआ देय[२९५]रे जायाए सुहय किंपि दे भणि[२९६]या ।
रुअइ पडोह[२९७]रवलहीहरम्मि अ[२९८]णुणिज्जउ व[२९९]राची ॥११२॥

अत्रानुनयः किमुपभोगल[३००]क्षणार्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोग एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति संदेहः । त[३०१]था—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

' छणपाहुणिय 'इति । क्षण इत्युत्सवः । तत्र निमन्त्र्याहूता । ' हे देवर, एषा ते जायया किमपि भणिता रोदिति शून्यवलभीगृहे । अनुनीयतां वराकी । ' सा तावद्देवरानुरक्ता तज्जायया विदितवृत्तान्तया किमप्युक्तेति उभयतः कलहयितुं भ्रातृजायाया एषा उक्तिः ॥ अनुनय इति । ' एकान्तोचितेन संभोगेन परितोष्यताम् ' इत्येवंरूपेऽर्थान्तरे वाच्यस्य संक्रमणम् । असाध्व्यां चानुनयस्यानुपयोगाद् मुख्यार्थबाधः । यदि वा ' त्वं तावदस्यामेवानुरक्तः ' इतीर्ष्याकोपतात्पर्याद् अनुनयनमन्यपरं विवक्षितम् । अनुनयशब्दार्थौ हि घण्टाघातायते। उपभोगश्चानुरणनायते। उभयथा च स्वाभिप्रायप्रकाशनादेकतरनिश्चये साधकबाधकप्रमाण[णा]भावाद् अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्ययोः संदेहेन संकरः । विवक्षितस्य हि स्वरूपस्थस्यैवान्यपरत्वम् । संक्रान्तिस्तु तस्यैव तद्रूपतापत्तिः ॥

' स्निग्धश्यामले'ति । स्निग्धया जलसंबन्धसरसया श्यामलकान्त्या लिप्तमाच्छुरितं नभो यैः । वेल्लन्त्यो जृम्भमाणाः महर्षदर्शाद् बलाकाः सितपक्षिविशेषा येषु सत्सु । एवंविधा मेघाः, अतो नभस्तावद् दुरालोकं वर्तते । दिशोऽपि दुःसहाः, यतः सूक्ष्मजलोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम् । तर्हि गुहासु क्वचित् प्रविश्यास्यतामित्याह । पयोदानां ये सुहृदस्तेषु सत्सु शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः, ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं स्मरयन्ति, स्वयं च दुःसहा इति भावः ॥

एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद् रतेर्विभावानां साधारण्यमभिमन्यमान इत एव प्रभृति हृदये प्रियां निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं

कामं सन्तु दृढं [४०२]कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं [४०३]सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥११३॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति चात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यानु-

---

तावदाह 'कामं सन्तु'इति। 'दृढम्'इति सातिशयम्। 'कठोरहृदयः' इति। रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदय-पदम्। यथा 'तद्गेहम्' इत्युक्तेऽपि 'नतभित्ति'इति। अन्यथा राम-पदं दशरथकुलोद्भवत्वकौशल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेत्। 'अस्मि'इति स एवाहं भवामीत्यर्थः। 'सर्वं सहे' इति। सर्वार्थस्य सहने कर्मभावेन विशेषणतयोपात्तस्योत्कर्षाधायितया प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् न तेन सह कृद्वृत्तौ न्यग्भावः कृतः, वनवासादेरपि सर्वार्थान्तःपातित्वात्। प्रत्ययोत्पत्तौ तु न्यग्भूतकर्मभावः। सहने कर्त्रंश एव स्फुटीभवेद्, न कर्मांशः, तत्रैव प्रत्ययोत्पत्तेस्ततो विमृष्टविधेयांशत्वं दोषः स्यात्। वाक्ये तु यद्यपि शाब्दं क्रियायाः प्राधान्यं, तथापि विवक्षाकृतसाधनानामपि तत् प्रतीयत एव॥ 'वैदेहि' इति। सहजसौकुमार्यसमर्थकं मेघकालोचितसुन्दरपदार्थदर्शनासहत्वेन तस्याः कातरत्वं सूचयति। एतदेव पूर्वस्माद् विशेषाभिधायिनः तु-शब्दस्य जीवितम्। 'भविष्यति'इति क्रियासामान्यम्। तेन 'किं करिष्यति'इत्यर्थः। अथ च भवनमेवास्या असंभाव्यमिति उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां सकलजलधरादीनां उद्दीपनविभावानां साधारणत्वावधारणादिना स्मरणेन 'वैदेहि'इति शब्देन कथं भविष्यतीति विकल्पपरंपरया च प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फुटनोन्मुखीं ससंभ्रममाह 'हहाहे'ति। 'देवि'इति। कृताभिषेका हि देवी। तस्याश्च राजवत् युक्तं धैर्यमित्यर्थः॥

संसृष्टिरिति। लिप्तशब्देन कान्तेः कुङ्कुमादिवल्लेपसाधनत्वाभावाद् बाधितमुख्यार्थेन स्वार्थगतेपत्तिरोधीयमानत्वादिर्यो धर्मस्तत्सदृशेषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मयोगात् कान्तिसंपृक्तोऽर्थो लक्ष्यते। एवं सुहृच्छब्देनापि पयोदानामचेतनत्वेन मैत्रीसंबन्धाभावाद् बाधितमुख्यार्थेन सुहृद्गता ये सौमुख्यादयो धर्मास्तत्सदृशसांमुख्यादिधर्मयोगिनः पयोदाभिमुखा मयूरा लक्ष्यन्ते। ततो वाच्यस्यानुपपद्यमानत्वाद् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वन्योर्द्वयोरपि स्वप्रधानत्वात् परस्परनिरपेक्षा तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टिः॥

ताभ्यां सहेति। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्याभ्यां रामशब्दस्यापि प्रतिपन्नत्वात्

ग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरस[२०४]ध्वन्योः संकरः । एवमन्यदप्युदाहार्यम्[२०५] ।

काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयश्चतुर्थ उल्लासः ॥४॥

संज्ञिनो वाच्यमनुपयुक्तमिति मुख्यार्थबाधे । तद्धर्मसमवाये च रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति । व्यङ्ग्यं तु धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनवनवाससीतापनयनाद्यसंख्येयं, तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेण अशक्यसमर्पणम् । यदुक्तम्—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥

एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः । ततो रामशब्दस्य वाच्यं दाशरथिरूपं व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतमिति स्वपरत्वेनानुपात्तत्वाद् अविवक्षितवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य पदप्रकाशस्य ध्वनेरनुग्राह्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्याभ्यामनुग्राहकाभ्यां सह संकरस्तथाभूतदुःसहविभावसहनं ह्यनुग्राहकमर्थान्तरसंक्रमणस्य । तथा एकस्मिन्नेव रामपदे व्यञ्जकेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः आलम्बनोद्दीपनविभावो दैन्याद्यनुभाव आवेगादिव्यभिचारी विप्रलम्भरसध्वनिश्च । न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसहायकेन विना संरम्भोल्लास इति तयोरेकव्यञ्जकानुप्रवेशेन क्षीरनीरन्यायेन संकरः ॥ एवं शुद्धस्य ध्वनेः स्वप्रभेदं प्रति चत्वारो भेदा दर्शिताः ॥४३॥

इति भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते
चतुर्थ उल्लासः ॥

अथ पञ्चमोल्लासः ।

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य प्रभेदानाह—

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति । अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव । अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेव तप्त-
सूचिव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन् न संप्रति भवामि किमावहामि ॥११४॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥११५॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये उत्तमं काव्यं ध्वनिरित्युक्तं, गुणभावे च वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम मध्यमः काव्यभेदो, 'अतादृशि गुणीभूते 'इत्यादिना सामान्येन लक्षितस्तस्य विशेषानाह–अगूढमिति । व्यङ्ग्यं च वस्त्वादित्रयम् । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्येभ्यः शब्देभ्यो वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता, यथा 'यस्यासुहृद् 'इति । 'यस्य ' इति 'मे' 'काञ्चीगुण'इति 'स्त्री'इत्यर्थः । अत्र 'जीवन्'इति स्वार्थस्यानुपयोगाद् जीवत्कार्याकरणलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितवाच्यस्तस्य च व्यङ्ग्यमतिस्फुटत्वेनाप्रधानं, वाच्यस्यैव चमत्कारकारित्वाद्, झगिति पराक्रमरहितत्वं प्रतीयत इत्यगूढव्यङ्ग्यता ॥

'चुम्बनस्य 'इति । चुम्बनं हि वक्त्रसंयोगः । स चानुपपन्न इत्यत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वं चुम्बनेन पदस्पर्शसंभावनां लक्षयता हृद्यत्वं शोभावहत्वादि च स्फुटमेव प्रतीयत इत्यगूढता ॥

अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥११६॥

अत्र 'केनाप्यत्र' इत्यर्थशक्तिमूलानुस्वानरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तपाठः ।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्याङ्गं रसादि, अनुरणनरूपं वा ।

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥११७॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११८॥

अत्र रसः ।

'अत्रासीद्' इति । रामः सीतां प्रत्याह । 'केनापि' इत्युक्ते 'मया' इति व्यङ्ग्यं झगित्येव प्रतीयत इत्यगूढता । 'तस्याप्यत्र' इति तु पाठे 'मया' इति व्यङ्ग्यं गूढं स्यात् ॥

रसादेरिति । रसाभावतदाभासभावशान्त्यादेः वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य वस्त्वलंकाररूपस्याङ्गिनोऽङ्गं रसभावादि ॥ अनुरणनरूपं वेति । अलंकारवस्तुरूपं गुणीभूतमेवापराङ्गत्वात् ॥

रसो रसस्याङ्गं यथा 'अयम्' इति । 'रशनां' मेखलाम् । संभोगावसरे ऊर्ध्वं कर्षतीति । शृङ्गार इति । समरभुवि पतितकरावलोकनेन प्राक्तनसंभोगवृत्तान्तः स्मर्यमाण इदानीं विध्वस्ततया यतः शोकविभावतां प्रतिपद्यते, अतः करुणस्य वाक्यार्थीभूतस्याङ्गिनोऽङ्गभूतो विप्रलम्भशृङ्गारः । रसादेर्व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे रसवदाद्यलंकारविषय इत्युक्तमित्यत्र रसवदलंकारः ॥

भावस्य रसोऽङ्गं, यथा 'कैलास' इति । प्रणते महेशे गौर्याः कोपकृता लोचनारुणता ययाविति तात्पर्यार्थः ॥ अत्र कवेर्देवताविषयरतिभावस्य

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११९॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

बन्दीकृत्य नृपद्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥१२०॥

अत्र भावस्य रसाभासभावाभासौ प्रथमद्वितीयार्धद्योत्यौ ।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥१२१॥

शृङ्गारोऽङ्गम् । अत्रापि रसवदलंकारो यतो विप्रलम्भस्यालंकारत्वं, न तु वाक्यार्थता । भावध्वनेश्चात्मभूतस्यालंकार्यत्वम्, यथा चन्द्रादिना वस्तुना वस्त्वन्तरं वदनाद्यलंक्रियते तदुपमितत्वेन चारुतयावभासात्, तथा रसादिनापि रसाद्युपस्कृतं सुन्दरं भातीति रसादेरपि वस्तुन इवालंकारत्वम् । यथा चोपमादिभिरुपमीयते प्रस्तुतोऽर्थस्तथा रसादिनापि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत् ॥

रतिभावस्येति । राजप्रभावख्यापने कवेरतितरां रतिस्तस्याश्च भूविषयरतिरेव स्थायी भावोऽङ्गम् । न चात्र शृङ्गारः परस्परास्थाबन्धात्मिकाया रतेरभावात् । ततोऽत्रालंकारः प्रेयस्वत्, प्रेयः प्रियतराख्यानं विद्यते यत्र निबन्धने । एवं रसवदपि निबन्धनमेव ॥

'पश्यताम्' इत्यनादरे षष्ठी । पश्यतः प्रियाननादृत्येत्यर्थः । भावस्येति । शत्रुस्त्रीणां रत्यभावे सैनिकानामनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् रसाभासः । शत्रूणां चानुचितं दैन्यादीति द्वितीयेऽर्धे भावाभासः, तौ च राजविषयस्य रतिभावस्याङ्गम् । अत्र अलंकार ऊर्जस्वि, अनौचित्यप्रवृत्तत्वाद्, ऊर्जो बलं विद्यते यत्र निबन्धने । यदाह—

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥

भावस्य भावशान्तिरङ्गं, यथा 'अविरले'ति । अत्रापि राजविषयरति-

अत्र भौवस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥१२२॥

अत्र त्रासस्योदयः ।

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥१२३॥

अत्रावेगधैर्ययोः संधिः ।

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कंचित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥१२४॥

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

भावस्य मदलक्षणव्यभिचारिभावप्रशमोऽङ्गम् । अत्र भावपरिहाररूपं समाहितमलंकारः, प्रशमसमाहितशब्दयोरेकार्थत्वात् ॥

भावोदयो भावस्याङ्गं, यथा 'साकम्' इति । अत्रारीणां विषमावस्थया त्रासलक्षणभावोदयो रतेरङ्गम् । अत्र भावोदयनामालंकारः ।

'असोढे'ति । 'तपो मुञ्चत्वेषा' इति भगवतोपेक्षितमित्यसहनत्वं तपसः । विश्रब्धजल्पितमस्याः शृणोमीति च रसिकः अभियुक्त उद्योगेनाक्षिप्तः । अत्रावेगधैर्ययोः स्पर्धिभावेनोपनिबन्धः शिवविषयाया रतेरङ्गम् । अत्र भावसंधिरलंकारः ।

'पश्येत् कश्चिद्'इत्याशङ्का । 'चपल रे चल गच्छ'इत्यसूया । 'का त्वरा'इति धृतिः । 'अहं कुमारी'इति स्मृतिः । 'हस्तालम्बं वितर' इत्यौत्सुक्यम् । 'हह'इति श्रमः । 'हा'इति दैन्यम् । 'व्युत्क्रमः' इति विबोधः । 'क्वासि यासि' इत्यौत्सुक्यम् । एषां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः । सबलता राजविषयरतेरङ्गम् । भावशबलतैवालंकारः । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थेऽङ्गभूतो रसादिर्गुणीभूतो रसवदाद्यलंकार

एते च रसवदाद्यलंकाराः। यद्यपि भावोदयसंधिशबलत्वानि नालंकारतयोक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्। यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयो यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह संकरः संसृष्टिर्वा नास्ति तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृताऽलंकाभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥१२५॥

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो

इति यदुक्तं तदिहोदाहृतमित्याह—एते चेति॥

ननु गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावतात्पर्यपर्यालोचनेन पुनर्ध्वनिरेव संपद्यते, इति ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः सर्वत्र संकरः संसृष्टिर्वेत्याशङ्क्याह—यद्यपीति। अयमर्थः। यद्यस्य चारुत्वप्रतीतिसहायता तदनेन व्यपदेशो, न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भाव्यम्। यथा—

"पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान।"

'अनेन' इति अलक्तकोपरक्तस्य हि चन्द्रस्य परभागभासः। अनवरतपादपतनप्रसादनैर्विना न पत्युर्झटिति यथेष्टानुवर्तिन्या भाव्यमिति चोपदेशः। 'शिरोविधृता च या चन्द्रकला तामपि परिभव' इति सपत्नीलोकावजय उक्तः। निर्वचनमिति लज्जावहित्थहर्षेर्ष्यासाध्वससौभाग्याभिमानादि यद्यपि ध्वन्यते तथापि तद् निर्वचनशब्दार्थस्य कुमारीजनोचितस्याप्रतिपत्तिलक्षणस्यार्थस्योपस्कारकतां याति, उपस्कृतस्त्वर्थः शृङ्गाराङ्गतामेति। निर्वचनमित्युक्त्या च व्यङ्ग्यस्यार्थस्य विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते॥ एवं रसादेर्गुणतां दर्शयति। वाच्यस्य शक्यार्थीभूतस्य शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो व्यङ्ग्योऽलंकारोऽङ्गम्, यथा 'जनस्थाने' इति जनानां स्थानं दण्डकारण्यं च। कनकमृगे तृष्णा भ्रान्तिश्च। 'वैदेही' सीता, 'वै देहि' इति च पदद्वयम्। लंकाभर्तुः रावणस्य, अलं ईषद्रूपत्वात्, कुत्सितस्य भर्तुश्च। वदनेषु दशसु, इषुघटना शरयोजना विचित्रोक्तिपरंपरासु च। कुशलवौ सुतौ यस्याः सा सीता, शुभधनता वा

वाच्यतां नीतः ।

आगत्य संप्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥१२६॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः । वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२७॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

वाच्यतामिति । 'रामत्वम्' इत्यस्य व्यङ्ग्य उपमालंकारोऽङ्गतां नीतः ॥

वाच्यास्यालंकारस्य वस्तुरूपं व्यङ्ग्यमर्थशक्तिमूलानुरणनोपममङ्गम्, यथा 'आगत्य' इति । अत्र समासोक्तौ प्रस्तुतरविकमलिनीवृत्तान्तस्य प्राधान्यं तस्य नायकवृत्तान्तो वस्तुरूपोऽर्थपर्यालोचनेनागतोऽङ्गम् ॥ निरपेक्षेति । न हि रविकमलिन्यौ नायकनायिकावृत्तान्तमपेक्षेते रविकमलिन्योर्नायकनायिकावृत्तान्तोऽर्थादापतित इत्यर्थः ॥ अध्यारोपेणैवेति । न ह्यत्र वाच्य इव प्रतीयमानोऽर्थो वाक्यार्थतां लभते विशेष्याभिधायिनोरुभयार्थप्रतिपादकत्वाभावात् । वाच्यसंस्कारकत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितेर्वाच्यस्यैव प्राधान्यम् । 'गावो वः पावनानाम्' इत्यादौ तु विशेष्यपदमप्युभयार्थाभिधायीति वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयत्वं व्यङ्ग्यमित्यलंकारस्य प्राधान्ये ध्वनिरेव । तदुक्तम्—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥

'भ्रमिः' चित्तस्यानवस्थितत्वम् । 'अरतिः' बाह्येषु विषयेषु इत्यर्थः । 'प्रलयः' इन्द्रियाणामल्पं सामर्थ्यम् । 'मूर्च्छा' मनस इन्द्रियाणां च शक्तिनिरोधः । 'तमः' सत्येव मनसि इन्द्रियाणामशक्तिः । 'मरणम्' इति । प्राणत्यागकर्तृतात्मिका पूर्वक्रियैव पाशबन्धाद्यवसरगता मरणशब्देनात्र विवक्षिता । प्रकरणाद् 'विषं' जलमपि ॥ सिद्धिकृदिति । हालाहलं वस्तु । व्यङ्ग्यं विना जलद एव भुजग इति भुजगरूपणं न सिध्यति । ततो वाच्यस्य भुजगार्थस्य निर्वाहाय 'विषम्' इति पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलो हालाहलार्थो व्यङ्ग्यो गुणता-

यथा वा—

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥१२८॥

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य । एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेनापरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥१२९॥

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम् । संदिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१३०॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं विलोचनव्यापारणं वा वाच्यं प्रधानमिति संदेहः । तुल्यप्राधान्यं यथा—

मेति । भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः ॥

'अच्युतः' विष्णुः अक्षरणश्च ॥ 'दर्शनेन' इति सुरतसेवाविकलेन । जनस्तावदेकान्तस्थयोरन्यथा मन्यते। भवांस्तु अच्युत उदासीनः, तत् किमात्मानं वद, यावः[?]। आमन्त्रणं उयोत्करणम[?] ॥ वाच्यस्येति । सिद्धौ अङ्गमिति शेषः ॥ वाच्येनैव हि वैदग्ध्यातिशयः प्रतीयते, इति वाच्यादेव चारुत्वसंपत् । वाच्यस्य तु स्वात्मोत्पत्तिः स्वोपस्कारका व्यङ्ग्यात् । वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद् व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम् , अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्येत, स्वतःसिद्धतया अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादित्यर्थः ॥ एतच्चेति व्यङ्ग्यम् । एकत्र भ्रमिमरतिमित्यादौ एक एव कविर्वक्ता । अपरत्र च 'गच्छाम्यच्युत' इति पूर्वार्धे गोपी, अपरार्धे तु कविर्वक्तेत्यनयोरुदाहरणयोर्भेदः ॥

अस्फुटमिति । द्विविधं हि व्यङ्ग्यं स्फुटं चास्फुटं च । तत्र यदेव स्फुटं शब्दार्थशक्त्या प्रकाशमानं तदेव ध्वनेर्मार्गः। इतरत्तु गुणीभूतम् । अतिस्फुटत्वेन च प्रकाशमानमगूढमुक्तम् ॥

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥१३१॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् । काक्वाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१३२॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् । असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणि कोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए वहूइए सीअन्ति अङ्गाइं ॥१३३॥

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात्सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् ॥

संदेह इति । प्रतीयमानवाच्ययोर्द्वयोरप्यतिचमत्कारकारित्वादाधिक्यम् । तत एकतरस्य प्राधान्यं निर्धारयितुं न शक्यत इति संदिग्धम् ॥

तुल्यप्राधान्ये यथा 'ब्राह्मणे'ति । जामदग्न्यो रावणप्रधानपुरुषं प्रत्याह— 'द्विजावज्ञात्यागश्चेत् क्रियते भवद्भिस्तदा भवतां भूतिरेवाहं च मित्रम्' ॥ वाच्यस्य चेति, दौर्मनस्यलक्षणस्य ॥

काक्वाक्षिप्तं यथा 'मथ्नामि'इति ॥ वाच्यनिषेधेति । वाच्यश्चासौ निषेधश्च तत्सहभावेन । शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयाक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्थविशेषप्रतिपत्तिहेतुर्न काकुमात्रमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । न चात्र विपरीतलक्षणा, यत उच्चारणकाल एव न कोपादिति दीप्ततारगद्गदसाकाङ्क्षकाकुबलाद् निषेध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसंधिमार्गाक्षमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतीतिरिति मुख्यार्थबाधाद्यभावात् ॥

असुन्दरमपि व्यङ्ग्यं गुणीभूतमेव, यथा 'वाणीर'इति । 'वानीरा' वेतसवृक्षाः । 'कुडङ्गं' लतागहनम् ॥ वाच्यं सचमत्कारमिति । वाच्यस्यैव स्वात्मोन्मज्जनया निमज्जितव्यङ्ग्यजातस्य सुन्दरत्वेनावभासात् । तथा हि गृहकर्म-

एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥४६॥

यथायोगमिति ।

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालंकारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

सालंकारैर्ध्वनेस्तश्च योगः संसृष्टिसंकरैः ।

सालंकारैरिति तैरिवालंकारयुक्तैश्च तैः । तदुक्तं ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥ इति ॥

व्यापृताया इत्यन्यपराया अपि वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्यबद्धाया अपि। अङ्गानीति । एकमपि न तादृग् अङ्गं यद् गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम् ॥ सीदन्तीति । आस्तां गृहकर्मसंपादनं, स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्ति गृहकर्मयोगे च स्फुटं तथा अलक्ष्यमाणानीति । अस्माद् वाच्यादेव स्मरपारवश्यप्रतीतेश्चमत्कार इत्यर्थः ॥

एषां भेदा इति । शुद्धध्वनिभेदवद् गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपि भेदा इत्यर्थः । किंतु वस्तुना यत्रालंकारो व्यज्यते, न तत्र गुणीभूतत्वम् , यतस्तथाविधव्यङ्ग्यालंकारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम् , अन्यथा तु वाक्यमात्रमेव स्यात् ॥ 'ध्वन्यङ्गता 'इति । ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च तत्रेह प्रकरणाद् व्यङ्ग्यत्वेन ज्ञेया । ततो ध्वन्यङ्गताध्वनिभेदत्वमित्यर्थः । यतः काव्यस्य कविव्यापारस्यै वृत्तिस्तदाश्रयालंकारप्रवणालंकारस्य व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता शङ्क्या ॥४३–४५॥

सालंकारैरिति । शुद्धस्य ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यैः केवलैर्योगोऽलंकारैश्च केवलैरलंकारयुक्तैश्च गुणीभूतव्यङ्ग्यैरिति त्रयः पक्षा इत्याह—तैरिवालंकारैरिति । सगुणीभूतव्यङ्ग्यैरिति । सह गुणीभूतव्यङ्ग्येन सहालंकारैर्ये वर्तन्ते स्वे ध्वनेः प्रभेदास्तैः संसृष्ट्या वानन्तप्रकारो ध्वनिरिति तात्पर्यम् ॥

तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वं यथा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्रकलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ॥

विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

'ये ममैव चित्तस्था ये गोपीनां च नर्मसचिवाः। प्रच्छन्नानुरागिणीनां हि नान्यो नर्मसुहृद् भवति, राधा च नितरां प्रेमस्थानम्' इत्याह–'राधासंभोगानां ये साक्षाद् द्रष्टारस्तेषां यमुनातीरे लतागृहाणां कुशलम्'इति काक्वा प्रश्नः। एवं तं दृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात् प्रबुद्धरविभावो द्वारकागतः कृष्णः स्वगतमौत्सुक्यगर्भमाह–'स्मरतल्पे'ति। 'स्मरशय्याकल्पनार्थं मृदु सुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं स एव साफल्यं तस्मिन् विच्छिन्ने मयि अनासीने का स्मरतल्पकल्पना'इति भावः। अत एवान्योन्यानुरागनिश्चयगर्भमेवाह–'जाने' इति। वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम्। 'अधुना जरठीभवन्ति, मयि तु संनिहितेऽनवरतोक्तोपयोगाद् न इमां जराजीर्णतामापुरित्यर्थः। विगलन्ती नीला त्विड् येषाम्। अनेन अचिरकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यं ध्वनितम्॥ अत्र सुहृच्छब्दे साक्षिशब्दे च अविवक्षितवाच्ययोर्ध्वनिभेदः। 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे। 'ते' इति पदेनासाधारणगुणगणोऽभिव्यक्तोऽपि गुणत्वमवलम्बते, वाच्यस्यैव स्मरणस्य प्राधान्येन चारुत्वहेतुत्वात्। 'जाने' इत्यनेनोत्प्रेक्ष्यमाणानन्तधर्मव्यञ्जकेनापि वाच्यमेव उत्प्रेक्षणरूपं प्रधानीक्रियते॥

तयोः संकरो यथा 'न्यक्कारो ह्ययमेव'इति। अत्र अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य रौद्रस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभिः पदैः संकरः। 'मेऽरयः' इत्यादिभिर्हि विभावादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते वाच्यस्यैव क्रोधोद्दीपकत्वाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता॥

वाच्यालंकारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षया, यथा—

'दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥'

कूजितं च वातान्दोलितसिप्रातरङ्गजमधुरशब्दमिश्रं भवतीति दीर्घत्वम्। विकसितपद्मामोदेन या मैत्री। अत्यासङ्गाद्वियोगोऽन्योन्यानुकूल्यलाभस्तेन कषाय उपरक्तो मकरन्देन कषायवर्णीकृतः प्रार्थनार्थं चाटूनि कारयति,

अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥ ४७ ॥

एवमनेन प्रकारेणावान्तर[४२]भेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना । तथा हि । शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यं, का गणना [४३]तु सर्वेषाम् । संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः । व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात् । तथा हि । किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा । तत्र वाच्यतासहम[४४]विचित्रमिति वस्तुमात्रम् । विचित्रं त्वलंकाररूपम् । यद्यपि प्राधान्येन तदलंकार्यं तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते । रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः । स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाभिधीयेत । न चाभिधीयते । तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे [४५]तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभि-

---

प्रियोऽपि संभोगप्रार्थनार्थं चाटूनि करोति । अङ्गेषु चातुःषष्टिकप्रयोगेष्वनुकूलः । अत्र मैत्रीपदं ह्यविवक्षितवाच्यो ध्वनिः, पदान्तरेषु चोत्प्रेक्षादिः । वाच्यालंकारसंकीर्णत्वं चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालंकारे काव्ये सर्वत्रैव ॥

न केवलं ध्वनेः स्वप्रभेदादिभिः संसृष्टिसंकरौ यावत्तेषामन्योन्यमपीत्याह —अन्योन्ययोगादिति ॥ त्रिरूपत्वादिति । वस्त्वलंकाररसादिरूपत्वात् ॥ किंचिदिति व्यङ्ग्यम् ॥ अन्यथेति । वाच्यतां न सहते । वाच्यत्वस्पर्शाक्षमो रसादिः ॥ वाच्यतासहमिति । अविचित्रविचित्रात्मतया द्विधा । द्वयमपि शब्दार्थाभिधानयोग्यम् । वस्त्वलंकारयोर्वाच्यतायां योग्यतास्तीत्यर्थः, केवलं वाच्यत्वात् । व्यङ्ग्यमत्यन्तं भिन्नम् ॥ वस्तुमात्रमिति । मात्रग्रहणेनैतदाह ' यथा विधिनिषेधतदुभयात्मतारूपेण वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचस्तथा न अलंकारध्वनिरलंकाराणां भूयस्त्वात् ' ॥

ननु यदालंकारो व्यङ्ग्यस्तदा तस्यालंकार्यत्वात् कथमलंकारध्वनिरित्याशङ्क्याह—यद्यपीति ॥ तथेति अलंकारध्वनिः ॥ रसादिलक्षणस्त्विति । तु शब्दो व्यतिरेके । वस्त्वलंकारौ तावच्छब्दाभिधेयत्वमध्यासाते । रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिद् अभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानप्राणतया भान्ति । तत्र ध्वननव्यापाराद् ऋते नास्ति कल्पनान्तरम् । एतदेव स्फुटयन्नाह—सहीति । रसभावादिशब्दसहिते वा काव्ये ' शृङ्गारी गिरिजानने ' इत्यादौ । केवलशृङ्गारहास्यादिशब्दमात्रभाजि वा विभावादिप्रतिपादनरहिते न मनागपि रसत्व-

धानद्वारेणैव प्रतीयत इति निश्चीयते । तेनासौ व्यङ्ग्य एव । मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः । अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोस्तु वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक्प्रतिपादितम् ।

शब्दशक्तिमूले त्वभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य, तेन सहोपमादेरलंकारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् । अर्थशक्तिमूलेऽपि, विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गे यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

प्रतीतिः । यतश्च स्वाभिधानमात्रात् केवलाद् रसादेरप्रतीतिः, रसशृङ्गाराद्यभिधानं विनापि केवलेभ्यो विभावादिभ्यः प्रतीतिश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां न कथंचिद् अभिधेयत्वं रसादीनामिति । तृतीयोऽपि भेदो वाच्याद् दूरं भिन्नः ॥ प्रतीयत इति । प्रतीतिविषय इत्यर्थः । एतेन संवेदनसिद्धत्वमुक्तम् ॥ तर्हि रसादिर्लक्ष्य एवास्त्वित्याह—मुख्यार्थेति ॥ न हि विभावानुभावादौ मुख्येऽर्थ बाधास्ति, येन लक्षणा स्यात् । काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव रसचर्वणादर्शनात् । अत एवालक्ष्यक्रमो रसादिः । अविवक्षितवाच्येऽपि 'त्वामस्मि वच्मि'इत्यादौ वस्तुमात्रं व्यङ्ग्यं, न लक्ष्यमित्याह—अर्थान्तरेति ॥ प्राक्प्रतिपादितमिति । 'सहिता तु प्रयोजने' इत्यादौ लक्षणा ह्यमुख्यार्थविषयो व्यापारो, ध्वननं च प्रयोजनविषयम् । ततो मुख्यार्थबाधादिसामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरिति वस्तुनोऽपि व्यङ्ग्यस्य न लक्ष्यत्वम् ।

शब्दशक्तिमूले त्विति । शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ 'गावो वः पावनानाम्'इत्यादौ प्रकरणनैयत्येन अनभिधेयस्य सुरभिलक्षणस्यार्थान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वम् । तेन सहोपमावाचकपदविरहेऽप्युपमाप्रतीतिश्च ॥ न युज्यत इति । समयो हि तावत्येव, न विशेषांशे आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च एकस्य ॥ सामान्यरूपाणामिति । सामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तानाम् । यदुक्तम्—'सामान्ये हि पदं वर्तते, विशेषे वाक्यम्'इति ॥ संसर्ग इति । विशेषणविशेष्यभावलक्षणे परस्परानुकूल्येऽन्वये ॥ अपदार्थोऽपीति, अनभिधेय इत्यर्थः ॥ विशेषरूप इति । 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात् । अपि-शब्दो भिन्नक्रमे । ततो

येऽप्याहुः ।

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्यैवं बुध्यन्ते संबन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

इति प्रतिपादितदिशा 'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगे देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सत्यनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्न इति तच्चेष्टयानुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणसंबन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते । परतः 'चैत्र गामानय', 'देवदत्ताश्वमानय' 'देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थै-

---

वाक्यार्थोऽपि यत्र अपदार्थोऽनभिधेयस्तत्र अभिहितानां पदार्थानामुत्तरकालमन्वयं परस्परानुकूल्यलक्षणं वदतां मते व्यङ्ग्योऽर्थोऽनभिधेय एव ॥

येऽपि इत्यन्विताभिधानवादिनः ॥ शब्देति । शब्दाश्च वृद्धाश्चाभिधेयानि च । वृद्धेषु व्यवहारमाणेषु किंचिद् व्युत्पन्नाः पार्श्वस्थाः शब्दं तावत् श्रोत्रप्रत्यक्षेण प्रतिपद्यन्ते । वृद्धौ व्यवहरमाणावभिधेयं च घटाद्यर्थम् । चक्षुषा ततः श्रोतुर्वृद्धस्य प्रतिपन्नत्वमर्थानयनादिलक्षणचेष्टाहेतुकानुमानेनावगच्छन्ति । ततो वृद्धबुद्ध्यन्यथानुपपत्त्या शब्दे प्रतिपादिकां शक्तिमर्थे च प्रतिपाद्यामित्येवं त्रिप्रमाणं संबन्धमर्थापत्त्यैवावबुध्यन्ते । साक्षाच्छक्तिविषयत्वेन हि व्यापाराद् अर्थापत्तेः कारणता पूर्वयोस्त्विति कर्तव्यतारूपतेत्यभिप्रायः ॥ तच्चेष्टयेति । मध्यमवृद्धचेष्टया ॥ तत्रेति । वाक्यवाक्यार्थविषये । व्यवहर्तृगतयोः शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्त्योरविभक्तौ देशवाक्यवाक्यार्थनिष्ठतया पूर्वं हेतुफलभावावसायो भवतीत्यर्थः ॥ परत इति तदनन्तरम् । 'देवदत्ताश्वमानय' इत्यत्र चैत्रस्योद्वापो देवदत्तस्यावापो, गोरुद्वापोऽश्वस्यावापः । 'देवदत्त गां नय' इत्यत्र तु आनयननयनक्रिययोरुद्वापावापौ ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति । पदानां संकेतो गृह्यत इति योगः ॥ प्रवृत्ति[निवृत्ति]कारीति । वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धावसायः । स च वृद्धव्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः । प्रवृत्तिनिवृत्ती च विशिष्टार्थनिष्ठे, अतो

रन्वितानामेव संकेतो गृह्यत इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् । यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययनेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्त इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः संकेतगोचरस्तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते, व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः । तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य 'निःशेषच्युत'इत्यादौ विध्यादेश्चर्चा । अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये ।

विशिष्ट एवार्थे पदानां संबन्धावसायः ॥ वाक्यमेवेति । अनन्वितार्थं पदमप्रयोज्यमिति प्रयोगयोग्यं वाक्यमेव, तत्रैव संकेतो गृह्यत इत्यपरपदार्थान्वित एव पदार्थः संकेतगोचरः । बालो हि व्युत्पाद्यमानः प्रयोज्यवृद्धस्य शब्दश्रवणसमनन्तरभाविनीं विशिष्टचेष्टानुमितां शब्दकारिकां प्रतीतिमन्वितार्थविषयामवगच्छन्नन्वित एव अर्थे पदानामभिधानसामर्थ्यमवधारयतीत्याह—विशिष्टा एवेति । अन्वितानां विशिष्टानामेव पदार्थानामभिधेयत्वम् । वाक्यार्थो हि क्रियाकारकसंसर्गरूपः । कारकाणां च क्रियासंबन्धोन्मुखतया क्रियाणामपि कारकविरहासहिष्णुत्वेन अन्वितानामेव स्वशब्दैरभिधानं भवतीत्यर्थः ॥ न तु पदार्थानामिति । सामान्यभूतत्वेन अभिहितानां पदार्थानां पश्चान्न वैशिष्ट्यमित्यर्थः ॥ यद्यपीति । संकेतगोचर इति योगः ॥ तान्येवैतानीति । यानि वाक्यान्तरे दृष्टप्रयोगाणि ॥ व्यतिषिक्तानामिति । वाक्यस्यैव प्रयोगार्हत्वात् पदार्थान्तरैरन्वितानाम् । तथाभूतत्वादिति । सामान्यावच्छादितविशेषरूपत्वात् ॥ सामान्यविशेषरूप इति । सामान्यानि अन्तःकृताशेषविशेषाणि भवन्तीति तत्प्रतीतिनान्तरीयकतयैव विशेषसद्भावः । यदाहुः—

निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ॥

ततः सामान्यावच्छादितो विशेष एव संकेतस्य विषयः । ततश्च सामान्यभूतः पदार्थोऽसमितत्वाद् अनभिधेय इत्याह अतिविशेषभूत इति । विशेषमतिक्रान्तोऽतिविशेषः, तं भूतः प्राप्तोऽतिविशेषभूतः सामान्यः पदार्थः । यत्र तु सामान्यरूपोऽपि पदार्थो न वाच्यस्तत्र कैव कथा व्यङ्ग्यस्य विध्यादेरर्थान्तरस्य वाच्यतायाम् ॥ एवं संकलय्य पक्षद्वयेऽपि सिद्धान्तमाह—अनन्वितोऽर्थ

पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने। अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एवेत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

यदप्युच्यते नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्त इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा। शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्। ज्ञापकत्वं त्वज्ञातस्य कथम्। ज्ञातत्वं च संकेतेनैव। स चान्वितमात्रे। एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथम्। इति नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्त इत्यविचारिताभिधानम्।

ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव "दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति, यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, "तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः। तथा हि। भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इति कारकपदार्थाः

इति ॥ अन्वितविशेषस्त्विति। वाक्यार्थस्तु अपदार्थ एवेति योगः। कीदृशो वाक्यार्थोऽन्वितविशेषः। अन्वितविशेषो यत्र स तथा, समग्राङ्गसंपूर्ण इत्यर्थः। यतोऽवाच्यस्ततः पक्षद्वयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः॥

यदपीति। अन्विताभिधानवादिभिरेव प्राभाकरैः॥ नैमित्तिकार्थेति। वाक्यार्थतात्पर्यानुसारेण निमित्तानि पदार्थाः कल्प्यन्ते, ततो नैमित्तिक एवायं न व्यङ्ग्य इति भावस्तेषाम्॥ अन्वितमात्र इति। सामान्यावच्छादितविशेषरूपे॥ एवं चेति। निमित्तेषु संकेत इति, नैमित्तिकेऽर्थे संकेताकरणात् कथं तस्य साक्षात्प्रतिपत्तिः, तस्मिंश्चाप्रतिपन्ने कथं पदार्थावगमानां नियतनिमित्तभावः। ततो न किंचिदेतत्॥ इषोरिवेति। यथा इषुरुरश्छदमुरश्च भित्त्वा जीवितं गृह्णाति, न च प्रवृत्तिभेदः कश्चित्, तथा शब्दस्याभिधाव्यापार एवैकः स्वार्थमर्थान्तरं च गमयतीति न व्यापारभेदः॥ यत्पर इति। अभिधा हि यत्पर्यन्ता तत्रैवाभिधायकत्वमुचितम्। तत्पर्यन्तता च प्रधानीभूते व्यङ्ग्य इति ध्वनेर्यन्निरूपितं रूपं तत्रैव अभिधाव्यापारेण भवितुं युक्तम्। ततो व्यङ्ग्यस्य विधेः प्राधान्ये वाच्यत्वमेव न्याय्यमिति तात्पर्यवादिनः॥ तदपि नेत्याह—तदतात्पर्यज्ञा इति। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यस्य अभिप्रायं न बुध्यन्त इत्यर्थः॥ एतदेव व्याचष्टे—तथा हीति॥ भूतभव्येति। प्रमाणान्तराद् अवगतम्, अत एव भूतं सिद्धम्। प्रमाणान्तराद् असिद्धं तु भवतीति भव्यमे 'य' इति निपाते भव्यं यत्साध्यम्॥ कारकपदार्था इति। यथा 'देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति' इत्यादौ ओदनपाकमेक-

क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसंबन्धात्साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते । यथा—ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरासिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम् । हवनस्यान्यतः सिद्धेर्दध्ना जुहोतीत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् । क्वचिदुभयविधिः । क्वचित् त्रिविधिरपि । यथा रक्तं पटं वयेत्यादावेकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा । ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे । एवं हि पूर्वो धावतीत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् । यत्तु विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था इत्यत्रैतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति । उच्यते—तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः । न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनी-

---

न्यतः सिद्धस्तदा स्थाल्यधिकरणत्वमात्रं विधेयं, तस्यैव साध्यत्वात् ॥ स्वक्रियेति । लोहितोष्णीषत्वविधानादिकाः क्रियाः ॥ साध्यायमानतामिति साध्यस्वरूपताम् ॥ लोहितोष्णीषत्वमात्रमिति । तद्धि एकं सर्वैः कारकैः साध्यते ॥ करणत्वमात्रमिति । अनयोरुदाहरणयोरेकमेव वस्तु विधेयं, न तु द्वयमपीति मात्रशब्दस्यार्थः ॥ एकविधिरिति । रक्तत्वं वानं च चेद् अन्यतः सिद्धं तदा पटमिति विधीयते । वानं च पटमिति च सिद्धं चेत् तदा रक्तत्वमात्रं विधेयम् । पटभवनं हि भव्याय साध्याय रक्ततावगमनायोपदिष्टमिति रक्ततावगमनपरत्वं वाक्यस्येत्यर्थः । क्वचित्तु रक्तत्वं पटत्वं च द्वयं विधेयम् । क्वचित्तु साक्षाच्छब्देनैव त्रयं विधेयम् ॥ उपात्तस्यैवेति । उक्तस्यैव शब्दस्य संबन्धिन्यर्थेऽभिधेये तात्पर्यं, न तु निमित्तान्तरेण प्रतीतमात्रे व्यङ्ग्येऽप्यर्थे तात्पर्यावकाशः ॥ अपराद्यर्थेऽपीति । पूर्वशब्दस्य सापेक्षशब्दत्वाद् अपराद्यर्थोऽपि प्रतीयत इति तत्रापि तात्पर्यं स्यात्; न चैतद् वाक्यद्वयमित्याह—चकार इति । तथा हि जैमिनिः—

विभागे सति साकाङ्क्षं चेद् भवेत् तत एकं वाक्यमर्थैकत्वात् ।

यदि तु विभागो निराकाङ्क्षौ(?क्षः) तदा द्वे वाक्ये अर्थद्वयवत्त्वात् ॥ अङ्गाङ्गिभाव इतिना उपकारकोपकार्यत्वम् ॥ विषभक्षणादपीति । न हि मित्रादौ हितमिच्छुः कोऽपि भोजननिषेधं कुर्वाणोऽकस्माद् विषभक्षणमनुजानातीत्यवगतवक्तृप्रकरणादिस्वरूपः प्रतिपत्त्या विषभक्षणानुज्ञानादेतद् गृहभोजनस्यात्यन्त-

येति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम्।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारस्तत्कथं ब्राह्मण पुत्रस्ते जातो ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्। कस्माच्च लक्षणा। लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां

प्रकरणीयत्वं तात्पर्यशक्त्या प्रत्येतीत्यत्रापि उपात्त एव शब्दार्थे तात्पर्यम्॥

हर्षशोकादीनामिति। ते हि वाक्यार्थप्रतिपत्त्या क्रियन्ते, न च ज्ञापकस्य शब्दस्य कारकत्वं भवति। 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो वाक्यार्थसामर्थ्याद् हर्षो जायत इति जननव्यतिरिक्तं ध्वननम्॥ न वाच्यत्वमिति। शब्दो हि संकेतसापेक्षः स्वव्यापारमारभते, न स्वभावतः। यत्रैव चास्य संकेतस्तत्रैव अभिधाव्यापारो युक्तः, नार्थान्तरविषयस्तत्र संकेताभावात्॥ कस्माच्चेति। लक्षणा हि मीमांसकैरप्यङ्गीकृता॥ श्रुतिलिङ्गेति। यस्य ह्यभिधेयेनार्थेन सह नैकट्यं, स बलीयान्। यस्य च व्यवहितत्वं स दुर्बलः। यदाहुः—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पददौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।' न च व्यवहितत्वमव्यवहितत्वं वाभिधाव्यापारगम्यं, किं तु निमित्तत्ववैविध्याद् व्यङ्ग्यमेव। तच्च यदि नाभ्युपगम्यते तत् कथमेकस्य बलीयस्त्वं, सर्वेषां श्रुत्यादीनामभिधाव्यापारस्य समानत्वात्। प्रधाने चाङ्गत्वापादनं श्रुत्यादीनामर्थः। श्रवणं श्रुतिः। यदर्थस्याभिधानं शब्दश्रवणमात्रादेवावगम्यते।

अभिधात्री श्रुतिः काचिद् विनियोक्त्र्यपरा तथा।
विधात्री च तृतीयोक्ता प्रयोगो यन्निबन्धनः॥

प्रकृतिप्रत्ययश्रुत्योः स्वार्थाभिधायकत्वम्। पदस्य कारकविभक्तीनां च विनियोजकत्वम्। लिङादीनां विधिसामर्थ्यम्। तत्र विनियोजिकायाः श्रुतेः, यथा—'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।' अत्र गार्हपत्योपस्थाने ऐन्द्र्या ऋचो विनियोगस्तृतीयाप्रतिपादित इति श्रौतः। ऐन्द्र्या अङ्गभावः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः॥

'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति। देवाश्रयदर्भच्छेदनेऽयं मन्त्र इति। 'दामि' इति वचनलिङ्गाद् अनेन मन्त्रेण बर्हींषि लुनीयादिति प्रतीयते॥ वाक्यतो यथा—'श्वेतं छागमालभेत।' अत्रैकवाक्योपादानाच्छ्वेतगुणस्य छागावच्छेदकत्वेन

पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् । इत्यन्विताभिधानवादेऽपि [83]विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् । किं च कुरु रुचिमिति पदयोर्वैपरीत्ये[84] काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम् । न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेत्येवमाद्यपरित्याज्यं स्यात् ।

क्रियाङ्गभावो गम्यते । यथा वा 'अरुणया एकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति' इत्यत्र अरुणादीनां क्रमेण संबन्धः श्रौतः । अरुणैकहायन्यादीनां परस्परं पुनर्वाक्यीयम् ॥

दर्शपौर्णमासप्रकरणे 'समिधो यजति तनूनपातं यजति इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति' इति पञ्च प्रयाजा उक्ताः, ते च दर्शपौर्णमासयोरेव क्रियन्ते । तदङ्गत्वमवगम्यत इत्यर्थः ॥

'अग्निरन्नस्यान्नपतिस्तस्याहं देवयज्ययान्नस्यान्नपतिर्भूयासम् १'

'दब्धिरस्यदब्धो भूयासं तदमुं दभेयम् २'

'अग्नीषोमौ वृत्रहणौ तयोर्देवयज्यया वृत्रहा भूयासम् ३'

इति मन्त्रत्रयात् आग्नेयो याग उपांशुयाज आग्नीषोमीयो यागश्चेति यागत्रयं क्रमेण स्थितम् । तत्र प्रथमतृतीयमन्त्राभ्यां देवयज्यालक्षणाल्लिङ्गाद् आद्यन्तौ यागौ आक्षिप्येते, द्वितीयेन मन्त्रेण द्वितीयो यागस्तु, आग्नीषोमीयलक्षण उपांशुयाजः स्फुरदोष्ठमुद्रस्वरः स्थानवशात् ॥ 'उद्गाताऽध्वर्युर्होता' इति । उद्गायतीत्यादिसमाख्ययाऽन्वर्थं संज्ञाबलात् सामयजुरृग्वेदेष्वधिकृत इति निश्चीयन्ते तेष्वङ्गभाव इत्यर्थः ॥ श्रुतिलिङ्गादिविकल्पसंभवे तु श्रुत्यर्थ एव क्रियते, न लिङ्गाद्यर्थोऽर्थविप्रकर्षात्, यथा 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यत्रैवैन्द्या ऋचा इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणाल्लिङ्गाद् इन्द्रोपस्थापनविनियोगो गार्हपत्यमिति द्वितीयया श्रुत्या बाध्यते, तेन ऐन्द्याप्येतया गार्हपत्यस्यैवोपस्थानं भवति ॥ श्रुत्यादयश्च क्वचित् समस्ताः, क्वचिद् व्यस्ता एव विनियोजयन्ति ॥

समस्ता यथा—

अनेन कल्याणि करे गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥

विधेरपीति । योऽयं विधिः सर्वैर्वाच्य एवेत्यभ्युपगतस्तस्यापीत्यर्थः ॥ पुनरन्विताभिधानवादिनं दूषयति—किंचेति ॥ वैपरीत्य इति । क्रमव्यत्यासे 'रुचिङ्कुरु' इत्येवंलक्षणे ॥ असभ्योऽर्थ इति । चिङ्कुरिति स्मरमन्दिरान्तर्वर्तिमणिसंस्मारकमसभ्यम् ॥ एवमादीति, 'रुचिङ्कुरु' इत्यादि ॥

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नम्। सर्वस्यत्र विभक्ततया प्रतिभासात्। वाच्यवाचकताव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात्क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

"द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः"

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम्। अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान्प्रतिपत्तॄन्प्रत्येकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च "गतोऽस्तमर्कः" इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामह इति, सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयान्, इत्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः, 'निःशेष' इत्यादौ निषेधविध्यात्मना,
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणां किमु स्मरस्मेरविलोकिनीनाम् ॥१३४॥
इत्यादौ संशयशान्तशृङ्गार्यन्यतमनिश्चयरूपेण,

असाधुत्वादीनामिति। च्युतसंस्काराणां दुष्टत्वमेव॥ कष्टत्वादीनामिति। 'अधाक्षीद्, अक्षौत्सीद्, अतृणेक्षि' इत्यादीनां श्रुतिदुष्टानाम्। तेषां हि शृङ्गारशान्ताद्भुतादौ वर्जनाद् बीभत्सवीररौद्रादौ चाभ्युपगमाद् अनित्यत्वं च दोषत्वं च वक्ष्यते। ते हि व्यङ्ग्ये शृङ्गारादौ हेयाः। न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्येऽपि शृङ्गारादिव्यतिरिक्ते॥

पुनर्वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेदं दर्शयन्नन्विताभिधानवादिनां दोषमाह—अपि चेति॥

निषेधविध्यात्मनेति, स्वरूपस्याभेदेऽपीति योगः। निषेधो वाच्यो विधिश्च व्यङ्ग्यः। संशयश्च शान्तशृङ्गार्यन्यतरनिश्चयश्च, तत्र संशयो वाच्योऽन्यतरनिश्चयश्च व्यङ्ग्य इति स्वरूपस्य भेदः॥

कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा
दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥ १३५ ॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दशब्दैकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयस्य, शब्दार्थशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात्कार्यस्य, "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पियाए सव्वणं अहरं ।
सभमरपउमग्घाइरि वारियवामे सहसु इण्हिं ॥ १३६ ॥

वल्लभेति भार्याप्युच्यते । ततो 'मृतैरपि तव वल्लभा स्वर्गं नीता' इति निन्दा वाच्या, स्तुतिश्च व्यङ्ग्येति वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपस्य भेदेऽपि ॥ पूर्वेति । पूर्वं वाच्यं प्रतीयते, पश्चाद् व्यङ्ग्यमिति वाच्यव्यङ्ग्ययोः कालस्य भेदेऽपि ॥ शब्दाश्रयत्वेनेति । वाच्यं शब्दैकाश्रयं, व्यङ्ग्यं तु शब्दाश्रयं, तदेकदेशाश्रयं, अर्थाश्रयं वर्णरचनाश्रयं च, एष्वपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्, इत्याश्रयस्य भेदे । शब्दार्थशासनज्ञानेन वाच्योऽर्थोऽवगम्यते, व्यङ्ग्यश्च प्रकरणवक्त्रादिसहायं यत्प्रतिभानैर्मल्यं तत्सहितेन तेन शब्दार्थशासनज्ञानेनेति वाच्यव्यङ्ग्ययोर्निमित्तस्य कारणस्य भेदेऽपि । यदुक्तम्—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

बोद्धृमात्रेति । वाच्यबोद्धा बोद्धेवोच्यते, व्यङ्ग्यबोद्धा तु विदग्ध इति । तथा वाच्योऽर्थः प्रतीतिमात्रकारी, व्यङ्ग्यश्च चमत्कारकारीति वाच्यव्यङ्ग्ययोः कार्यस्य भेदेऽपि ॥

संख्याया इति । वाच्योऽर्थस्तावदेक एव व्यङ्ग्यश्च प्रकरणादिविशेषसहायतया अनेक इति वाच्यव्यङ्ग्ययोः संख्याया भेदेऽपि विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद् भेदं दर्शयति—कस्स वेति । 'कस्येव अनीर्ष्यालोरपि न भवति रोषो विलोक्य प्रियायाः सव्रणमधरम् । सभ्रमरपद्माघ्राणशीले । शीलं हि

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्क्वचिदपि ""नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि— अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति। वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानां तु[२०] तदनपेक्षत्वमपीति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्।

किं च वाणीरकुडङ्गेत्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूप एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽ

न कथंचिद् वारयितुं शक्यम्। वारिते वारणायां वामे तदनङ्गीकारिणि सहस्वेदानीमुपालम्भपरंपराम्' इत्यर्थः। कांचिद् अविनीतां उपपतिखण्डिताधरां निश्चितसंनिधौ तद्भर्तरि तद्दृश्यमान इव काचिद् विदग्धसखी तद्वाच्यतापरिहारायैवं वक्ति। 'सहस्वेदानीम्' इति वाच्यमविनयवतीविषयं, भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनम्। 'प्रियाया' इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सखीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनो न ग्राह्यं, प्रत्युतायं बहुमानः। सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी मयेत्थं रक्षिता, पुनः प्रकटदशनरदनविधिर्न कार्य इत्युपपतिविषयं व्यङ्ग्यम्। नान्यथास्यां संभावनीयमिति प्रातिवेश्मिकविषयं व्यङ्ग्यम्। युक्त्या मया संवृतोऽपराधः सख्या इति स्ववैदग्ध्यख्यापनं विदग्धविषयं व्यङ्ग्यमित्याह—सखीतत्कान्तादिति॥ भेदेऽपीति। स्वरूपभेदात् कालभेदाद् आश्रयभेदात् कारणभेदात् कार्यभेदात् संख्याभेदाद् विषयभेदाच्च वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्तं भेदः॥ तथा वाचकानां समयनियमिताभिधाव्यापाराणां शब्दानां, व्यञ्जकानां तद्वद् वर्णादीनामर्थनिरपेक्षाणामनियतव्यञ्जनशक्तीनां कथं न वैलक्षण्यमित्याह—वाचकानामिति। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति॥

पुनर्दूषयन्नाह—किंचेति॥ वाच्यं स्वरूप एवेति। वाच्यार्थप्रतिपत्तिपुरःसरं प्रतीयमानार्थप्रतीतिः, तदनन्तरं च तृतीयकक्ष्यायां वाच्यं प्राधान्यात् स्वरूप एव विश्राम्यति। चारुरूपविश्रान्तिस्थानाभावे व्यञ्जकत्वव्यापारो नोन्मीलतीति प्रत्यावृत्य वाच्यस्य स्वरूप एव विश्रान्तिः क्षणदृष्टनष्टदिव्यविभवप्राकृतपुरुषवत्॥ अतात्पर्यभूतोऽपीति। व्यङ्ग्यस्याप्राधान्ये वाच्यत्वं तावत् तात्पर्यार्थवादिभिरपि नाभ्युपगम्यतेऽतत्परत्वाच्छब्दस्येति वाचकत्वाद् अन्यदेव व्यञ्जकत्वम्॥

प्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन्कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतां[102]म् ।

ननु रामोऽस्मि सर्वसह इति, रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितमिति, रामोऽसौ भवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परामित्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते। विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति। तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम। उच्यते। लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽप्यनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेनानियतसंबन्धो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियं[103]तसंबन्धोऽनियतसंबन्धः संबं[104]द्ध-संबन्धश्च द्योत्यते। न च

अत्ता इत्थं[105] णिमं[106]ज्जइ एत्थ अहं दियं[107]सयं पलोएहि ।
मा [108]पंहिय [109]रत्तिअंधय सेज्जाए [110]मंहं णिमज्जहिसि ॥१३७॥

इत्यादौ विवक्षितान्यपरैर्वाच्ये ध्वनौ नै मुख्यार्थबाधः ।

स्वशब्दानभिधेय इति रसादिरूपः॥ कस्य व्यापारस्येति, अर्थात् व्यञ्जनव्यापारस्यैवेति। व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वं, किं तु व्यङ्ग्यत्वमेव॥

वाच्योऽर्थ एक एवेति नियतोऽसौ, व्यङ्ग्यस्तु प्रकरणादिबलाद् अनेक इत्यादिः प्राक्प्रतिपादितो वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेदोऽपि सव्यभिचारोऽन्यत्रापि दर्शनादिति पुनः पूर्वपक्षयन्नाह—ननु रामोऽस्मीति। अत्र वनवासादिरनवधिर्लक्ष्योऽर्थः।

'प्रत्याख्यातरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।
व्यर्थं संप्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन' । इति ।

अत्र राम-पदं साहसैकरसत्वादिलक्ष्यार्थसंक्रमितवाच्यं व्यञ्जकम् ॥

विशेषव्यपदेशेति। यथा व्यङ्ग्यबोद्धुर्विदग्ध इति व्यपदेशः, तथा लक्ष्यार्थबोद्धुरपि लक्षक इति विशेषव्यपदेश इत्यपि समानम्॥ अनेकार्थशब्देति, गोशब्दार्थवत्॥ न खल्विति। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ मुख्येन गङ्गाशब्दार्थेन तदादिर्लक्ष्यते, न तथा वनादिरपि लक्षयितुं शक्यते। व्यङ्ग्यस्तु विचित्रः प्रकाशते, प्रकरणादिसामग्रीवैचित्र्यात्। क्वचिच्च अभिधामूले ध्वनौ

तत्कथमत्र लक्षणा। लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्। यथा च समयसव्यपेक्षाभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा। अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधैवालम्बनेऽपि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य [१४]प्रसिद्धेरित्यभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।

लक्षणां विनापि व्यञ्जकत्वमित्याह—न चेति। गाथेयं तृतीयोल्लासे व्याकृता॥ अभिधापुच्छभूतेति। अमुख्यया वृत्त्या संकेतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधाशेषभूतैव लक्षणा ततोऽभिधाव्यापारमाश्रिता, तद्बाधेनोत्थानात् कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्याद्, भिन्नविषयत्वात्॥

न च लक्षणेति। न हि लक्षणैकरूपमेव ध्वननं लक्षणानुगमेन ध्वननस्य दर्शनात्। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ॥ न च लक्षणानुगतमेव ध्वननं, विवक्षितान्यपरवाच्येऽभिधामूलत्वेन ध्वननस्य भावात्। न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्ये बुद्धिर्दूरीभवति॥ न चोभयेति॥ अभिधालक्षणानुसारेणैव ध्वननमित्यपि नेत्याह- अवाचकेति। ललितपरुषादिवर्णानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वस्य दर्शनात्॥ न च वर्णमात्रानुसारेणैव ध्वननमित्याह—अशब्दात्मकेति, अभिधाव्यापारेणास्पृष्ट इत्यर्थः॥ यथा—'मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः'। अत्र गुरुजनमवधीर्यापि यथातथा साभिलाषगर्वमन्थरं विलोकितवतीति स्मरणे विप्रलम्भोद्दीपनम्। 'अवलोकनादि' इत्यादिशब्दाच्छब्दव्यतिरिक्ताधोवक्त्रत्वकुचकम्पनबाष्पावेशादि॥ तस्येति ध्वननस्य॥ ध्वननादिपर्याय इति। अस्ति तावच्छब्दस्य व्यापारः। स च नाभिधानात्मा, समयाभावात्। न तात्पर्यात्मा, तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात्। न लक्षणात्मा, स्खलद्गतित्वाभावात्। तत्रापि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधानिमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात्। तस्माद् अभिधाव्यापारव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनप्रत्यायनावगमनादिपर्यायोऽभ्युपगन्तव्य एव॥

तत्रात्ता एत्थेत्यादौ नियतसंबद्धः । कस्स व ण होइ रोसो इत्यादावनियतसंबद्धः ।

विपरीयरए लच्छी बंम्हं दट्ठूण णाहिकमलत्थम् ।
हरिणो दाहिणणेयणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १३८ ॥

इत्यादौ संबद्धसंबद्धः । अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मता व्यज्यते । तन्निमीलनेन सूर्यस्यास्तमयस्तेन पद्मस्य संकोचः । ततो ब्रह्मणः स्थगनम् । तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेऽनियन्त्रणं निधुवनविलसितम् ।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च वाचकमिति येऽप्याहुस्तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

ननु वाच्यादसंबद्धं तावन्न प्रतीयते । यतः कुतश्चिद्यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात् । एवं च संबद्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्यत्वेन नियतधर्मि-

---

तत्रेति । तेषु नियतसंबद्धादिषु मध्ये ॥ नियतसंबद्ध इति । अत्रैव 'शेष्व'इति पुरुषाभ्यर्थनलक्षणो विधिर्व्यङ्ग्यः । अनियतसंबद्ध इति । पतिविषयं हि सतीत्वप्रकटनादि व्यङ्ग्यं, सपत्नीप्रभृतीनां चान्यदिति ॥

संबद्धसंबद्ध इति । संबद्धस्य व्यङ्ग्यस्य संबद्धोऽपरो व्यङ्ग्योऽर्थः ॥

येऽप्याहुरिति । अखण्डवाक्यवाक्यार्थवादिनो भट्टाः । 'वाक्यार्थमतये हि पदार्थानां प्रवृत्तौ नान्तरीयकं, पाके ज्वालेव काष्ठानामिति पदार्थानामविद्यमानत्वाद् न स्ववाचकैः संबन्धग्रहणमुपपद्यते इति शब्दावगतैः पदार्थैस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थः स एव वाच्यः' इत्याहुस्तैरपि देशकालावच्छेदेन अशेषव्यवहर्तृनिष्ठतया कल्पितपदार्थसंश्रयेण वाच्यवाचककल्पना क्रियत एवेति तन्मतेऽपि शब्दस्यार्थान्तरप्रतीतौ व्यञ्जकत्वमेव, न वाचकत्वम् ॥ एवं पदार्थवाक्यार्थन्यायं तात्पर्यशक्तिसाधकं निराकृत्य प्रकृते व्यञ्जनशक्तिं योजयितुमाह—तत्पक्षेऽपीति ॥ उक्तोदाहरणादाविति 'निःशेषे'त्यादौ ॥

अनुमानवादी त्वाह—'व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं, तच्च लिङ्गत्वम्, अतो व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो लिङ्गिलिङ्गभाव एव ।' इत्याह—वाच्यादसंबद्धमिति ॥ संबद्धादिति कार्यकारणभावमूलस्य गम्यगमकभावस्योपगमात् ॥ अप्रतिबन्ध इति । अव्यभिचाराभावेन भवति, किं तु व्यङ्ग्य-

निष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गा[127]ल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं यत्तद्रूपः पर्यवस्यति । तथा हि—

भम धम्मिअ वीसत्थो[128] सो सुणओ[129] अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ १३९ ॥

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति । यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् । गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा [130]निदेशेन प्रियानुरागे[131]णान्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । शुनो बिभ्यदपि वी[132]रत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि ।

व्यञ्जकभावः प्रतिबन्धेऽव्यभिचारे एव स्यादिति व्याप्तिः, यथा 'अग्निरत्र धूमाद्' इति ॥ नियतधर्मिनिष्ठत्वेनेति । अनेन अन्वयव्यतिरेकप्रतिपादनं सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वभणनमित्यर्थः ॥ त्रिरूपादिति । पक्षधर्मः, सपक्षसत्त्वं, विपक्षाद् व्यावृत्तिरिति त्रिरूपं लिङ्गम् । येन लीनोऽर्थो गम्यते प्रतिपाद्यते तल्लिङ्गं बौद्धानाम् । लिङ्गिनीति अनुमेये ॥ तद्रूप इति । पर्यवसाने अनुमानरूप एव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यर्थः ॥ एतदेवोदाहरणेन द्रढयति—भमेति । प्रथमोल्लासे व्याकृता । सिंहस्य चेभकुम्भनिर्भेदहेवाकिनः श्ववधाभिधानं जातिविरुद्धमित्यनुचितम् । ततो 'दरिअ—रिक्खेण' इत्यन्ये पठन्ति ॥ गृह इति । यत्र गृहे सा दुःशीला विद्यते ॥ भ्रमणमिति । भ्रमणविधिर्वाच्यस्य, तत्प्रतिषेधस्तु अनुमेयः । तत्र 'गोलाणइ—कच्छकुडङ्गवासिणा' इति गोदावरीकच्छकुहरस्य धर्मित्वनिर्देशः ॥ 'दरिअसीहेण' इति श्वमारणकारणाभिधानद्वारेणोपात्तस्य दृप्तसिंहसद्भावस्य हेतुभावः ॥ 'कुडङ्गवासिणा' इति तद्विशेषणेन तस्य धर्मिणि सद्भावोपदर्शनम् ॥ यद्यदिति । भयकारणनिवृत्तिर्व्यापिका, भीरुभ्रमणं व्याप्यं, सिंहसद्भावश्च व्यापकविरुद्धोपलब्धिरेकादशविधानुपलम्भमध्येऽनुमानभेदः । यथा 'नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेः' इति ॥ 'अत्र' इति धर्मी, 'तुषारस्पर्शो न' इति साध्यम्, वह्नेः इति हेतुर्व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । तुषारस्पर्शः प्रतिषेध्यो व्याप्यो व्यापकश्च शीतस्पर्शः ॥

अत्रेति पूर्वपक्षे, उच्यत इति सिद्धान्तः ॥ अनैकान्तिक इति सव्यभिचारः ॥

गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः । अपि तु वचनात् । न च वचनस्य [१३३]प्रामाण्यमस्ति । [१३४]अर्थेनाप्रतिबन्धात् । इत्य[१३५]सिद्धश्च । तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः । तथा 'निःशेषच्युते'त्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति । [१३६]अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।

व्यक्तिवादिना चाधमपद[१३७]सहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न [१३८]चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् । एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि [१३९]प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद्दूषणम् ।

काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसंकीर्णभेदनिर्णयो
नाम पञ्चम उल्लासः ॥५॥

तत्कथमिति । अनैकान्तिकविरुद्धा सिद्धा नाम हेत्वाभासा दूषणमनुमानस्य ॥
स्नानकार्यत्वेनेति । स्नानं कारणान्तरम् ॥

व्यक्तिवादिनेति व्यञ्जनव्यापारवादिना । चन्दनच्यवनादीनां लिङ्गानामधमपदसहायतया यत् कल्पितमनुमानं तदपि नैवेत्याह—न चात्रेति । प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरप्रतिपन्नो ह्यर्थोऽनुमानाङ्गं धूमवत् ॥ उपपत्त्यनपेक्षत्वेपीति । काव्यविषये हि वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतानां सत्यासत्यनिरूपणं न प्रयोजकम् । न हि तेषां वाक्यानां अग्निष्टोमादिवाक्यवत्सत्यार्थप्रतिपादनद्वारेण प्रवर्तकत्वाय प्रामाण्यमन्विष्यते, प्रीतिमात्रपर्यवसायित्वात् । प्रीतिरेव चालौकिकचमत्काररूपा व्यङ्ग्या ॥

इति भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते
पञ्चम उल्लासः ॥

अथ षष्ठ उल्लासः ।

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥४८॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् । अर्थचित्रे वा शब्दस्य । तथा चोक्तम्—

रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥ इति ।

शब्दचित्रं यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ॥
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥१४०॥

अर्थचित्रं यथा—

शब्दार्थचित्रमिति । शब्दार्थवैचित्र्यमात्रं व्यङ्ग्यरहितमवरं काव्यं यत् प्रथमोल्लासे उदाहरणद्वयेन दर्शितं, तत्र न शब्दस्यैव केवलस्य रमणीयतया काव्यत्वं नाप्यर्थस्य केवलस्य, किं तु द्वयोरपि प्रधानगुणभावेनेति विशेषमाह—न तु शब्देति ॥ एतदेव भामहोक्तेनाह—'रूपकादिः' इति ॥ 'तस्ये'ति काव्यस्य ॥ 'बाह्य'मिति काव्यस्वरूपासमवायिनम् ॥ 'परे' शब्दालंकारैकान्तवादिनः ॥ 'सुपा'मिति । सुप्तिङन्तानां पदानां विचित्रतया भङ्ग्यन्तरेणानुप्रासादिनोत्पत्तिनिबन्धनम् । शब्दालंकारा एव काव्यस्वरूपसमवायिनोऽन्तरङ्गा इत्यर्थः ॥ नार्थेति । न चास्मिन्नर्थवैचित्र्यचारुत्वमन्तर्भवति । ततोऽस्माकं शब्दालंकारा अर्थालङ्काराश्चेष्टाः ॥

प्रथममिति । अत्रानुप्रासे शशिनोऽरुणादिसाम्यसमन्वयादर्थस्यापि चित्रत्वम् ॥

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालतां कुटिलतां च न संत्यजन्ति ॥१४१॥

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया रसपर्यवसानं तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । अत्र च शब्दार्थालंकारभेदाद् बहवो भेदाः । ते चालंकारनिर्णये निर्णेष्यन्ते ॥

काव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम
षष्ठ उल्लासः ॥६॥

ते दृष्टीति । अत्र 'अलकाः खला इव' इति शब्दश्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा ॥ उद्भटस्तु 'उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुरर्थश्लेष एवायं "स्वयं च पल्लवाताम्रा" इत्यादाविव' इत्याह तदग्रे निराकरिष्यते ॥

ननु, यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति स नाम कल्प्यतां चित्रस्य विषयः । यत्र तु न रसादिसंभवः स काव्यप्रकारो नास्त्येव, यस्माद् अवस्तुसंस्पर्शि काव्यं तावन्नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च तदस्ति वस्तु यन्न कंचित् चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने कविविषयतैव न स्यादित्याशङ्क्याह–यद्यपीति ॥ अत्र चेति । सौन्दर्यादिनिधानभूतशब्दार्थाश्रये व्यङ्ग्यरहिते चित्रे काव्ये ॥

[इति भट्टसोमेश्वरविरचिते] काव्यादर्शे [काव्यप्रकाशसंकेते]
षष्ठ उल्लासः ॥

अथ सप्तम उल्लासः ।

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥४९॥

हतिरपकर्षः । शब्दाद्या—इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।

विशेषलक्षणमाह—

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥५०॥

संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥५१॥

श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥१४२॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति ।

मुख्यार्थेति । मुख्यतया रस एवोक्तरूपः काव्यवाक्यानामर्थ इति स एव मुख्यः, तदाधारत्वाद् वाच्यार्थोऽपि मुख्यः । उभयोपयोगिनः शब्दाद्या रसस्यार्थस्य चोपकारकाः । स इति दोषः । रसस्यापकर्षहेतवो दोषाः । एवं गुणा अपि रसस्योत्कर्षहेतव इति वक्ष्यते । दोषगुणाश्च रसस्यैव धर्मा उपचारेण तु तदुपकारिणोः शब्दार्थयोरुच्यन्ते, रसाश्रयत्वं च गुणदोषयोरन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । तथा हि यत्रैव दोषास्तत्रैव गुणा रसविशेषे च दोषा, न तु शब्दार्थयोः । यदि हि तयोः स्युस्तद्वीभत्सादौ कष्टत्वादयो गुणा न भवेयुर्हास्यादौ चाश्लीलत्वादयः । अनित्याश्चैते दोषा, यतो यस्याङ्गिनस्ते दोषास्तदभावे न दोषास्तद्भावे तु दोषा इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषयो रस एवाश्रयः । निर्दोषे गुणाभिधानमुपपन्नमिति पूर्वं परिहार्यत्वेन दोषा वाच्यास्तत्र पदारब्धत्वाद् वाक्यस्येति प्रथमं षोडश पदस्य दोषानाह–दुष्टमिति ॥

अनङ्गमङ्गलगृहं चासौ अपाङ्गश्च तस्य भङ्ग्या विच्छित्त्या तरङ्गितैरुपलक्षितया ॥

च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं यथा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत्पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥१४३॥

अत्रानुनाथत इति । सर्पिषो नाथत इत्यादावाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं हि नियमितं, "आशिषि नाथ" इति । अत्र च याचनार्थः । तस्मात् 'नाथति स्तन'–इति पठनीयम् ।

अप्रयुक्तं तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतं यथा—

यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा ॥१४४॥

अत्र दैवतशब्दो "दैवतानि पुंसि वा" इत्याम्नातोऽपि न केनचित्प्रयुज्यते ।

असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः, यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति संप्रति सादरम् ॥१४५॥

श्यामोदरं च तदपाण्डुरप्रान्तं चेति कर्मधारयः ॥ 'स्पर्शक्षमम्' इति सुरतसंमर्दसहम् । प्रकटपयोधरदर्शनोत्थरागेण पुलिन्दास्त्वां सेवमाना निर्वीर्यीभूताः कुञ्जरकुम्भान्न घ्नन्तीत्यर्थः । यथा वा–'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ।' अत्र हन्तेर्नाकर्मकत्वं न स्वाङ्गकर्मकत्वमित्यात्मनेपदाप्राप्तेराजघ्ने-पदमसाधु ॥

आम्नातमपीति । शास्त्रमात्रप्रसिद्धत्वाल्लोकमात्रप्रसिद्धत्वाच्च ॥ 'दैवतानि पुंसि वा' इति दैवत–शब्दः पुंलिङ्गे लिङ्गानुशासने एव प्रसिद्धः ॥ लोकमात्रप्रसिद्धं यथा 'कष्टं कथं रोदिति थूत्कृतेयम् ॥' देश्यं चैतन्नियतदेशविषयत्वेन प्रसिद्धम् । यदाह—

प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य ।
तन्मडहादि कथंचिन्न रूढिरिति संस्कृते रचयेत् ॥

मडह-लडह-होराण-कन्दोट्ट-पल्लादि क्रमात् सूक्ष्म–श्रेष्ठ-वस्त्र-उत्पल-हरिद्रावाचकं रूढिभ्रान्त्या न बध्यते कश्चिद् हि स्वदेशप्रसिद्धया अस्यार्थस्य शब्दोऽयं

अत्र हन्तीति गमनार्थम् ॥

निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिरभ्य चुम्बिता सहसा ॥१४६॥

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते ।

अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥१४७॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् ।

निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम् । यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि ।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥१४८॥

अत्र हिशब्दः ।

अवाचकं यथा—

वाचक इति मन्यमानः प्रयुञ्जीत, 'व्युत्पत्तिर्यस्य नास्ति' इति वचनात् । सव्युत्पत्तिकं कदाचित् प्रयोज्यम्, यथा दूर्वायां छिन्नोद्भवा–शब्दः, ताले भूमिपिशाचः, शर्वे महानटः, चन्द्रामृतयोः समुद्रनवनीतं, जले मेघक्षीरमित्यादि ॥

गमनार्थमिति । गत्यर्थेऽपि 'हन्ति' इत्युक्ते हिनस्तीति प्रतीयते, न तु गत्यर्थः । गत्युपदेशस्तु हंसार्थः । 'हन्ति गच्छत्याशासु' इति । यमकादौ तु गत्यर्थोऽपि दृश्यते ॥

निहतार्थमिति । असमर्थे दोषे एकस्मिन्नेवार्थे प्रसिद्धिः, अत्र तूभयत्रापि प्रसिद्धिः, परमेकत्र विशिष्टेत्यनयोर्भेदः ॥

'सत्रिभिः' इति, यागयुक्तैः ॥

'उत्फुल्ले'ति अत्रैकवचनेन भगवतीं संबोध्य प्रसादसंबन्धेन यस्तस्यां बहुत्वनिर्देशः स वचनप्रक्रमभङ्गेऽपि । तथा उत्फुल्लकेसरगौरशब्दानां पौनरुक्त्यं च । यथा 'कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।' अत्र हि दानवारिप्रवासस्य यत्कटस्थलमवधिभावेन विशेषणं तत्पुनरुक्तमव्यभिचारात् ॥

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥१४९॥

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितम्, तत्र च नाभिधायकम् ।

यथा वा—

हा धिक्सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विच्छेदरुजान्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥१५०॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यत्रार्थेऽवाचकम् ।

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम्, यथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
संभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥१५१॥

'अवन्ध्यकोपस्य' सामर्षस्य आपदां निहन्तुरुदारस्य । न ह्यनुदार आपदो निहन्तीत्यनेन पदेन उदारत्वं विवक्षितम् ॥ जन्तुनेति । जन्तुमात्रेण अदात्रेत्यर्थः ॥ कृतस्नेहेन नादरः । दरो भयं च ॥

'हा धिग्' इति । यस्यां रात्रौ कामिनी दृष्टा सा तामसी तमोमयी कृता । दिने तु सा न दृष्टा, तच्च दिनं प्रकाशमयं कल्पितम् ॥ कुशले भद्रके कर्तव्ये । विधुरो वैरी ॥

जङ्घेति । जानुनोरधस्ताज्जङ्घा । हरनृत्तमनुकर्तुं प्रवृत्ताया गौर्याश्चारीक्रमेषूर्ध्वः पादो दण्डपादः । विपूर्वो धाञ् करणार्थ इति विभ्रदित्यर्थेऽवाचकः । तथा समासोक्त्यैव दण्डपादस्याम्भोजतुल्यत्वेऽवगते यत् तस्याम्भोजशोभां विदधद् इति तत् पुनरुक्तम् । यच्चाम्भोजस्यार्थमुपमानत्वमुपात्तं तदप्ययुक्तमेव, तस्योरुनालत्वादिधर्मसंबन्धोपगमयोग्यत्वानुपपत्तेः । केवलमेकेनैव समासान्तर्भावाद् वापीसंभूतत्वेनास्य विशेषणविशेष्यभावः संगच्छते, किं तु समास एव वक्ष्यमाणनयेनानुपपन्न इव प्रक्रमभङ्गप्रसङ्गात् । न च दण्डपादस्य तत्संबन्धो घटिष्यते इति शक्यते वक्तुं, तस्य तद्धर्मसंबन्धाभावात् । तेनाम्भोजस्य शाब्दमुपमानत्वं वा दण्डपादस्य वाम्भोजत्वेन रूपणं कर्तव्यं, येन अस्य प्राधान्ये सति

अत्र दधदित्येतदर्थे विदधदिति ।

त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात् । यथा–

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेताराळितां भ्रुवम् ॥१५२॥

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता तस्य सा
भ्रान्त्या धूर्ततयाऽथ चानतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥१५३॥

विशेषणसंबन्धोपगमयोग्यता स्यात् । किं च भर्तुर्नृत्तस्योद्धतस्य ताण्डवात्मनो योऽनुकारस्तस्य दण्डपादविषयभावेनोपादानाद् जङ्घाकाण्डनालत्वविशिष्टतया संस्थानविशेषवशाच्च पादस्य दण्डाकारताभिनवत्वं चेत्युभयमप्यवगतमिति । न तत्पुनरुपादेयतामर्हतीत्यत्र वरमयं पाठः

स्वच्छलावण्यवापी–

संभूतो भक्तिभाजां भवदवदलनः पादपद्मो भवान्याः ॥

एवं ' विदधद् ' इत्यपि करोत्यर्थं निरस्तम् । यथा वा—

यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ।

अत्र ' हिरण्यकशिपुम् ' इति वक्तव्ये ' हिरण्यपूर्वं कशिपुम् ' इत्यवाचकम्, यतोऽत्र हिरण्य–शब्दः कशिपु–शब्दश्च अभिधेयप्रधानौ वा स्यातां स्वरूपमात्रप्रधानौ वा । तत्र न तावद् अभिधेयप्रधानौ, अनभ्युपगमात् । अर्थस्यासमन्वयाद् नापि स्वरूपप्रधानौ । न ह्येवमसुरविशेषस्य हिरण्यकशिपोरभिधानुकारः प्रख्यानक्रियाकर्मभावेनाभिहितो भवति । द्विविधो हि शब्दानुकारः, शब्दत्वार्थत्वभेदात् । तत्रेति नाव्यवच्छेदे शाब्दः प्रसिद्ध एव । अर्थाद् अवच्छेदावगतौ आर्थः । यथा—

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यमाहुः ।

इह चायमर्थोऽनुकार इति नानवच्छेदात् । केवलं यत् तस्याभिधानमनुकार्यं तन्नानुकृतं, यच्चानुकृतं तत् तस्याभिधानमेव न भवति । लोके हि ' हिरण्यकशिपुः 'इति तस्याख्या, न ' हिरण्यपूर्वकशिपुः 'इति । अतस्तस्य अवाचकत्वम् । इन्द्र-शब्दार्थश्च देवराजशरीरमेव, न च तत् तेन निषूदितं; पारमैश्वर्यं च धात्वर्थो व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रं, रूढिशब्दत्वात् । यथा वा—

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षा फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव ।

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥१५४॥

एषु साधन–वायु–विनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः ।

संदिग्धं यथा—

आलिङ्गितस्तत्रभवान्[१७]संपराये जयश्रिया ।
आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥१५५॥

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायाम्, किं न[१८]मस्यामिति संदेहः ।

अप्रतीतं य[१९]त्केवले शास्त्रे प्रसिद्धं यथा—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धक[२०]म् ॥१५६॥

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्र[२१]सिद्धः ।

ग्राम्यं य[२२]त्केवले लोके स्थितम् । यथा—

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुख[२३]म् ।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥१५७॥

अत्र कटिरिति ।

अत्र 'कल्पवृक्षा' इति वक्तव्ये 'कल्पोपपद'त्वेन वृक्षान् विशेष्य तद्वचनमवाचकम्, यतो विशेषणमिदमभिधानस्वरूपविषयमेव अवकल्पते, नाभिधेयविषयं, सोपपदनिरुपपदत्वयोरभिधानधर्मत्वात् । न च तेन विशेषितेन किंचित् प्रयोजनं अभिधानमात्राद् अभिमतार्थसिद्धेः । अभिधेयविषयत्वे च तत्सिद्धिर्भवेत् । किं तु न तत्र यथोक्तविशेषणसंबन्धः संगच्छते । यत्र च संगच्छते न ततोऽभिमतार्थसिद्धिरिति नेयार्थं वा । तस्माद् वरमत्र पाठः—

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम तदेव कल्पद्रुमकाः फलन्ति ।

अस्मिंश्च पाठे क्षुण्णस्यार्थस्य कल्पद्रुमाणां च अवज्ञावगतौ गुणान्तरभासः ॥ एवं 'दशपूर्वरथं यमाख्यया' इत्यादावपि ॥

'निःसपत्न' इति । सपत्न्यास्तुल्यः । जीवन्त्यां हि जायायां तत्केशकलापः किल सपत्नोऽभवत् ॥

'एतद्' इति । हिंसादिकम् ॥ 'विभावरीकान्तः' चन्द्रः ॥

नेयार्थं[24] इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम्। यथा —

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम् ॥१५८॥

अत्र चपेटेन[25] निर्जितत्वं लक्ष्यते।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति संबन्धः। अन्यत्तु केवलं समासगतं च। क्लिष्टं यतः[26], अर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। यथा—

अत्रिलोचनसंभूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल तव चेष्टितम् ॥१५९॥

अत्रात्रिलोचनसंभूतस्य चन्द्रस्य[27] ज्योतिरुद्गमेन[28] भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः।

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। यथा —

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरल[29]गललसद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशांघ्रि[30]प्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥१६०॥ •

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्। अपि तु विधेयम्।

यथा च[31]—

स्रस्तां नितम्बाद्[32]अवलम्बमानां पुनः पुनः केसरदाम[33]काञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥१६१॥

अत्र मौर्वीद्वितीयामिति द्वितीयात्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम्[34]।

लाक्षणिकमिति, तन्नेयार्थमिति योगः। रूढिं प्रयोजनं वा विना स्वधियैव लक्षणया प्रयुक्तम्, यथा 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' शब्दो वडवामुखाग्नौ ॥

'चपेटे'ति पुंस्यपि निर्जितत्वं लक्ष्यत इति। ततः साम्यमाधिक्यं वेति नेयार्थता ॥

'अत्रिलोचने'ति। अत्रैकपदप्रत्याय्योऽप्यर्थः कुमुदलक्षणोऽत्रीत्याद्यनेकपदार्थपर्यालोचनाव्यवहितत्वेन क्लिश्यमानो वाचकस्य क्लिष्टतामावहति ॥

'मिथ्यामहिम्नाम्'इति। पुररक्षणासमर्थत्वात् ॥

विधेयमिति। समासे गुणतां नीतम् ॥

द्वितीयात्वमात्रमिति। मौर्वी हि धनुषः सामान्येन सिद्धा, न तु द्वितीयात्वं

यथा च—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥१६२॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम् ।

यथा च—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त-
संदाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता
तान्ति तनोति तव संप्रति धिग्धिगस्मान् ॥१६३॥

अत्र 'न मुक्ता'-इति निषेधो विधेयः, यथा—

द्वितीयमौर्वीमिति समस्ते निर्देशे द्वितीया-शब्दार्थस्य गौणत्वं, विशेषणभूतत्वात् । तेन 'मौर्वीद्वितीयाम्' इति युक्तः पाठः । न चैवं गुर्वन्तताभावे वृत्तस्य भङ्गः, तस्य श्रव्यतामात्रलक्षणत्वात् । तदपेक्षयैव वसन्ततिलकादाविव गुर्वन्तता नियमस्य सकर्णकैरत्राप्यनादृतत्वात् । यदुक्तम्—

'वंशस्थकादिचरणान्तनिवेशितस्य गत्वं लघोर्न हि तथा श्रुतिशर्मदायि ।
श्रोतुर्वसन्ततिलकादिपदान्तवर्ति लो गत्वमत्र विहितं विबुधैर्यथा तत् ॥

जनिरिति । जन्मनो ह्यलक्ष्यत्वं विधेयत्वेन विवक्षितं, तच्चेत्थं समासेऽस्तमुपगतम् । यथा वा—

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
तं च संहितममोघसायकं व्याजहार हरसूनुसंनिभः ॥

अत्र सायकानुवादेन अमोघत्वं विधेयम् । 'अमोघमाशुगम्' इति तु युक्तः पाठः ॥ यथा वा—

मध्येव्योम त्रिशङ्कोः शतमखविमुखः स्वर्गसर्गं चकार ।

अत्र विश्वामित्रस्य तपःप्रभावप्रकर्षः प्रस्तुतः । स च तस्य निरुपकरणस्य सतः शून्ये व्योमनि स्वर्गसर्गसामर्थ्येनैव प्रतिपादितो भवतीति व्योमैव प्राधान्येन विवक्षितम्, न तन्मध्यम् ॥

कामुकचित्तस्य यत् 'संदाननं' बन्धनं, प्राग् या न मुक्ताऽतिप्रियत्वात् । तान्ति खेदम् ॥ 'अस्मान्' इति सखीः ॥ निषेधो विधेय इति । प्रसज्य विषयत्वादित्यर्थः । यदुक्तम्—

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥१६४॥

इत्यत्र । न त्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किंचिद्विहितम्, यथा—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ॥
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥१६५॥

इत्यत्रात्रस्तताद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

विरुद्धमतिकृद् यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥१६६॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम् । अकार्येषु मित्रमिति तु प्रतीतिः । यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तिलोचनानन्ददायिनः ।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥१६७॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम् । तथा—

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥

एतदेव दृष्टान्तेनाह, यथा—'नवजलधरः' इति । अत्र प्रतिषेधस्य प्राधान्यम् । नञ्समासस्तु अनुपपन्नः । तस्य हि पर्युदास एव विषयः, तत्रैव विशेषणत्वात् । नञः स्याद्यन्तेनोत्तरपदेन संबन्धोपपत्तेः । तदुक्तम्—

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

न च पर्युदासाश्रयणं युक्तं, अर्थस्यासंगतिप्रसङ्गात् । मुक्तत्वप्रतिषेधो ह्यत्राभिमतो, नो मुक्तत्वविधिः । न चासौ प्रतीयते । गुणभूतमुक्तनिषेधस्यार्थान्तरस्यैव मुक्तत्वसदृशस्य विधिप्रतीतिरित्याह—न त्वमुक्ततानुवादेनेति ॥ एतदेव दर्शयति, यथा 'जुगोप' इत्यादौ । अत्र अत्रस्ताद्यनूद्यगोपनादि विधेयम्, तस्माद् अस्य नञो विधेयतया प्रधानस्यानूद्यतयाऽप्रधानेन मुक्ता-शब्देन सह न समास इष्ट इति स्थितम् । यदाह—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासंतानशान्तात्मन-
स्तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः ।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथवा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥१६८॥

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति।

यथा वा—

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
सविधे निरहंकारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥१६९॥

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति ।

श्रुतिकटु समासगतं यथा—

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्रादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥१७०॥

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

केचन, न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम्—

नञर्थस्य विधेयत्वे निषेधस्य विपर्यये ।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसङ्गतः ॥

'अश्राद्धभोजी'इत्यादौ तु 'श्राद्धभोजी'इत्यनेन गमकत्वाद् वा समासः ॥

भवस्य भार्या 'भवानी'। ततो 'भवान्याः पतिः'इत्युक्ते भवं विहाय अन्यस्यापि पत्युः प्रतीतिः। यथा 'चैत्रभार्यायाः पतिः'इत्युक्ते उपपतौ प्रतीतिः॥

'सोऽपि'इति अपिर्विस्मये।। अम्बिका जनन्यपि, ततो मातृरमण इति विरुद्धा बुद्धिः ॥

'सुधे'ति, अमृतरूपा ॥

अन्यदपीति । अप्रयुक्तादिसमासगतम् । तथा शृङ्गारे दधिघृतकुशालसादयो, हास्ये नयविनयार्थवाचिनो, रौद्रे दमक्षमासत्यशौचादयो, वीरे व्याधितालस्यादयो, बीभत्से चन्दनादयो, अद्भुते घृणात्वदर्थास्त्याज्याः ॥ [५२]

अपास्येति । च्युतसंस्कारादि दोषत्रयं विहाय वाक्येऽपि श्रुतिकटु-

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनताप्सीत्सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥१७१॥

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसंमतान् ॥ १७२ ॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः, मूकबधिरोऽनेडमूकः ।

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपतेः ।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः ॥ १७३ ॥

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥ १७४ ॥

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन्नुपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितोऽर्थः ।

प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ॥ १७५ ॥

प्रभृतयो दोषाः ॥

‘अध्यैष्ट’इति । भट्टिकाव्ये दशरथवर्णने ‘अताप्सीद्’इति अन्तर्भूतेऽनर्थः सकर्मको, अन्यथा कर्म चिन्त्यम् ॥ ‘षड्वर्गम्’इति । कामक्रोधलोभमदमात्सर्याहंकाररूपम् ॥ अत्र क्रियापदानि श्रुतिकटूनि ॥

अप्रयुक्तं यथा—‘स रातु’इति । भावुकानां कुशलानां संबन्धिनीं परंपरां युष्मभ्यं ददातु ॥

‘श्लोको’ यशः ॥ शरादीति । शरस्मरक्षान्तिपद्मार्थतया प्रसिद्धत्वात् । खड्गादिपर्यायतया त्वसिद्धत्वाद् निहतार्थम् ॥

‘कुविन्दः’ पृथ्वीलाभयुक्तः । पट्करोषि गुणग्रामान् सरितो नदीश्च । अत्र कुविन्द–पटयसि–विगताच्छादनशब्दास्तन्तुवायादिकमभिदधानाः स्तुत्यस्य तिरस्कारं व्यञ्जन्ति ॥

‘प्राभ्रे’ति । प्रकृष्टमभ्रं कृष्णो मेघः तद्वद् भ्राजते यो विष्णुस्तस्य धाम

अत्र प्राभ्रभ्राड्-विष्णुधाम-विषमाश्व-निद्रा-पर्णशब्दाः प्रकृष्ट-जलद-गगन-सप्ताश्व-संकोच-दलानामवाचकाः ।

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।
तत्तत्प्रहणनोत्साहवती मोहनमादधौ ॥ १७६ ॥

अत्रोपसर्पण-प्रहणन-मोहन-शब्दा व्रीडादायित्वादश्लीलाः ।

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गं च भुञ्जते ।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्तनम् ॥ १७७ ॥

अत्र वान्तोत्सर्गप्रवर्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥१७८॥

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम् ।

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ॥ १७९ ॥

अत्र "किं सुरादिशब्दा देवसेनाशरविभूत्यर्थाः, "किं मदिराद्यर्थाः—इति संदेहः ।

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥ १८० ॥

व्योम प्राप्य । अत्र पञ्च शब्दाः पञ्चानामवाचकाः ॥ यथा वा—

विभजन्ते न ये भूपमालभन्ते न ते श्रियम् ।
आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम् ॥

अत्र विभजतिर्विभागार्थः सेवने, आलभतिर्विनाशार्थो लाभे, आवहतिः करोत्यर्थो धारणे, प्रस्मरतिर्विस्मरणार्थः स्मरणेऽवाचकः ॥

'कम्पना' सेना रागवशाच्चला च । 'वामं' शत्रुं प्रति प्रतिकूलं वल्गु च लोचनं यस्याः । कामशास्त्रभाषया उपसर्पणं रतार्थिन्यागमनम् । वात्स्यायने प्रथमाध्याये 'प्रहणनयोगाः' इति सूत्रे मैथुनार्थः प्रहणनशब्दः ॥

'पावकेन' पवित्रेण जनेनाग्निना च सहान्वयो यत्र पितृगृहे ॥

'सुरालये'ति संग्रामे निहताः स्वर्गं यान्तीत्युल्लसति स्वर्गः, तत्र च कारणं स राजा, संग्रामकर्तृत्वात् । 'कम्पना' सेना चलनं च, 'मार्गणेषु' याच्ञासु च । 'भूति'र्भस्म च ॥

'तस्याधिमात्रे'ति मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति त्रिधा योगी,

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दा योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः ।

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥ १८१ ॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः ।

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं बोधय सांप्रतम् ॥ १८२ ॥

अत्राम्बररत्नपादैः क्षततमा अचला भूः कृता, नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता ।

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥ १८३ ॥

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति संबन्धे क्लिष्टत्वम् ।

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

एकैकश्च मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्चेति नव । तत्राधिमात्रोपायानां तीव्रसंवेगानां आसन्नः समाधिलाभः समाधिफलं च स्यात् । संपिपादयिषया चित्तवृत्तिनिरोधसाधनानुष्ठानं योऽभ्यासः स दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । दीर्घकालेनासेवितो निश्छिद्रासेवितस्तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च संपादितसत्कारवान् दृढभूमिर्व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येव अनभिभूतविषयः, योगोपरमेऽपि यस्य ध्यानसंस्कारो नाभिभूयत इत्यर्थः ॥ 'मियो' मोक्षश्च । कामी चात्र प्रस्तुतः तस्य कामिनोऽधिककारणवतः । 'तीव्रसंवेगताजुषः' 'प्रियप्रमदाप्राप्तेः प्राक् तद्गोचराभिलाषवतो निश्चलानुरागस्येत्यर्थः ॥

'वस्त्रे'त्यादि 'वस्त्रं' अम्बरं, 'वैडूर्यं' मणिः, 'चरणाः' पादाः । अम्बरमणिपादैरित्यर्थः । 'क्षतं' सत्त्वरजोभ्यां परं तमो यस्यां सा 'क्षतसत्त्वरजःपरा' ॥ अचला भूः, तत्पर्यायो 'निःकम्पा' । 'वेदय' इति बोधय । रविकिरणैर्भूमिर्हततमाः कृता । त्वं जागृहीत्यर्थः ॥

अपूर्वबन्धेति । अपूर्वा बन्धव्युत्पत्तिर्यस्य ॥ क्लिष्टत्वमिति । व्यवहितार्थप्रत्ययजनकत्वम् ॥

अविमृष्टविधेयांशत्वं वाक्ये, यथा—'न्यक्कारो हि 'इति । अत्र इदमर्थ—

धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥१८४॥

अत्रायमेव न्यक्कार इति वाच्यम् । उच्छूनमात्रं चानुवाद्यम्, न वृथात्वविशेषितम् । अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्य-

---

न्यक्कारयोरनुवाद्यविधेयभावो विवक्षितः । स च रूप्यरूपणास्वभाव इति रूप्यविषयस्यानुवाद्यस्येदमर्थस्य प्रागुपादानं न्याय्यम् । 'अयमेव न्यक्कारः' इत्युक्ते हि–शब्दशक्तिमहिम्ना न्यक्कारस्य विधेयत्वं प्रतीयते, यथा—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः ।

इत्यादौ ॥ प्रबोधनं प्रबोधितं, तद् विद्यते यस्य ॥ 'वृथोच्छूनैः' इत्यत्रापि वृथात्वमेव विधेयं, तच्चेत्थं विशेषणतयोपन्यस्तं सद् गौणम् । यदाह—

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।
न ह्यलब्धास्पदं किंचित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥
विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूप्यरूपकतात्मकः ।
न तत्र च विधेयोक्तिरुद्देश्यात् पूर्वमिष्यते ॥

ननु 'अयमेव न्यक्कार उच्छूनैर्वृथा' इत्येवं विपर्ययेणात्र संबन्धः करिष्यते, तस्य पुरुषाधीनत्वात् । तथा च न यथोक्तदोषावकाशः । सत्यम्, न सर्वविषयोऽयं संबन्धस्य पुरुषाधीनत्वोपगमः, तस्य हि विशेषणविशेष्यभाव एव विषयोऽवगन्तव्यः । यत्र स्वसौन्दर्यादेव तयोरन्योन्याक्षेपो न विध्यनुवादभावः । विध्यनुवादयोर्यथाश्रुतपदार्थसंबन्धनिबन्धनोऽर्थप्रतीतिक्रम इति पदार्थपौर्वापर्यनियमोऽवगन्तव्यः । ततश्च यदनूद्यते तस्य आदौ उपादानमुपपन्नम् । यस्तु विधीयते तस्य पश्चादिति । 'खलेवाली यूपो भवति' इत्यादौ च तथैव दृष्टम् । तथा 'वृद्धिरादैच्' इत्यत्र भगवता भाष्यकारेणावस्थापितं यद् 'उतालं मङ्गलद्योतनार्थमादौ 'वृद्धि'शब्दस्योपादानं क्षमणीयम्, अन्यथा 'आदैच्'–अनुवादेन वृद्धिसंज्ञाविधानात् पश्चाद् अभिधानं कार्यं स्यात् । यथा 'अदेङ् गुण' इत्यादौ, तथा प्रमाणमविसंवादिज्ञानमित्यत्रापि यत् प्रमाणमिति लोकप्रसिद्धं तद् अविसंवादिज्ञानमेवेति विज्ञेयम्' इति तात्पर्यार्थः ॥ काव्येऽपि एषैव शैलेशी (? शैली), यथा—

त्वक्कारवी निवसनं मृगचर्म शय्या गेहं गुहा विपुलपत्रपुटा घटाश्च ।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यं पुत्रस्य जातमटवीगृहमेधिनस्ते ॥

स्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य । यथा वा—

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासिवेल्लनम् ।
विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ॥१८५॥

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यविधेयार्थतया विवक्षितमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत् ।

तथा हि, प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते । क्रमेणोदाहरणम्—

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ १८६ ॥

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥१८७॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।

न पुनरेवं यथा—' शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः ' इत्यादि, शाद्वलाद्यनुवादेन शय्यादीनां विधेयत्वात् ॥

' अरालं ' वक्रम् ॥ अनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृदिति । अनुवाद्यविधेययोः क्रमेणैव प्रत्यायनाय वक्तुमिष्टं, न तु विधेयत्वप्रतीतिकृदिति, यदः प्रयोगोऽनुपपन्नः । यत्र हि यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमः, तत्र तत्प्रत्यवमर्शिना तदितरेणोपसंहारो न्याय्यः, तयोरनुवाद्यविधेयार्थविषयत्वेन इष्टत्वात्, तयोश्च परस्परापेक्षया संबन्धस्य नित्यत्वात् । अत एवाहुः ' यत्तदोर्नित्यमभिसंबन्धः ' इति । स चायमनयोरुपक्रमोपसंहारक्रमो द्विविधः शब्दश्चार्थश्चेति । तत्रोभयोरुपादाने सति शाब्दो, यथा—

यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत् ॥

यथा च ' स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः ॥ '

एकतरोपादाने सति आर्थः, तदितरस्य अर्थसामर्थ्येनाक्षेपात् । तत्र तदः केवलस्योपादाने आर्थः प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतविषयतया त्रिधेत्याह—तथा हि प्रक्रान्तेति । ' स ' इति प्रक्रान्तो राजा ॥

' से ' ति सर्वलोकप्रसिद्धा ॥

' उत्कम्पिनी ' ति । वत्सराजः स्वकान्तां दैवयोगात् प्रदीपनके दग्धां दृष्ट्वा

क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥ १८८ ॥

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यार्थगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात्पूर्ववाक्यार्थगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते । तथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥१८९॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकाङ्क्षः । यथा—अत्रैव श्लोक आद्यपादयोर्व्यत्यासे । द्वयोरुपादाने तु निराकाङ्क्षत्वं प्रसिद्धम् । अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कचिद् गम्यते । यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ १९० ॥

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति ।

एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकाङ्क्षत्वम् । न चासाविति

तदीयां दहनसमयावस्थां स्मरन् विलपति । ते 'इति, सातिशयविभ्रमैकास्पदे इत्यनुभवैकविषये ॥

'चन्द्रमसि' उदिते सतीति शेषः । 'साधु कृतं यन्मीलितम' । नात्र तच्छब्दापेक्षा, तद्विषयस्य कर्मादेरर्थसामर्थ्यादेव आक्षिप्यमाणत्वात् ॥

'ये नाम 'इति । नामशब्दोऽक्षमायाम् । 'ये केचिदिह प्रबन्धे देशे काले वा अस्माकमवज्ञां कुर्वन्ति ते किमपि स्वल्पं न किंचिल्लोकोत्तरं वा जानन्ति, तान् प्रति नैष प्रकरणनिर्माणविषयो यत्नः, तेषां स्तोकदर्शित्वात् । ' लोकोत्तरं यज्जानन्तीति व्याख्यातं तत् तेषामुपहासाय । कान् प्रति तर्हीत्याह–' उत्पत्स्यते तु 'इति । ' सारेतरविभागज्ञ उत्पत्स्यते कश्चिद् 'इति संभाव्यते ॥

एवं यत्तच्छब्दविचारं कृत्वा 'योऽसौ सुभगे'ति प्रस्तुते भावयन्नाह–एवं चेति ॥ अत्र साकाङ्क्षत्वमिति । 'योऽसौ सुभगे'त्यत्र ॥

ननु, 'योऽसौ ' इति यच्छब्दानन्तरोऽदः शब्दः प्रयुक्त एव, स तच्छब्दार्थमभिधास्यतीत्याह–न चेति । न हि ' असौ ' इत्युक्ते ' स ' इति प्रतीयते,

तच्छब्दार्थमाह—

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥१९१॥

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः।

प्रतीतौ वा—

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥१९२॥

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं भवेत्।

अथ—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः।
आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥१९३॥

इतीदंशब्दवददःशब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्त इति। उच्यते। तत्रैव वाक्यान्तर उपादानमर्हति न तु तत्रैव। यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितः प्रसिद्धिं परामृशति।

यथा—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ॥ १९४ ॥

इत्यत्र तच्छब्दः।

यथा 'असौ मरुद्' इति। 'मरुता' स्वपित्रा च। 'केशराणि' सटा बकुलवृक्षाश्च। 'ताराधिपः' चन्द्रः सुग्रीवश्च। 'मण्डलं' बिम्बं राष्ट्रं च। 'रामो' रामभद्रो रामाः स्त्रियश्च। तर्हि अत्र 'इव' इति 'यो विकल्प' मित्यस्मिन्निव वृत्ते वाक्यान्तरगतत्वेन व्यवहितस्य भिन्नविभक्तिकस्यैव अद्-एतद्-इदं-शब्दस्योपादानं युज्यते, न तत्रैव यत्रैव यच्छब्दः ॥ अव्यवहितत्वे हि प्रत्युत तदितराकाङ्क्षा भवत्येव, यथा 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते तदाचष्टे' इति। 'सोऽयं वटः श्याम. इति प्रसिद्धस्त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः' इत्यादौ ॥ 'यत्तदूर्जितम्' इत्यत्र यच्छब्दानन्तरस्य तदः प्रसिद्धतेजोनिष्ठेन यदाभिसंबन्धादार्थः। 'यदस्तु तदपि' इत्यनेन तदा प्रक्रंस्यमानविषयेण शाब्दः संबन्धः ॥ एवं च 'योऽसौ' इत्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगः स केनाभिसंबध्यताम्। ततश्चानूद्यत्वमेव, न विधेयत्वमिति स्थितम् ॥

ननु कथम् —

कल्याणानां त्वमसि महसामीशिषे त्वं विधत्से
  [९]पुण्यां लक्ष्मीमथ मयि दृशं देहि देव ! प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे
  भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥ १९५ ॥

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तम् । उच्यते। यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् । तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

[१०]तथा—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
  मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथ वा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
  र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥१९६॥

अत्रास्येति तातस्येति च वाच्यम् । न त्वनयोः समासे गुणीभावः

प्रकारान्तरेणाविमृष्टविधेयांशं वाक्ये दर्शयति, तथा—'किं लोभेन 'इति लक्ष्मणोक्तौ ॥ न त्वनयोरिति । 'आर्यानुजः' इति 'तातकलत्रम् 'इति । अत्र षष्ठीसमासोऽपि नोपपद्यते, यतः सर्वेषामेव तावत् समासानां प्रायेण विशेषण-विशेष्याभिधायिपदोपरचितशरीरत्वं नाम सामान्यं लक्षणमाहुः, इतरथा तेषां समर्थतानुपपत्तेः ॥ स च विशेषणविशेष्यभावो द्विधैव संभवति समानाधिकरणो व्यधिकरणश्चेति । तत्राद्यः कर्मधारयस्य विषयः । यत्र तु द्वे बहूनि वा पदानि अन्यस्य पदस्य अर्थे विशेषणभावं भजन्ते सा च बहुव्रीहेः सरणिः । तत्रैव यदा संख्यायाः प्रतिषेधस्य च विशेषणभावस्तदा द्विगोर्नञ्समासस्य च गोचरः ॥ द्वितीयप्रकारः कारकाणां संबन्धस्य विशेषणत्वाद् बहुविधः । स तत्पुरुषस्य पन्थाः ॥ तत्रापि यदा अव्ययार्थस्य विशेष्यता स्यात् तदासौ अव्ययीभावस्य मार्गः ॥ तदेवं समासानां विशेषणविशेष्योभयांशसंस्पर्शित्वेऽपि यदा विशेषणांशः स्वाश्रयोत्कर्षाधानद्वारेण वाक्यार्थचमत्कारकारणतया प्राधान्येन विवक्षितो विधेयधुरामधिरोहेद्, इतरस्तु अनूद्यमानकल्पतया न्यग्भावमिव भजेत, तदासौ न वृत्तेर्विषयो भवितुमर्हति, तस्यां हि स प्रधानेतरभावस्तयोरस्तमियाद् । विभक्त्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी हि विशेषणानां

कार्यः । एवं समासान्तरेष्वप्युदाहार्यम् ।

विधेयतावगतिः, तत एव चैषां विशेष्ये प्रमाणान्तरसिद्धस्योत्कर्षापकर्षाधायिनां शाब्दे गुणभावेऽप्यार्थे प्राधान्यं, विशेष्याणां च शाब्दे प्राधान्येऽप्यार्थो गुणभावोऽपि, अनूद्यमानत्वात् । समासे च विभक्तिलोपाद् नोत्कर्षापकर्षावगतिरिति न तन्निबन्धनरसाभिव्यक्तिरिति तदात्मनः काव्यस्य अविमृष्टविधेयांशत्वं दोषः । तच्चैतद् विशेषणमेकमनेकं वास्तु, नानयोर्विशेषः कश्चित् ॥ तत्र कर्मधारये यथा—

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसं वहन्त्याः ।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥

अत्र विगलितकबरीभारत्वं अलसलसद्बाहुत्वं च अंसवपुषोर्विशेषणे रतेरुद्दीपनविभावतापादनेन वाक्यार्थस्य कामपि कमनीयतामावहत इति प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् न ताभ्यां सह समासे कविना न्यग्भावं गमिते ॥ एवं समासान्तरेष्विति ॥

अविमृष्टविधेयांशत्वं बहुव्रीहौ यथा—

यः स्थलीकृतविन्ध्याद्रिराचान्तापारवारिधिः ।
यश्चातापितवातापिः स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः ॥

अत्र स्थलीकरणादि विधेयं, 'येन स्थलीकृतो विन्ध्यः' इत्यादि तु युक्तम् । यत्र पुनरेष प्रधानेतरभावो न विवक्षितः स्वरूपमात्रप्रतिपत्तिफलश्च विशेषणविशेष्यभावः तत्र समासासमासयोः कामचारः । यथा—

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपपरिवर्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ॥

अत्र भवत इति रिपुस्त्रीणामिति च रिपुस्त्रीणां स्तनयुगस्य च संबन्धित्वेन यद् विशेषणं, न ततस्तेषामुत्कर्षयोगः कश्चिद् विवक्षितः, अपि तु तत्संबन्धप्रतीतिमात्रम् । तच्च 'व्रतमिव' भवदरिवधूस्तनद्वितयमित्यतः समासादपि तुल्यमेव । यथात्रैव 'रिपुस्त्रीणाम्' इति रिपुसंबन्धमात्रप्रतीतिः स्त्रीणां विधेयत्वं चैतत्प्राधान्योपलक्षणम् अव्यभिचारात् । ततश्च प्रधानाविमर्शोऽपि दोषः, यथा—

[1]श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्तयः ।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥ १९७ ॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासत इति विवक्षिते हता इति [2]विरुद्धा प्रतीतिः ।

पदैकदेशे यथासंभवं क्रमेणोदा[3]हरणानि—

अलमतिचपलत्वात्स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात्संग[4]मेन प्रियायाः ।

स्नेहं समापिबति कज्जलमादधाति सर्वान् गुणान् दहति पात्रमधः करोति ।
योऽयं कृशानुकणसंचयसंभृतात्मा दीपः प्रकाशयति तत् तमसो महत्त्वम् ॥

अत्र हि प्रकाशनक्रियाया एव प्राधान्यविवक्षा, नान्यासामिति तासां तत्समशीर्षिकया निर्देशो दोषः । स हि तत्र शत्रादिभिरेव वक्तुं न्याय्यो, न आख्यातेन । यथा 'बिभ्राणः शक्तिमाशु प्रशमितबलवत्तारकौर्जित्यगुर्वीम्' इत्यादौ ॥ यथा वा ममैव—

शश्वद्दर्शनलोपिसन्तततमस्तोमच्छिदा पण्डितः
काषायं दधदम्बरं मुनिरिव क्षोणीं पुनानः परम् ।
कुर्वाणः करविभ्रमैस्त्रिजगतो बोधं समभ्यासितः
पौरस्त्याचलवेदिकां दिनकरः क्लिश्नातु वः कल्मषम् ॥

सर्वासां पुनः प्राधान्यविवक्षायां नाख्यातवाच्यत्वं दोषः । यथा—

सौधादुद्विजते त्यजत्युपवनं द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारान्नश्यति चित्रकेलिसदसो वेषं विषं मन्यते ।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले
संकल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा ॥

यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक्क्रिया ।
तत्राख्यातेन वाच्याद्या शत्राद्यैरितरा पुनः ॥

इयं च समासासमासचिन्ता रसप्रसादानुगुणप्रयोगावहितचेतसां सहृदयानामेव उचिता, नान्येषाम् । ते हि शुष्कशब्दव्युत्पत्तिमात्रोपजनिताभिमानदुर्विदग्धा लक्षणमस्तीत्येव रसाभिव्यक्तिविघ्नभूतं बहुवकरप्रायं प्रयुञ्जते ॥

'श्रितक्षमा' इति । कृतोपशमा भूमौ पतिताश्च, अनुरक्तलोकाः शोणितधाराश्च, शिवा शृगाली च, विग्रहः कलिः शरीरं च, गताशर्माणः

इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥ १९८ ॥

अत्र त्वादिति । यथा वा—

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥१९९॥

अत्र द्ध्यै ब्ध्यै इति कटु ।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥२००॥

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थेन निहतार्थः ।

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित-
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः संतापितानां दृशाम् ।
संप्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥ २०१ ॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकम् । कुरङ्गेक्षणाया एकस्या एवोपादानात् । न च–

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैः ॥२०२॥

इत्यादिवद् व्यापारभेदाद्बहुत्वं; व्यापाराणामनुपात्तत्वात् । न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्तते । अत्रैव 'कुरुते' इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम् । प्रधानक्रियाफलस्य कर्तृसंबन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात् ।

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्येवैतत्किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥ २०३ ॥

गतप्राणेन्द्रियाश्चेति विरुद्धमतिकृत् ॥

क्रियाफलाभावादिति । न हि दृग्निषेकफलं लभतेऽद्यापि सा, विरहिणीत्वात् ॥

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥२०४॥

अत्र पेलवशब्दः ।

यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ-
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन ।
सौजन्यमान्यजनिरूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ २०५ ॥

अत्र पूयशब्दः ।

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग तादृशः ।
कथमद्य स तद्वदीक्ष्यतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥ २०६ ॥

अत्र प्रेतशब्दः ।

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् ।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥ २०७ ॥

अत्र किं पूर्वं साधुरुत साधुषु चरतीति संदेहः ।

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥ २०८ ॥

अत्र वचःशब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते । अत्र खलु न केवलं पूर्वपदं, यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते । जलध्या-[१००]दौ तूत्तरपदमेव, वडवानलादौ च पूर्वपदमेव ।

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदास्तथाप्यन्यैरलंकारकारैर्विभागेन प्रदर्शिता इति, भेदप्रदर्शनेनोदाहर्तव्या इति च

'कीलनं' तत्रैव स्थैर्यम् । सौजन्यमान्यतयोर्जनिरुत्पत्तिः ॥ पूयशब्द इति । पदांशो जुगुप्सार्थः ॥

प्रेतशब्द इति अमङ्गलार्थत्वात् पदांशोऽश्लीलः ॥

नेयार्थे पदांशे यथा 'किमुच्यत' इति ॥ जलध्यादौ त्विति । उत्तरपदपरिवर्तने हि मेघ एव वाच्यो, न समुद्रः ॥ यदुक्तम्—

शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिवशात् ।
यौगिकमर्थविशेषे पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥

अप्रयुक्तादय इति । आदिशब्दाद् अवाचकसंदिग्धनेयार्थाः ॥ भेदप्रदर्शने-

विभज्योक्ताः ।

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसंधि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥५३॥
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥५४॥
भग्नप्रक्रममक्रमम[112]मतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते [113]तद्विपरीतं प्रतिकूलत्वम् । यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥ २०८ ॥

रौद्रे[113]—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति[114] नो
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः ॥ २०९ ॥

अत्र [115]हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम् । यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशांभवधनुर्द्वेधाविधाविर्भव-
त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥२१०॥

यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ।

नेति, मतिविकासायेति शेषः ॥५२॥

अर्थान्तरे द्वितीयस्मिन्नर्थे एको वाचकः शब्दः प्रथमार्थस्य यत्र स तथा ॥ अपदस्थं पदं समासश्च यत्र ॥ प्रसिद्धिहतमिति । 'हुतम्' इति पाठान्तरम् ॥

'देशः सोऽयम्' इति । यस्मिन् देशे परशुरामपिता हैहयेन केशेषु धृतः, तत्रैवाश्वत्थामा स्वपितरं द्रोणं पाण्डवैः केशधृतं दृष्ट्वेदमाह ॥

'निशुम्भो' नमनम् । 'अपविद्धो' मुक्तः ॥ चतुर्थपाद इति अस्यैव वृत्तस्य ॥ तथैवेति । अविकटवर्णत्वेन ॥

उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् । यथा–

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥२११॥

[११७] संधेर्वैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च ।
आद्यं[११८][११९] यथा—

राजन्विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं[१२०] जहति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते [१२१]उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसंपदे[१२२]मेषु भातः ॥ २१२ ॥

यथा वा—

तत उदित [१२३]उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्बत मुक्तामणिवच्चकास्त्येने[१२४]नर्घः ॥२१३॥

संहितां न करोमीति स्वेच्छा सकृदपि दोषः । प्रगृह्यादि-[१२५]हेतुकत्वे त्वसकृत् ।

उपहतेति ॥ यदाह कुतुकः—

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पादैः प्रोतैः परस्परम् ।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥

संधिः स्वराणां समवायः संहिताकार्येण द्रवद्रव्याणामिवैकीभावः । 'विवक्षितश्च संधिर्भवति 'इति वचनात् 'तानि इन्दोः 'इत्यादौ सकृदपि विसंधित्वं दोषः । सति च द्वितीयपदे विसंधित्वं स्यादिति द्वितीयं पदं विसंधीत्युक्तम् । द्वितीयपदस्याप्यादिपदं विना विसंधित्वं दुर्घटमित्यादिपदमप्यर्थाद् विसंधीत्यत एवायं वाक्यदोषः ॥

'जहती 'ति त्यजन्ति विकिरन्ति, पातालमपि प्रकाशयन्तीत्यर्थः ॥ उचितार्थवृत्ती इति उचितार्थवर्तनरूपे इत्यर्थः ॥

'संहितैकपदवत्पादेस्वर्धान्तवर्जम् 'इति काव्यसमय इत्याह–संहितामिति ॥ 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् 'इति द्विवचनान्तानां प्रगृह्यसंज्ञोक्ता । तेषां प्रकृतिस्थत्वविधाने निरन्तरं यत् करणं 'धीदोर्बले ' इत्यादौ तदपि दोषः ॥ सकृत्तु न दोष इत्याह–प्रगृह्यादीति ॥

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु ॥ २१४ ॥

अत्र[125] संधावश्लीलता ।

उर्व्यसावत्र[126] तर्वाली [128]मर्वन्ते चार्व[129]वस्थितिः ।
नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ २१५ ॥

हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र त[130]द्धतवृत्तम् ।

[131]क्रमेणोदाहरणानि—

अमृतममृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा
मधु[132]रमथ किं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्प्रियादशनच्छदात् ॥२१६॥

अत्र यदिहान्यत्स्वादु इत्य[133]श्रव्यम् ।

यथा वा—

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवर जस्स दोसो पडिवक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥२१७॥

अश्लीलत्वं यथा 'वेगादुड्डी'ति । अत्र कस्मीरेषु दुड्डी—लण्ड-चिक्कु-शब्दास्तृतीयादिसंधौ वराङ्ग-मेढ्र—योनिप्रणिवाचकाः । तथा—

चकाशे पनसप्रायैः पुरी षण्डमहाद्रुमैः ।

अत्र शेप—पुरीष—महाद्रुमशब्दा व्रीडा—जुगुप्सा—अमङ्गलार्थस्मारकाः ॥

कष्टत्वं यथा 'उर्व्यसौ'इति । 'उर्वी' अप्रमाणा, 'चार्ववस्थितिः' सप्रसरा । अत्र मर्वन्ते । ऋजु प्राञ्जलम् ॥

'अमृतम्'इति । कश्चित् प्रियाया अधरस्य स्वादिष्ठतामभिधित्सुः स्वादुतया प्रसिद्धांस्तावदर्थानभ्यनुजानाति । 'रसवत्स्वादु नान्यथा,' रसवन्त्येवेत्यर्थः । अथ किं, नात्र कश्चिद्वि प्रतिपद्यत इत्यर्थः । 'प्रसन्नरसं' प्राप्तपरिपाकम् ॥ एवमनुज्ञाय 'सकृदपि'इत्यादिना विवक्षितमाह—'मध्यस्थः सन्नपक्षपतितो भूत्वा रसान्तरविद् जनस्तस्यैवोभयास्वादज्ञत्वाद् विचारेऽधिकारः ॥ 'यदिहान्यद्'इति । अत्र स्वरसंधिकृतेऽपि नाम्नोऽन्यशब्दस्य भेदे यतिभ्रष्टत्वप्रतीतेरश्रव्यत्वम् । हरिण्यां हि वृत्ते षट्चतुःसप्तभिर्यतिः ॥

'जं परी'ति । आनन्दवर्धनकृत—पञ्चबाणलीलाकथायामियं गाथा । 'तीर्यते'

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारभकारौ ।

विकसितसहकारतारहारिपरिमलपुञ्जितगुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥२१८॥

अत्र[१३४] हारिप्रमुदितसौरभेति पाठो युक्तः ।

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवः कन्या मृदन्यैव सा
संभाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलाद्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसां[१३५] शस्त्राणि वस्त्राणि च ॥२१९॥

अत्र वस्त्राण्यपीति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते ।

हा नृप हा बुध हा कविबन्धो विप्रसहस्रसमाश्रय देव ।
मुग्धविदग्धसभान्तररत्न क्वासि गतः क्व वयं च तवैते ॥२२०॥

हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम् ।

न्यूनपदं यथा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि[१३६] पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥२२१॥

अत्रास्माभिरिति, खिन्ने—इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च ।

अधिकं यथा—

शक्यते । यस्य इति कामस्य । एव 'केवलं प्रतिपक्षैः' ब्रह्मचारिभिः । सकारभकाराविति अश्रव्यौ बन्धशैथिल्यात् ॥

'हारी'ति अप्राप्तगुरुभावोऽन्तलघुः । पुष्पिताग्रायां हि च्छन्दसि विषमपादेऽन्त्यो यगणः ॥

'कन्या'इति कुमारी । अत्र यावद् अनया एनं विमुच्य न कश्चिदन्यो विहित इत्यर्थः ॥ 'वस्त्राण्यपि'इति ण्यकारस्य महाप्राणत्वाद् अन्त्यस्यापि महाप्राणत्वमित्यर्थः ॥

'मुग्धविदग्धसभयोरन्तर्मध्ये रत्ने'ति संबोधनम् ॥ हास्यरसेति करुणरसाननुगुणम् ॥

इत्थमिति चेति नोक्तं, ततो

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।
[138]अनिरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तैः[139] प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ॥२२२॥

अत्राकृतिशब्दः ।

यथा वा--

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरत्स्वपि[140] मान्मथा विकाराः ।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥२२३॥

अत्र कृतमिति । [141]कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति ।

तथा च यदपि च न कुरङ्गलोचनानामिति पाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः । कथितं[142]

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमिलन[143]निमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।
सुतनु[144] कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम् ॥२२४॥

विराटस्यास्माभिः श्रितमनुचितं वेश्म निभृतं
गुरुश्चेत्थं खिन्ने मयि भजति खेदं न कुरुषु ।

-इति युक्तः पाठः ।

' अनिरुद्धा ' न निषिद्धा समन्वितोक्तियुक्तिर्यस्य ॥

प्रक्रमभङ्गमिति । पूर्वार्धे कृतपदं नास्ति, द्वितीयार्धे त्वस्तीति ॥

विश्वामित्रः श्वमांसं श्वपच इव पुराऽभक्षयद्यन्निमित्तं
तार्डीजङ्घो निजघ्ने कृततदुपकृतिर्यत्कृते गौतमेन ।
पुत्रोऽयं काश्यपस्य प्रतिदिनमुरगान् हन्ति तार्क्ष्यो यदर्थे
प्राणांस्तानेव साधुस्तृणमिव कृपया यत्परार्थे ददासि ॥

अत्र तच्छब्दोऽधिकः, तच्छब्दमन्तरेणापि उपकारस्य तद्विषयतावगतेः ॥

तथा—

दलत्कन्दलभाग् भूमिः सलवाम्बुदमम्बरम् ।
वाप्यः फुल्लाम्बुजयुजो जाता दृष्टिविषं मम ॥

-अत्र भजिः सहशब्दो युजिश्चाधिकाः ॥

यदेकं पदं द्विः प्रयुज्यते तत् कथितं दोषः । नैकं पदं द्विः प्रयोज्यमिति

अत्र लीलेति । पतत्प्रकर्षं यथा--

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
क: कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते ॥२२५॥

समाप्तपुनरात्तं यथा--

क्रेंकारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
झंकारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः ।
तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥२२६॥

द्वितीयार्धगतैकत्वा[145]चैकशेषप्रथमार्धं यथा--

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः ।
तदिति जनकपुत्री लोचनैर[146]श्रुपूर्णैः
पथि पथिक[147]वधूभिः शिक्षिता वीक्षिता च ॥२२७॥

अभवन्मतः ई[148]ष्टः योगः सं[149]बन्धः यत्र [150]तत् । यथा—

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनतरुच्छायासु यैः कल्पिताः ।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
तैः [151]किं त्वत्परितोषकारि विहितं किंचित्प्रवादोचितम् ॥२२८॥

समयः । लाटानुप्रासादौ तु गुण एवेति वक्ष्यते ॥

'कः कः कुत्रे'ति । 'घुरी' वाद्यभाण्डविशेषः । घुर्घुरायिता चासौ घुरी च तद्वद् घोरः । अत्र क्रमात् क्रममनुप्रासो घनयितव्यः । यथा च प्रथमपादे आरोहस्तथा न द्वितीयपादादिष्विति ॥

'क्रेंकार 'इति । अत्र 'प्रेम तनोतु वः' इति वाक्ये समाप्ते 'नववय' इत्यादि पुच्छप्रायं पुनरप्यात्तं न चमत्करोति ॥

'मसृणे 'ति । अत्र यद् भूः सदर्भा तद् मसृणचरणपातं गम्यतां, यच्च घर्मः कठोरः तद् मूर्ध्नि वस्त्राञ्चलं कुरु 'इति पूर्वेऽर्धे युक्तस्तच्छब्दो द्वितीयेऽर्धे प्रविष्टः ॥

अत्र " गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात्स्याद्—" इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वे[१५२] ये यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति । क्षपाचारिभिरिति तु[१५३] पाठे युज्यते समन्वयः । यथा वा—

त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥ २२९ ॥

अत्र यदित्यत्र तदिति, तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति । चेत्स्यादिति तु[१५४] युक्तः पाठः ।

यथा वा—

अत्र गुणानामिति । ' अप्रधानानां गुणानां च समत्वमेव, प्रधानानुयायित्वादित्येवंरूपोऽन्यो यो गुणानां च परार्थत्वाद् 'इत्यादिसूत्रेण जैमिनिना य उक्तस्तदनुसारेणात्र तैरिति विधेयतया प्राधान्येन यत् क्षपाचारिभिरिति प्रत्याययितव्यं तत्परत्वेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानामनुवाद्यत्वादेव गुणभूतानां नान्योन्यमन्वयः, प्रधानानुयायित्वेन समत्वात् । अतः ' क्षपाचारिणाम् 'इति विशेष्याभिधायिपदोपादाने ' येषां येषाम् 'इति यच्छब्दद्वये सामानाधिकरण्याद् भवति विशेष्यस्य प्रतीतिः ॥ ' यैः 'इत्यत्र तु सामानाधिकरण्येन यत् ' क्षपाचारिभिः 'इति विशेष्याभिधायि पदं तद् विना कथं विशेष्यं गम्यते । विभक्तिपरिणामश्च शास्त्रीयो न्यायः काव्येषु न युक्त इत्याह ' यै 'रित्यत्रेति । युज्यत इति । यदि ' क्षपाचारिणाम् 'इत्यस्य स्थाने ' क्षपाचारिभिः 'इति पठ्यते तदा त्रयोऽपि यच्छब्दार्थाः समशीर्षिकया धावित्वा प्रधानेन तैः क्षपाचारिभिरित्यनेन प्रतिस्वमाञ्जस्येनैव संबन्धमनुभवन्तीत्यर्थः ॥

' त्वमेव 'मिति । एवं परिदृश्यमानं सर्वातिशायि सौन्दर्यं यस्याः । ' स च रुचिरतायाः ' सौन्दर्यस्य ' परिचितः ' । ' सीमान 'मुत्कर्षम् । युवयोर्मिथुनमिति प्राक्तनेन हेतुना संवदति । अतः संवादात् शिष्टं यद् अन्योन्यं सुरतसुखानुभवनं तच्चेत्स्यात् ' तदानीं गुणितया जितमनुरूपं संयोजनया सर्वोत्कर्षेण वृत्तमित्यर्थः ॥ न चात्र न्यूनपदत्वं दोषो यच्छब्दाभावेऽपीष्टसंबन्धस्याभावादित्यभवन्मतयोगो दोषः ॥

संग्रामाङ्गण[155]संगतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च [156]कीर्तिरनघा कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥२३०॥

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि, वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् । न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि । न च केन केनेत्यादिप्रश्नः ।

यथा वा—

[157]चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी ॥ २३१ ॥

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम् । कृतवतेति परशौ सा प्रतीयते । कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति ।

यथा वा—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं य[158]शोदुन्दुभिः ॥२३२॥

अ[160]त्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते ।

अत्राकर्णनेति । यत्राकर्णयेति क्रियायाः कोदण्डादयः कर्मत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा तेभ्यो द्वितीया स्यादिति भावः ॥ वाक्यार्थस्येति । यदि कोदण्डादिवाक्यार्थः कर्मत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रथमान्तता स्यात् । यथा—

अवैमि तदपध्यानाद् यत्नापेक्षो महोदयः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपू[? जा]व्यतिक्रमः, इत्युत्तरार्धम् ।

इत्यादौ 'अवैमी'ति क्रियाया अग्रेतनवाक्यार्थः कर्मत्वेन विवक्षितोऽपि प्रथमान्त इति द्वितीयं दूषणम् । न च 'येन येन' इत्यनयोर्यच्छब्दयोः कोदण्डादिरर्थो येन तद्द्वारेण तद्विभक्तिः स्यात् ॥ नापि 'येन येन' इत्यादिर्विशेषणं कोदण्डादिर्येन यच्छब्दसमन्वयः कोदण्डादिभिः स्यात् । न च 'केन केन' इत्यादिः प्रश्नोऽस्ति येन 'कोदण्डेन' इत्यादेस्तृतीया स्यात् ॥

सर्वैरिति ऋत्विगादिभिः । तेन 'आध्वरः' इत्याधारतया निर्देष्टुं योग्यः ।

यथा वा—

तथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
संभूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥२३३॥

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते । भैवानी संबन्धिनी तु विवक्षिता ।

अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र । यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै-
रत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था ।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-
माहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥ २३४ ॥

अत्रापहृतोऽस्मीत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः । तथापीत्यस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः ।

यथा वा—

दृढतरनिविष्टमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य ।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥

अत्र कृपण-कृपाणयोराकारमात्रकृतो व्यतिरेक उक्तः । स चायुक्तः । द्विविधो ह्याकारार्थः सन्निवेशलक्षणोऽक्षरविशेषलक्षणश्च । तत्राद्यस्तावत् परस्परपरिहारस्थितिमतोरर्थयोः सिद्ध एवेत्यनुपादेयो न चमत्करोति । द्वितीयस्तु अक्षरविशेषकृतस्य भेदाभेदव्यवहारस्य शब्दैकविषयत्वाद् अर्थयोर्न संभवत्येव । इह तु युक्त एवासौ ॥

अक्षराणामकारोऽहमिति यः स्वयमभ्यधात् ।
सोऽपि त्वयाऽमुना स्वाभिन्नाकारेण लघूकृतः ॥

तेनाक्षरविशेषात्मकाकारभेदलक्षणस्य शब्दधर्मस्य अर्थविशेषणभावेन परस्परमसंबन्धो दोषः ॥

विधिर्वाच्य इति । अपहृतत्वलक्षणो विधिः षष्ठ्यन्तनिर्देशे सति न युक्तो, यतः तथापीति भिन्नवाक्यगतत्वेनैवोपपद्यते ॥

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा
प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्ती ।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूपं[१३३]-
लक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥२३५॥

अत्र मनोरथानामपि दूरवर्तीत्यप्यर्थो वाच्यः ।

यथा च[१६०]-

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥२३६॥

अत्रापराधस्य लवमपीति वाच्यम् ।

'एषोऽहम्' इति । उषा नाम्नी शिवायाः सुता । सा च पुराणवृत्तान्तेन बाणासुरसुतेति लोके रूढा । सा चानिरुद्धेन कामसुतेन सह 'स्वप्नलब्धं वरं प्राप्स्यसि' इति गौर्या दत्तेन प्रसादेन परिणायिता । स च गौरीमुखविनिर्गतो वरः साधिष्ठायकत्वाद् देवतारूपोऽन्येषां पुर आत्मानं प्रशंसन्निदमाह । अनिरुद्धेन सह या घटना तयाधिगतं आभिरूप्य-लक्ष्म्याः सुरूपतायाः फलं यया ॥

वाच्यमिति । यतोऽत्रापि शब्दं विना विवक्षितार्थस्य न प्रतीतिः, क्वचिच्च दुष्टार्थप्रतीतिः स्यात् । यथा—

संपदो जलतरङ्गविलोला यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।
शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः किं धनैः परहितानि कुरुध्वम् ॥

अत्र धन-शब्दानन्तरं कार्य-शब्दानुक्तेः, 'धनैः किम्' इति 'परहितानि कुरुध्वं' मा कार्ष्टेति दुष्टोऽर्थः प्रतीयते ॥ यथा वा 'नवजलधरः संनद्धोऽयम्' इत्यादौ ॥ अत्र भ्रान्तौ निवृत्तायां तद्विषयभूतयोः सुरधनुर्धारासारयोरिव विद्युतोऽपि 'इदमा' परामर्शो वाच्यः ॥ तथा 'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये' इत्यादौ । अत्र द्वितीयः कमलार्थः सर्वनामवाच्यः । तेन 'तस्मिंश्च कुवलये' इत्युक्तम् ॥ केचित्तु 'धर्मिधर्मोभयात्मनो वस्तुनः प्रतिपत्तये पुनः स एव शब्दस्तत्पर्यायः सर्वनाम वावश्यं वाच्यमपि, यत्र नोक्तं तत्रापि अनभिहित-वाच्यत्वम्' इत्याहु । यथा—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

अत्र कपालि-शब्दो धर्मिधर्मोभयार्थवृत्तिः संज्ञिमात्रं वा प्रत्याययेत्, कपालसंबन्धकृतं वा गर्हितत्वम्, उभयमपि वेति त्रयः पक्षाः ॥ तत्राद्यपक्षे

अस्थानस्थपदं यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधौ[११६]
निवेशितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥ २३७ ॥

अत्र काचिन्न विजहाविति वाच्यम् । यथा वा —

विशेषप्रतिपत्तये कपालि-ग्रहणमपरमपि कर्तव्यं, येनास्य गर्हितत्वं प्रतीयेत। द्वितीये पक्षे तस्याश्रयप्रतिपत्तये तेनैव तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना वा विशेष्यमवश्यमुपादेयं भवति, येन तस्य विवक्षितार्थसिद्धौ आर्थो हेतुभावोऽवकल्पेत । न चैषामेकमप्यत्रोक्तमिति दोषः, तेन 'द्वयं गतं संप्रति तस्य शोच्यताम्' इति युक्तम् ॥

वयं तु ब्रूमः, न हि शब्दस्याभिधैव व्यापारो, येनैकस्मिन्नेव आर्थे उपक्षीणत्वात् तस्य शब्दान्तरमर्थान्तरार्थं प्रयुज्येत । तदा वृत्तिनिबन्धनं वा किंचित् परिकल्प्येत, किं तु व्यापारान्तरमपि व्यञ्जकत्वलक्षणमित्येकस्मादेव शब्दाद् वाच्येन सहैव व्यङ्ग्यस्यापि प्रतीतिः । तथा हि परमेश्वरवाचकशब्दसहस्रसंभवेऽपि 'कपालिनः' इति तद्वाचकतया प्रयुक्तं बीभत्सरसालंबनविभावतां सूचयद् जुगुप्सास्पदत्वं ध्वनति। अनभिहितवाच्यत्वं चोपलक्षणं, तेन अवाच्यवचनमपि दोषः । यथा—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

अत्र यत्साक्षात् सीताया वर्णनं तद् अवाच्यमेव, तत्संबन्धिनां स्पर्शादीनामेवेह रम्याणामर्थानां विरहव्यतिरेकेणाङ्गिभावेनोपयोगात्; न तस्या एव, विरहस्य तत्संबन्धित्वेऽपि असह्यत्वाभिमानादिति सीतावर्णनं दोषः । 'मुखं पूर्णश्चन्द्रस्तनुरमृतवर्तिर्नयनयोः' इति त्वाद्यः पादो युक्तः ॥

'स्रजं न काचिदि'ति । निर्देशे 'कापि' इति न प्रतीयते, किं तु 'सर्वापि' इति प्रतीतिः, ततो नञ उत्तरवर्तिना किम्-शब्देन योगस्त्याज्यः ॥

लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालम्बेन निद्रान्तरे
मुद्राङ्कः शितिकंधरेन्दुशकलेनान्तः कपोलस्थलम् ।
पार्वत्या नखलक्ष्मशङ्कितसखीनर्मस्मितह्रीतया
प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः ॥ २३८ ॥

अत्र नखलक्ष्मेत्यतः पूर्वं कुटिलाताम्रेति वाच्यम् ।

अस्थानस्थसमासं यथा—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
[१७०]प्रोद्यन् दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणो-
त्फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥२३९ ॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरुक्तौ तु कृतः ।

संकीर्णम्, यत्र [१७२]वाक्यान्तरपदानि [१७३]वाक्यान्तरेऽनुप्रविशन्ति ।
यथा—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥ २४० ॥

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि, इमं कण्ठे गृहाण, मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च[१७४] । एकवाक्यतायां तु

श्लथजटायां लंबो लम्बनं यस्य चन्द्रखण्डस्य। तेन कपोलमध्ये प्रतिबिम्बकं लग्नम् । अत्रादौ कुटिलताम्रच्छवित्वे प्रतिपादिते पश्चान्नखलक्ष्मशङ्का वक्तुमुचिता । शङ्का हि कुटिलत्वादिधर्मसद्भावे एव स्यात् । तथा—

कष्टा वैधव्यथा नित्यं कष्टश्च वहनक्रमः ।
श्रवणानामलंकारः कपोलस्य तु कुण्डलम् ॥

अत्र श्रवणानामिति पूर्वार्धे निवेशयितुमुचितम् । 'नार्धे किंचित् असमाप्तं वाक्यम्' इति हि वामनः ॥

'अद्यापी'ति । अत्र 'क्रोधादिव' इत्यन्ता क्रुद्धस्य चन्द्रस्य उक्तिः। अस्यां च 'कृतसमासानि पदानि प्रयोज्यानि' इति कविसमयः; कवेरुक्तौ तु 'फुल्लद्' इत्यादिकायां समासः कृत इति अस्थानसमासत्वम् ॥

ननु, संकीर्णे क्लिष्टदोष एवेत्याह—एकवाक्येति । एकक्रियापेक्षः स दोषः, अयं तु अनेकक्रियापेक्ष इति क्लिष्टाद् अस्य भेदः ॥

क्लिष्टमिति भेदः ।

गर्भितम्, यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति । यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥ २४१ ॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः । यथा वा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किंचिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥२४२॥

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्येतत् कृतं, प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत् ।

' मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥ '

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकंदरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥ २४३ ॥

तृतीयः पाद इति । अर्द्धयोस्तु परावृत्तौ न दोषः, यथा—

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कथंचन ।
परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ॥

'लग्न'मिति रागः अनुरागो रुधिररागश्च । अत्र 'विदितम्' इति गडुभूतं मध्ये प्रविष्टम् ॥

'मञ्जीरादी'ति । आदि-ग्रहणं रसना-घण्टा-भ्रमराद्यर्थम् । प्राय-ग्रहणं सदृशार्थवृत्ति क्वणि-शिञ्जि-गुञ्जि इत्याद्यर्थम् । प्रभृति-ग्रहणं वाशत्याद्यर्थम् । 'मेघादि' इत्यादि शब्दात् सिंहमृगादि । 'प्रमुखम्' इति ध्वननाद्यर्थम् । एवंप्रायान् प्रयुज्यमानान् दृष्ट्वा प्रयुञ्जीत । शास्त्रे हि सामान्येन पठ्यन्ते, अथ च विशेषे एव दृश्यन्ते । यथा हेषतिरश्वेषु, मणतिः पुरुषेषु, कणतिः पीडितेषु, वातिर्वायौ, बृंहतिर्गज इत्यादि, न त्वन्यत्र । न हि भवति 'पुरुषो वाति' इति ॥

[१७७]रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषणे[१७८] सिंहनादे ।

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावः यत्र । यथा—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशापि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥ २४४ ॥

अत्र गतेति प्रक्रान्ते यातेति प्रकृतेः । गता निशापीति तु युक्तम् । ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण'–इत्यन्यत्र, कथितपदं दुष्टमिति[१७९] चेहैवोक्तेः, कथमेकस्य पदस्य द्विःप्रयोगः। उच्यते । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदे[१८०]द्विप्रयोगनिषेधस्य । तद्वति तु विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः ।

त[१८१]था हि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥ २४५ ॥

अत्र रक्त एवास्तमेतीति यदि [१८२]क्रियेत, त[१८३]त्पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति । [१८४]सर्वनाम्नः प्रयोगात् ।

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥२४६॥

अत्र प्रत्ययस्य । सुखमीहितुं [१८५]वेति तु युक्तम् ।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ २४७ ॥

अत्र सर्वनाम्नः । अनेन विसृष्टा इति तु वाच्यम् ।

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२४८॥

भग्नः प्रक्रम इति । स हि यथाप्रक्रममेकरसप्रसृतायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुद्घात इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति । स च प्रकृतिप्रत्ययसर्वनामपर्यायादिविषयत्वाद् अनन्तप्रकारः । तत्र प्रकृतेर्यथा 'नाथे'ति ॥

'ते हिमालये'ति । अत्र शूलिनं प्रक्रान्तमिदमा परामृश्यते । नैव तत्परामर्शः कर्तुं युक्तः । न तदा तयोर्देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव भिन्नार्थत्वाद् न चासौ

अत्र पर्यायस्य । महीभृतोऽपत्यवतोऽपीति युक्तम् ।

अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये सस्नेहोऽभूदिति केचित्स[११६]मर्थयन्ते ।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
[११७]लघुता नियता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥२४९॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । तदभिभवः कुरुते निरायतिम् । लघुतां [११८]भजते निरायतिः, [११९]लघुताभाग् न पदमिति युक्तम् ।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरोभावि नार्यः शशंसुः ॥२५०॥

अत्र वचनस्य । काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभाः [१२०]निःश्रीका इति, कम्पमाना इत्यत्र कम्पमापुरिति [१२१]च पठनीयम् ।

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थम[१२२]भ्यस्यतु ।
[१२३]विश्रब्धैः क्रियतां [१२४]वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
[१२५]विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥२५१॥

कृत इत्याह—अत्र सर्वनाम्न इति ॥

पर्यायस्येति । पुत्रापत्य-शब्दौ पर्यायत्वात् प्रक्रमभेदविषयौ ॥

अत्रोपसर्गस्येति । पूर्वं ह्युपसर्गोपपदः, तत आङुपपद इत्युपसर्गस्य, तथा 'लघुता' इत्युक्त्वा पर्यायान्तरं 'अगरीयान्' इति कृतं, ततः पर्यायस्य च भग्नः प्रक्रमः । यथा वा—

उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतम् ।

अत्र पर्यायस्य ।

मिता भूः पत्याऽपां स च पतिरपां योजनशतम् ।

–इति तु युक्तम् ॥ एवं च छिदिक्रियाकर्तुरुदन्वत उक्तनयेन विधेयतया प्राधान्यात् समासानुपपत्तिदोषः परिहृतः ॥

'कम्पमापु'रिति । एवं कृते सति त्यादेर्भग्नप्रक्रमदोषः परिहृतः ॥

अत्र कारकस्य । विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवैरा इत्यदुष्टम् ।

अकलितपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
वविततमदाध्माते रोषान्मुनावभिधावति ।
अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसंग्रहणाय च ॥ २५२ ॥

अत्र क्रमस्य । पादोपसंग्रहणायेति हि पूर्वं वाच्यम् । एवमन्यद-प्यनुसर्तव्यम् ।

'अकलिते'ति । भार्गवं दृष्ट्वा रामश्चिन्तयति । अत्र 'अकलित' इत्याद्युक्तानुसारेण पूर्वं 'पादोपसंग्रहणाय 'इति युक्तम् । यथा वा—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्द्वोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥

अत्रापि क्रमस्य । एवमन्यत्रापीति ॥

कालविशेषप्रक्रमभेदो यथा—

सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः ।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वमिथ्याप्रवादममृजन् वननिम्नगानाम् ॥

—अत्र यः स्नानादौ कालविशेषः प्रक्रान्तः स नेजने उपेक्षितः । यद्वा, परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनयोग्यत्वात् परोक्षस्य अविवक्षायां ह्यस्तनी, यथा 'अजयत् जर्तो हूणान्' इति । तथा अत्रैव त्यादेश्च । 'विकचमस्य दधुः प्रसूनम्'इति तु युक्तम् । अस्मिंश्च पाठे बिस-शब्दस्य पौनरुक्त्यदोषोऽपि परिहृतः । सर्वनामपरामर्शस्य हि विषयो बिसार्थो, न स्वशब्दस्य । यथा च-

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥

—अत्र अनुयाति क्रियाकर्मभावो वरुणस्यार्थः प्रक्रान्त इति हेतुरप्यस्य तादृश एवोपादातुं युक्तः । यत्तु असन्नियमनलक्षणः शब्दो हेतुरस्य अन्येषामिव उपात्तः स भग्नः प्रक्रमः । तस्यापि रसभङ्गपर्यवसायित्वात् । तेन 'नियमयन्नसतः स नराधिपः' इति युक्तम् । एवं च विभक्तिप्रक्रमभेदश्च शब्दश्च निरस्तसमुच्चयभावः क्रमभेददुष्टश्च परिहृतौ भवतः । यथा च—

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः ।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसंगमभूषः ॥

अविद्यमानः क्रमो यत्र, यथा—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ २५३ ॥

अत्र त्वंशब्दादनन्तरं [च]कारो युक्तः ।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगुले नाथ दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः ।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥२५४॥

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति न्याय्यम् । लेखं रागावृताङ्ग्येत्यादाविति

—अत्र शृङ्खलाक्रमेण कर्तुः कर्मभावः कर्त्रन्तरं च यथा प्रक्रान्तं, न तथा निर्व्यूढम् । दीपकालंकारस्य च काव्यशोभाकारित्वेन उपनिबद्धस्य अनिर्वाहाद् भग्नप्रक्रमत्वम् । दयितसंगम-शब्दस्य च प्राधान्येन अभिमतस्य समासे गुणी भूतत्वाद् अविमृष्टविधेयांशत्वम् । ' तमपि वल्लभसङ्ग 'इति तु युक्तम् ॥

'द्वय'मिति । 'संप्रति द्वयं च ' इति अतिरम्यम् । यत् किल पूर्वमेका सैव दुर्व्यसनदूषितत्वेन शोभ्या जाता । संप्रति पुनस्त्वया तस्याः सहायकमिव आरब्धमित्युपहस्यते । प्रार्थना-शब्दोऽपि रम्यः, यतः काकतालीयन्यायेन तत्समागमः कदाचिन्न वाच्यतावहः । प्रार्थना पुनरत्यन्तं कलङ्ककारिणी । सा च त्वं चेति द्वयोरप्यनुभूयमानपरस्परस्पर्द्धिलावण्यातिशयप्रतिपादनपरत्वेन उपात्तम् । 'कलावतः कान्तिमती 'इति च मतुप्प्रत्ययेन द्वयोरपि प्रशस्यता प्रतीयते । 'सा'इति सर्वप्रसिद्धा ॥ ' त्वं 'शब्दादिति । समुच्चयद्योतको हि चकारः समुच्चीयमानार्थाद् अनन्तरमेव प्रयोज्य इति क्रमः । अत्र पदस्य अस्थाननिवेशित्वेऽपि क्रमाभाववैशिष्ट्यं विवक्षितमिति अपदस्थपदाद् अस्य भेदः ॥ यथा च

उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ।

—अत्र हि पुनःशब्दः 'तेन' इत्यतोऽनन्तरं प्रयोज्यः । पुनःशब्दो हि व्यतिरिच्यमानार्थान्तर्येणैव प्रयोगमर्हतीति क्रमः ॥

श्रीनियोगादिति वाच्यम् ।

अप्रतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र, यथा—

रामसन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२५५॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ।

अर्थदोषानाह—

इति श्रीनियोगादिति । तदुक्तम्—

उक्तिस्वरूपावच्छेदकरो यत्रेतिरिष्यते ।
न तत्र तस्मात् प्राक् किंचिदुक्तेरन्यत्पदं वदेत् ॥
इतिना नेवेतरेषामप्यव्ययानां गतिः समा ।
ज्ञेयेत्थमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥
यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम् ।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरासमञ्जस्यमन्यथा ॥

यथा वा—

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।

—अत्र परामर्शनीयमर्थमनुक्त्वैव यस्तस्य सर्वनामपरामर्शः सोऽक्रमः । तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो विषय इष्टो, न प्रक्रंस्यमानः, स्मृतिपरामर्शरूपत्वात् । स्मृतेश्चानुभूत एवार्थो विषयो, नानुभविष्यमाणः । अत्र च प्रतीतिमात्रमनुभवो, नेन्द्रियविषयभावः । न च गङ्गाशब्दार्थः प्रतीतपूर्वो यस्तदा परामृश्येतेति परामर्शस्य अक्रमो दोषः । इदमा तु अनुपक्रान्तस्यापि बुद्ध्यैव अध्यवसितस्य परामर्शो भवति; यथा ‘इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यः’ इति । अस्मिन् रामायणे कवयः । वेदेऽपि ‘इदमहं रक्षसो ग्रीवा अपि कृन्तामि’ इति । यत्तु उद्देशिनामनूद्देशिनां च क्रमभ्रंशोऽक्रमत्वं; यथा—

कीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ । इति ।

—अत्र पदरचना विपरीतेति भग्नप्रक्रमलक्षणो वाक्यदोषः ॥

‘निशाचरी’ अभिसारिकापि । ‘गन्धवद्’ इति निन्दाप्रशंसयोर्मतुप् । ‘चन्दनोक्षिता’ इत्यत्र ‘कुङ्कुमे’ति मौलः पाठः । ‘जीवितेशो’ यमो भर्त्तापि ॥ अत्र प्रकृत इति बीभत्सरसे ॥

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥५५॥
संदिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः ॥५६॥

साकाङ्क्षोऽपदे[202]मुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥५७॥

दुष्ट इति संबध्यते । क्रमेणोदा[203]हरणानि—

अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः ।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥२५६॥

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानमर्थं न बाधन्त इत्यपुष्टाः, न त्वसंगताः पुनरुक्ता वा ।

सदा मध्ये यासामियममृतनिष्य[204]न्दसरसं
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि [205]स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥ २५७॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्र[206]मध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति, ता गम्भीरकाव्यपरिचिताः [207]कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु, यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा

त्रयस्त्रिंशतं वाक्यदोषानुक्त्वा त्रयोविंशतिमर्थदोषानाह—अर्थोऽपुष्ट इति । प्रकृतानुपयोगाद् अपुष्टार्थत्वं, यत उपात्ता अपि स्वरूपमात्रप्रतिपादकत्वाद् न किंचित् साधयन्ति ॥ असंबद्धश्च तद्वांश्चेति रुद्रटोक्तौ दोषौ नापुष्टाद् अस्माद् भिन्नावित्याशयेनाह—न त्वसंगता इति । अनेन एवंविधानामर्थानामसंगतत्वं छन्दःपूरणमात्रत्वं वा मन्यमानेन भट्टरुद्रटेन दोषस्यास्य 'यदसंबद्धः' इति च नाम कृतं तद् निराकरोति ॥ कष्टावगम्यत्वात् कष्टार्थत्वं, यथा 'सदे'ति ॥ कविरुचीनामिति प्रतिभारूपाणां प्रभाणाम् ॥ सुकुमारेति । यत् कुन्तकः—

सन्ति तत्र त्रयो मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥

गम्भीरकाव्यपरिचिता इति । महाकाव्ये सर्गबन्धलक्षणे परिचयमागताः कथमभिनेयकाव्यवत् प्रसादं यान्तु । तथा 'यासाम्' इति द्वितीयोऽर्थः ॥

वहति, ता मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः ।

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥२५८॥

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम् ।

कृतमनुमतमित्यादि ॥२५९॥

अत्रार्जुनार्जुनेति भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः । यथा वा—

ननु गुणविपर्ययात्मानो दोषा इत्यत एव सामर्थ्यात् कष्टत्वदोषावगमः सिद्धः, किं दोषाधिकारे तदुक्त्येति । सत्यम्, सौकर्याय तत्प्रपञ्चः । एवमन्यत्रापि सामर्थ्यावगम्ये निर्दिष्टे अयमेव परिहारो वाच्यः ॥

पूर्वापरव्याघातो व्याहतत्वं यथा 'जगती'ति । मालतीमाधवस्य मालतीं प्रतीयमुक्तिः । 'इन्दुकलादयः' इत्यादिशब्दात् चन्द्रिकापि अवकरप्राया यं वक्तारं प्रति स एव स्त्रियाश्चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति पूर्वोक्तिश्चन्द्रिकोत्कर्षोक्त्या व्याहता ॥ यथा वा 'मृगाक्षि नेत्रे तवानुपमे ।' तथा

जहि शत्रुकुलं कृत्स्नं जय विश्वंभरामिमाम् ।
न च ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥

अत्र शत्रुवधो विद्वेष्ट्रभावेन व्याहतः ॥

'किरीटी'ति । वेणीसंहारे अश्वत्थामार्जुनार्जुनेत्युक्त्वा वृत्ते च भवद्भिरित्युक्त्वा पुनरपि किरीटि-शब्दमुक्तवानित्यर्थपौनरुक्त्यं, तच्च आर्थमेकमेवोपगन्तुं युक्तं, न शाब्दं, तस्यार्थभेदे सति अदुष्टत्वात् । यदुक्तम्—'तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग्वाच्यमर्थपुनरुक्तेनैव गतत्वात् ।' न ह्यर्थभेदे शब्दसाम्ये कश्चिद् दोषः । यथा 'हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति' इत्यादौ । पौनरुक्त्यं च प्रकृतिप्रत्ययोभयपदवाक्यविषयत्वाद् अनेकं, यथा 'अश्वीयसंहतिभिरुद्धतमुद्गराभिः ।' अत्र समूहार्थायाः प्रकृतेः संहतेश्च पौनरुक्त्यम् । 'आगामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम् ।'—अत्र समूहार्थायाः प्रकृतेर्बहुवचनस्य च प्रत्ययस्य, यथा

'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः' 'त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्' इति च मत्वर्थीयस्य, बहुव्रीहिसमासाश्रयेणैव तदर्थावगतिसिद्धेः। यदाहुः—'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् प्रक्रमस्य। तथा 'वामो जाङ्गवपल्लवानि' इति, 'तदीयमातङ्गे'ति, 'येनाकुम्भनिमग्नवन्यकरिणाम्' इति। अत्र तद्धितप्रत्ययस्य, षष्ठीसमासाश्रयेणैव तदर्थावगतेः॥ 'अथ भूतानि वार्तघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः।' अत्र तु अपत्यार्थे तद्धितो, नेदमर्थे इति नाधिक्यम्॥ यत्र च विशेषणाद् विशेष्यमात्रप्रतीतिस्तत्र तदुक्तेः पौनरुक्त्यं, यथा 'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः।' अत्र भवशब्दस्य। यथा वा 'चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्।' अत्र नागेन्द्रेन्द्रवाहनशब्दयोरेकतरस्य॥ यत्र तु तद्विशेषप्रतिपत्तिर्न तत्र पौनरुक्त्यं, यथा—

तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः।

—अत्र हर शब्दस्य।

अथ यथा 'तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि' इत्यत्र विशेष्योपादानमन्तरेणापि उभयार्थप्रतिपत्तिस्तद्वद् अत्रापि भविष्यति तद् अयुक्तम्, सप्तम्युत्तमपुरुषेणैव अस्मदर्थस्य विशेष्यस्य प्रतिपादितत्वात् तदनुपादानसिद्धेः। यदाह—

विशेषणवशादिच्छेद् विशिष्टं यत्र संज्ञिनाम्।
युक्ता तत्र विशेष्योक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत्॥

यथा वा—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता॥

—अत्र द्वितीय इव-शब्दोऽधिकः। तथा—

शिशिरमासमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः॥

अत्र धी-शब्दोऽत इति च हेत्वर्थः शब्दः पुनरुक्तौ, हेत्वर्थेन इतिनैव तदर्थस्योक्तत्वात्॥ यथा 'अश्वे'ति विद्रुतमनुद्रवतान्यमश्वमिति। तेन 'इति यतोऽस्तरुषः' इति युक्तम्। अत्र च कुचोष्मणः कर्तुर्हरणक्रिया तदपेक्षमपासनस्य पौर्वकाल्यं; केवलं कृद्वाच्यतयाऽसौ कर्तुरुपाधिभावं गतेति भिन्नकर्तृत्वभ्रमः। यथा 'विपच्य कटो भवति' इत्यत्र घटनक्रियापेक्षं विपचनस्य

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णालं संभ्रमेण व्रज कृप समरं मुञ्च हार्दिक्य शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः ॥२६०॥

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः[२१३] ।

भूपालरत्न निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव ।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥२६१॥

पौर्वकाल्यं, न भवनक्रियापेक्षं; यथा 'अधिश्रित्य पाचको भवति' इत्यादौ पाकाद्यपेक्षमधिश्रयणादेर्न भवनक्रियापेक्षम् । सा हि नावश्यं प्रयुज्यते, प्रतीयते तु पदार्थानां सत्ता, अव्यभिचारात् । न तु तावता तदपेक्षं तदिति मन्तव्यं, तस्या बहिरङ्गत्वात् । अर्थस्य असंगतिप्रसङ्गाच्च प्रयुज्यमानक्रियापेक्षमेव पौर्वकाल्यं; क्त्वो विषयो न प्रतीयमानक्रियापेक्षम्; अन्यथा

श्रुत्वापि नाम बधिरो दृष्ट्वाप्यन्धो जडो विदित्वापि ।
यो देशकालकार्यव्यपेक्षया पण्डितः स पुमान् ॥

–इत्यादिप्रयोगजातमनुपपन्नं स्यात्, श्रवणादीनां तत्पूर्वकालत्वाभावात् । श्रुत्यादिशक्तिविरहलक्षणबाधिर्यादिप्रयुक्तक्रियापेक्षमेव श्रवणादीनां पौर्वकाल्यम् ॥ केचित्तु 'अपास्ये'त्ययं ल्यबन्तप्रतिरूपको निपात इत्याहुः ॥ तथा—

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ॥

–अत्र निरीक्षणक्रियाकर्तुर्मृत्योर्भयपक्षपातक्रिये विषयविषयिभावभङ्गयोपात्ते ॥ तथा–'यां दृष्ट्वापि समुत्सुके मनसि मे नान्या करोत्यास्पदम् ।' अत्र दर्शनक्रिया कर्तुर्मनसोऽन्यकर्तृकास्पदक्रियाधिकरणभावेन उपात्तस्य औत्सुक्यक्रियाविशेषणभावेन उपात्ता । सर्वेषां च नामपदानां क्रियैवैका प्रवृत्तिनिमित्तमिति सर्वेऽपि जात्यादयः शब्दाः क्रियाशब्दा एवेति केचित् ॥

'मम पितरी'ति द्रोणाचार्ये ॥ चतुर्थेति । 'कर्णालं संभ्रमेण' इत्युक्ते 'ताते चाप'इत्यादि पुनरुक्तम् ॥

अप्रधानस्यार्थस्य पूर्वं निर्देशः क्रमः, तस्याभावो दुष्क्रमत्वं, यथा 'भूपाले'ति । यदा तु उदारसत्त्वो गुर्वादिर्बलाद् ग्राह्यमाणः–'तुरंगम्' इत्यादि

अत्र मातङ्गस्यै[4] प्राङ्निर्देशो न्याय्यः ।

स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदयि सांप्रतमाहर[5] कूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥२६२॥

एषोऽविदग्धः ।

मात्सर्यमुत्सार्येत्यादि ॥ २६३ ॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे संदेहः । शान्तशृङ्गारान्यतराभिधाने तु निश्चयः ।

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्यान्भून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्
विमोक्ष्ये शस्त्र त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥२६४॥

अत्र शस्त्रमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने
यदेतस्मिन्हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद् दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥२६५॥

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् । यथा वा—

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरिहेक्ष्यताम् ।

वक्ति तदा न दोषः ॥

क्रमानुष्ठानाभावो वा दुष्क्रमत्वं यथा—

कारावितूण खउरं गामउडो मज्जिऊण जिमिऊण ।
नक्खत्तं तिहिवारे जोअसिअं पुच्छिउं लग्गो ॥

ग्राम्यत्वं, यथा 'स्वपिती'ति निद्राति । 'स्वपिमि 'इति कामये ॥

संशयहेतुत्वं संदिग्धत्वं, यथा 'मात्सर्य'मिति ॥

निर्हेतुः, यथा 'गृहीत'मिति । द्रोणाचार्येणामृतेऽप्यश्वत्थामनि 'हतोऽश्वत्थामा 'इति श्रुते सुतशोकात् शस्त्रं मुक्तं हतश्च सः । ततोऽश्वत्थामापि शस्त्रं मुमुक्षुरिदं पपाठ ॥ 'यत' इति 'तत' इत्यत्रार्थे ॥

प्रसिद्धिविरुद्धं यथा 'इदं ते ' इति॥ 'कमलातङ्क ' पद्मविच्छायतापादकं वदनं यस्याः ॥

इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥२६६॥

पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो, न पुनरङ्कुरोद्गमः।

सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क नासि शुभप्रदः ॥२६७॥

अत्रामूर्तापि कीर्तिर्ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम् ।

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः ।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥२६८॥

ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ।

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते ।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥२६९॥

एतदर्थशास्त्रेण ।

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना ।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥२७०॥

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितम् । एतत्कामशास्त्रेण ।

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन
दुःसाधसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।

कविषु प्रसिद्ध इति, 'न तु अङ्कुरोद्गमः' इति प्रसिद्धिविरोधः ॥ रुद्रटोक्तश्चातिमात्रदोषोऽस्मान्न भिन्नः ॥

अमूर्तापीति । यशःप्रभृतीनामर्थानां स्वभावान्यथोपनिबन्धे कविप्रसिद्धिः कारणम् ॥

विद्या । धर्मार्थकाममोक्षशास्त्रं गीतनृत्तनाट्यचित्रकर्मादिकाश्चतुःषष्टिः कलाश्च । तद्विरुद्धं, क्रमाद् यथा 'सदे'ति ॥

अर्थशास्त्रेणेति । षाड्गुण्यानुसरणमेव दण्डनीतौ द्विषज्जयस्य मूलम् ॥

'अङ्गनं' स्थानम् ॥

'अष्टाङ्गे'ति यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-

आसादयन्नभिमतामधुना विवेक-
ख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥२७१॥

[329]विवेकख्यातिस्ततः[330] संप्रज्ञातः[331] पश्चादसंप्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ ।[332] एवं विघ्नान्तरै[333]रपि विरुद्धमुदाहार्यम् ।

ऽष्टौ योगाङ्गानि । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । स्थिरसुखमासनम् । तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तदेवार्थनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । ‘ कालनं ’ तत्रैव स्थैर्यम् । ‘ सिद्धिसन्निधं ’ निकटा अपि सिद्धिः । प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानं विवेकख्यातिः । समाधिश्च संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः समाधिः । वितर्कश्चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगः । सूक्ष्मो विचारः । आनन्दो ह्लादः । एकरूपात्मिकार्थमात्रा संविद् अस्मिता । विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽसंप्रज्ञातः । सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः । तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते । स चार्थशून्यस्तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीति निर्बीजः समाधिरित्याह— विवेकेति ॥

गीतविरुद्धं यथा—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ।

‘ श्रुतिसमधिकम् ’ इति श्रुत्या समधिकं पञ्चश्रुतिकमित्यर्थः । ‘ पीडयन्तः ’ इति श्रुतिह्रासेनाल्पीकुर्वन्त इत्यर्थः । ‘ भिन्नकीकृत्य षड्जम् ’इति भिन्नषड्जं कृत्वेत्यर्थः । प्रातःकाले भिन्नषड्जो गेय इत्याम्नायात् । अत्र भिन्नषड्जेन मागधीगीतिरुपनिबद्धा । तस्यां च पञ्चमस्य ऋषभवद् असंभव एव, दूरे पुनः श्रुतिसमधिकत्वं; यतो भिन्नषड्जस्येदं लक्षणम्—

धांशस्तु धैवतन्यासः पञ्चमर्षभवर्जितः ।
षड्जोदीच्यवती जातिर्भिन्नषड्ज उदाहृतः ॥

‘ धांश । ’ इति धैवतांशः । जातयो ह्यष्टादश, यन्मुनिः—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
[२३४]संतर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥२७२॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् ।

तत्तु यथा—

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं
यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः
प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ २७३ ॥

षाड्जी चैवार्षभी चैव धैवत्यथ निषादिनी ।
षड्जोदीच्यवती चैव तथा स्यात् षड्जकैशिकी । इत्यादि ॥

तासां मध्याद् या षड्जोदीच्यवती जातिस्तस्याः सकाशादित्यर्थः ।

पाठ्यरहितं करणाङ्गहारादिनिर्वर्त्यं ताण्डवादि नृत्तं, तत्र विष्णु-गौरी शिवानां रङ्गद्वारचारीमहानागेषु क्रमेण श्रुत्युपनिबन्धे परितोष इत्यन्यथानिबन्धे नृत्तकलाविरोधः । पाठ्यपूर्वीकारेण ध्रुवागीत्यादियुक्तं करणाङ्गहारादि साध्यं; रसात्मकं नाटकादि नाट्यं । तत्कलाविरोधो, यथा—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः संचारिणो यथा ।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तद्वन्नेतुर्महीभृतः ॥

स्थायिनो भावाः संचारिणश्च यथा रसस्यार्थे प्रवर्तन्ते तद्वन्नेतुरिति । च-शब्दाध्याहारः । तन्न, न हि बहवः स्थायिन एकस्य रसस्यार्थे प्रवर्तन्ते । सर्वेषां हि रसानां प्रतिनियताः स्थायिनः ॥

चित्रकलाविरोधो यथा—

कालिङ्गं लिखितमिदं वयस्य पत्रं पत्रज्ञैरपतितकोटि कण्टकाग्रि ॥

'कालिङ्गं' पतिताग्रकण्टमिति पत्रविदामाम्नायः ।

न नवीकृतमिति, किं तु तदेवोक्तमित्यर्थः ॥

तत्त्विति नवीकृतम् । 'यदि दहति 'इति । अत्र हि स्वभाव एवायमिति 'किमद्भुतम् 'इत्याद्युक्तिभिर्वैचित्र्येणोक्तम् । सनियमानियमयोर्विशेषयोः परिवृत्तं विनिमयो येषु वाक्यार्थेषु ते तथा । तत्र परिवृत्तो नियमोऽनियमेन यथा

यत्र[235]ानुल्लिखिताक्षमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२७४॥

अत्र च्छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचितेति सनियमत्वं वाच्यम् ।

वक्त्रा[236]म्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥२७५॥

अत्र शोण एवेति नियमो न वाच्यः ।

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषीकूर्चकै-
र्मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम्[237] ।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥ २७६ ॥

अत्र[238] ज्योत्स्नामिति श्यामाविशेषो वाच्यः ।

कल्लोलवेल्लितदृपत्परुषप्रहारै-
रत्नान्यमूनि मकरा[239]लय मावमंस्थाः ।

'यत्रे'ति ॥ 'अनुल्लिखिताक्ष'मिति । अनभिव्यक्ताकारं जगतोऽपीन्द्रियाणि यत्स्वरूपं न निर्णेतुं समर्थानीति भावः । आभासेनैव मणीकृता अन्येऽश्मानो येन स चासौ सुमणिश्च । छायामात्रेत्युक्ते हि च्छाययैवेति सनियमत्वं सावधारणत्वं गम्यते, तच्चात्र नोक्तमिति नियमे वाच्ये 'तस्याभासे'त्यनियम उक्तः ॥

परिवृत्तोऽनियमः । सनियमेन यथा 'वक्त्राम्भोज'मिति । 'सरस्वती' नद्यपि । 'शोणो' नदभेदोऽपि । 'मुद्रा' अङ्गुलिमुद्राः । 'वाहिन्यः' सेना नद्यश्च । 'मानसं' सरश्च । नियमो न वाच्य इति अवधारणे हि कृते एकस्मिन्नेवार्थे शोणशब्दः पर्यवस्यति, न तु द्वये इति । 'शोण' इत्यनियमे वाच्ये 'शोण एवे'ति नियम उक्तः ॥

परिवृत्तो विशेषोऽविशेषेण, यथा 'श्यामा'मिति । 'ज्योत्स्नाम्'इति वाच्ये 'श्यामाम्'इति सामान्यमुक्तम् ॥

अविशेषो विशेषेण परिवृत्तो यथा 'कल्लोले'ति । अत्र एकेनेति सामान्ये

किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥ २७७ ॥

अत्र, एकेन किं न विहितो भवतः स नामेति सामान्यं वाच्यम्।

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥ २७८ ॥

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमित्याकाङ्क्षति । न हि परस्येत्यनेन संबन्धो योग्यः ।

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२७९॥

[240]अत्र स्याच्चेदेष न रावण इ[241]त्यत एव समाप्यम् ।

वाच्ये 'कौस्तुभेन' इति विशेष उक्तः । 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति तु युक्तः पाठः ॥

साकाङ्क्षत्वं यथा 'अर्थित्व' इति । 'विस्रंसनं' भ्रंशः । 'आकाङ्क्षति' इति 'स्त्रीरत्नमुपेक्षितुं देवः कथं सहते' इत्यर्थात् । न हि परस्येति । 'रामस्य स्त्रीरत्नम्' इति संबन्धो न युक्तः, तथाप्रतीत्यभावात् ॥

न पदं स्थानं अपदं तत्र मुक्तो, निषेधस्याप्राधान्ये विधेश्च प्राधान्ये पर्युदासस्य नञ उत्तरपदेन योगे समासः, यथा 'अब्राह्मण' इति । यदा तु पदे स्थाने न मुक्त इति क्रियया सह नञः संबन्धे निषेधप्राधान्ये प्रसज्य प्रतिषेधः, तदा न समासो, यथा 'श्राद्धं न भुङ्क्ते' इत्युक्तम् । तत्र यथा 'आज्ञे'ति । 'वरो' जामाता । अत्र 'न रावण' इति पदानन्तरं समाप्तिर्युक्ता । न च तथा कृतमिति अपदमुक्तत्वं दोषः । तथा हि 'रावणः' इति जगदाक्रन्दकारित्वाद्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो जनकस्य धर्मवीरं प्रत्यनुभावतां प्रतिपद्यते । ऐश्वर्यं पाण्डित्यं परमेशभक्तिर्देशविशेषोऽभिजन इत्येतत्सर्वं लोकमवबाधमानस्याधर्मपरस्य नार्थक्रियाकारकमिति तावतोऽर्थस्य तिरस्कारकत्वेनैव रावणचेष्टितं निर्वाहणीयम् । यत्तु अन्यदुपात्तं 'क्व नु पुनर्' इति तद् यदि ससंदेहत्वेन

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥२८०॥

[२४२]अत्र श्रुतबुद्ध्यादिभिरुत्कृष्टैः [२४३]सहचरैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम्[२४४] ।

[२४५]लग्नं रागावृताङ्ग्या ॥ २८१ ॥

इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्त्वस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते ।

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।
इयं परिसमाप्यते रणकथाद्य दोःशालिना-
[२४६]मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥ २८२ ॥

अत्र शयितः प्रयत्नेन बोध्यस इति विधेयम् ।[२४७] यथा वा—

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥२८३॥

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।

योज्यतेऽथाक्षेपत्वेनाथापि 'नेदृग्वरो लभ्यते' इति अर्थान्तरन्यासत्वेन तथापि प्रकृतस्य धर्मवीरस्य न कथंचिद् निर्वाहः ॥

सहचरा उत्कृष्टत्वनिकृष्टत्वादिना भिन्नाः पृथग्भूताः, अथवा निकृष्टैरुत्कृष्टाः सहचरा भिन्ना मिश्रिता यत्रेति सहचरभिन्नत्वं, यथा 'श्रुतेने'ति ॥

प्रकाशितं विरुद्धं यत्र स तथा, यथा 'लग्न'मिति ॥

विधिरयुक्तो, यथा 'प्रयत्ने'ति । अश्वत्थामा दुर्योधनं प्रत्याह । शत्रुषु हतेषु शयितः सन् स्तुतिभिरेव यदि परं बोध्यसे, न तु चिन्तया । सोमो जनपदस्तत्रभवा राजानः 'सोमकाः' । सर्वत्र भविष्यतीति योगः ॥ विधेयमिति 'शयित' इत्यनुवादे वाच्ये शेष इति विधिरयुक्तो, 'बोध्यसे' इत्यस्यैव विधेयत्वात् । तथात्रैव प्रयत्नेन 'बोध्यस' इति विधौ वाच्ये 'परिबोधितः' इत्यनुवादोऽपि अयुक्तः ॥

व्युत्क्रमेण वाच्यमिति । न हि वाताहारत्वाद् अधिको दम्भस्तोयकणव्रतम् ।

अरे रामाहस्ताभरण [२४८] भसलश्रेणिशरण
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन विरहिप्राणदमन ।
सरोहंसोत्तंस प्रचलदल नीलोत्पल सखे
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥२८४॥

अत्र विरहिप्राणदमनेति नानुवाद्यम् ।

लग्नं रागावृताङ्ग्या [२४९] इत्यादि ॥ २८५ ॥

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः ।

[२५०] उद्यतस्य परं [२५१] हन्तुं स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
[२५२] यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥ २८६ ॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि [२५३] प्रतीतिः ।

यत्रैको दोषः [२५४] प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति, तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात् [२५५] प्रकाशनं न कृतम् ।

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
[२५६] संनिधानादिबोधा [२५७] र्थम्

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते । तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये ।

यथा—

अस्या कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्य [२५८] न्तमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥ २८७ ॥

नापि ततोऽधिकं दम्भवत्त्वं मृगाजिनवसनमिति । व्युत्क्रमेण चोक्तं दम्भप्रकर्षं विधत्ते, न च तथोक्तमिति विध्ययुक्तत्वम् ॥

नानुवाद्यमिति । किमस्मत्प्राणान् दमयसीति विधौ वाच्ये विरहिप्राणदमनेत्यनुवादोऽयुक्तः ॥

त्यक्तपुनरात्तं यथा 'लग्न'मिति ॥

व्रीडादिव्यञ्जकमश्लीलं यथा 'हन्तु'मिति । हन्तिरिह मैथुने । एतद्वाक्यं खलेषु प्रयुज्यमानं शेपसि प्रतीतिं जनयति । इहान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्यैव अश्लीलत्वं, पूर्वत्र तु पदवाक्ययोरिति विवेकः ॥५१–५५॥

यत्र तु विशेषप्रतिपत्तये पुनरुपादानं, न तत्र पौनरुक्त्यमित्याह—
—कर्णावतंसेति ॥

अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥ २८८ ॥

अत्र कर्णश्रवणशिरःशब्दाः संनिधानप्रतीत्यर्थम् ।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले संगरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥ २८९ ॥

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये ।

अन्यत्र तु—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन दशाननेनोषितं प्रसादात् ॥२९०॥

इति केवलो ज्याशब्दः ।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥ २९१ ॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसंपत्तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।
षट्पदान् पुष्पमालेव कान्नाकर्षति सा सखे ॥ २९२ ॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पधिये पुष्पशब्दः । निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

धनुःशब्द इति । ज्याशब्देनोक्तार्थापि धनुःश्रुतिः प्रयुज्यते आरोहणस्य प्रतिपत्त्यै; अन्यथा ' ज्याकिणचिह्नेनेत्युक्तेऽनवरतदृढाकर्षणाहितकिणमण्डितत्वं ' दोष्णा ' न प्रतीयते; वेष्ट्यमानयापि ज्यया किणस्य संभवात् ॥

मुक्ताशब्द इति । हारशब्देनैव गतार्थः प्रयुज्यते शुद्धेः प्रतिपत्त्यै। उत्प्रेक्ष्यमाणस्य स्तनद्वयकर्तृकस्य हासस्य सातिशयधवलताप्रतिपत्त्यर्थं साधकतमस्य हारस्य केवलमुक्तालतावेष्टितत्वप्रतीत्यर्थं प्रत्युक्त इत्यर्थः ॥

पुष्पशब्द इति । विदग्धजनमनोविलोभनक्षमकान्तारत्नोपमानभावेन मालाया उपादानाद् उत्कृष्टपुष्पग्रथितत्वावगमाय प्रयुक्तः ॥ ' त्यज करिकलभ-प्रेमबन्धं करिण्याः । ' अत्र करि-शब्दात् ताद्रूप्यावगतिः । करी प्रौढकुञ्जरस्तद्रूपः कलभ इति । यत्र तु न विशेषावगतिः, यथा ' अदादिन्द्राय कुण्डले, ' ' पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः, ' ' मालाकार इवारामे, ' ' लब्धेषु वर्त्मसु सुखं कलभाः प्रयान्ति 'इत्यादौ, तत्र केवला एव कुण्डलादिशब्दाः ॥

स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥ ५८ ॥

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥ २९३ ॥

–इत्यादौ क्रियाविशेषण[२६५]त्वे[२६६] विवक्षितार्थप्र[२६७]तीतिसिद्धौ, " गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं [२६८]क्वचित्प्रयोगः कार्यः " –इति न यु[२६९]क्तमुक्तम् । यु[२७०]क्तत्वे वा—

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्या[२७१]मपि द्रुतम् ।
पादाभ्यां दूरमध्वानं [२७२]व्रजन्नपि न खिद्यते[२७३] ॥ २९४ ॥

–[२७४]इत्याद्युदाहार्यम् ।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता

यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥२९५॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य संकोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति ' न भुङ्क्ते '—इति हेतुं नापेक्षते ।

अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

स्थितेष्विति । रूढेष्वेवायमपवादः । ' जघनकाञ्ची 'इत्यादिशब्दाद् नितम्बकाञ्ची, उष्ट्रकरभेत्यादयस्तेषां कविभिरप्रयुक्तत्वात् ॥

अव्यभिचारिणः कारकस्य अविशेषणः प्रयोगः पुनरुक्तः, यथा ' उवाच दूतस्तमनोदितोऽपि गाम् 'इत्यादौ ॥ सविशेषणस्य तु तस्य न पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याह–' जगादे 'ति ॥ ' गतार्थस्यापी 'ति । ' विशदाक्षरं जगाद 'इति क्रियाविशेषणत्वेऽपि वाचो वैशिष्ट्यसिद्धेर्ज्ञातार्थस्यापि ' वाचम् 'इति विशेष्यस्योपादानं दुष्टम् । न युक्तमुक्तं वामनेनेति शेषः ॥

' चरणत्रे 'ति । ' चरणत्र 'इत्यादि विशेषणं पादयोरेव संगच्छते, न तु व्रजेः, तेन क्रियाविशेषणत्वे विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यसिद्धेः । ' पादाभ्याम् 'इति विशेष्यं गतार्थमपि 'चरणत्र 'इत्यादिविशेषणसिद्ध्यर्थमुपादेयम् ॥५६॥

अथापवादानाह–ख्यातेऽर्थ इति । प्रसिद्धेऽर्थे । यत्राकाङ्क्षा नास्ति तत्र निर्हेतुलक्षणो न दोषः, यथा ' चन्द्रम् 'इति । अत्र कुतो ' न भुङ्क्ते ' इति हेतोर्वापेक्षा ॥

श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् । यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षीदित्यादि कथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥ २९६ ॥

वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥५९॥

वक्तृ-प्रतिपाद्य—व्यङ्ग्य—वाच्य—प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः । क्वचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये वा, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः ।

क्रमेणोदाहरणानि—

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र संनिहिते न ते ॥२९७॥

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदास्मार्षं समस्प्राक्षं च संमदम् ॥२९८॥

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥२९९॥

वाच्यवशाद्—

मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजत किं शून्येषु शूरा न के ।

दोषाणामिति-' अदुष्टत्वे 'ति योगः ॥

' अद्राक्षी'दिति श्रुतिकटु । ' गवित्याहे'ति च्युतसंस्कृति । ' सुत्रामाण '-मिति अप्रयुक्तम ॥

प्रकरणादीनामित्यादिशब्दाद् विदग्धोऽपि मुग्ध इव लज्जाहर्षभयादिवशसमुद्भूतविभ्रमोऽधमप्रकृत्यादिश्च ॥ कष्टत्वमिति श्रुतिकटुत्वम् । वक्तुर्वैयाकरणस्यौचित्यात् श्रुतिकटुत्वं वाक्यदोषो गुणः, यथा ' दिधीङ् 'इति ॥

' यदा त्वा 'मिति । अत्र ' पदविद्याविशारदे'त्यनेन वैयाकरणः संबोध्यत इति स एव प्रतिपाद्यः ॥

रौद्रे रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः, यथा ' अन्त्रे 'ति । ' प्राग्भारः ' सेकः ॥

कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः शनैः
सिन्धुध्वानिनि हुंकृते स्फुरति यत्तद्गर्जितं गर्जितम् ॥३००॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः । प्रकरणवशाद् यथा —

रक्ताशोक कृशोदरी क नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥३०१॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि ।

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः । यथा—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषा-
न्दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन्यः ।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥३०२॥

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादौ न दुष्टौ । यथा—

कुपितस्य वचसीति । 'उत्कण्ठाघटमान'इत्यादि श्रुतिकटु । 'तत्पादाहतिम्' इत्यादि च क्रोधाभावे पतत्प्रकर्षं गुण एवेति योगः ॥

'अपघनैः अङ्गैः । 'उल्लाघयन्' स्वास्थ्यं नयन् ॥

अप्रयुक्तत्वं पदस्य गुणः यथा—

देव स्वस्ति वयं द्विजास्तत इतः स्नानेन निष्कल्मषाः ।

–अत्र अमुग्धस्यैव द्विजस्य वक्तृत्वे 'स्वस्ति' इति ॥

निहतार्थे, यथा—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥

–अत्र कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि ॥

विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ।
भिक्षूणां शाक्यसिंहेन स्कन्धाः पञ्च प्रकीर्तिताः ॥

–इति तद्विधसंवादादौ अङ्गस्कन्धपञ्चकमिति गुणः ॥

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥३०३॥

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ ।

अश्लीलं क्वचिद् गुणः । यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम्—

तांम्बूलदानविधिना विसृजेद्वयस्यां ।
द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु ॥

इति कामशास्त्रस्थितौ

करिहस्तेन संबाधे प्रविश्यान्तर्विलोलिते ।
उपसर्पन्ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥३०४॥

शमकथासु—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसंनिभे ।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥३०५॥

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥३०६॥

'येने'ति । माधवपक्षे—'येन ध्वस्तं बालक्रीडायामनः शकटम् । अभवेन असंसारेण बलिं जितवान् यः कायः स पूर्वममृतहरणे स्त्रीत्वं नीतः । उद्वृत्तं भुजङ्गं कालियाख्यं पीडितवान् । रवे शब्दब्रह्मणि लयः समाप्तिर्यस्य । अङ्गं गोवर्धनगिरिं गां भूमिं च योऽधारयत् । शशिनं मथ्नाति यो राहुस्तस्य शिरोहरः । अन्धकानां वृष्णीनां क्षयं निवासं करोति यः स कृष्णः ॥' उमाधवपक्षे च—'बलिजित्कायो विष्णुदेहः त्रिपुरेषु अस्त्रीकृतः शरतां नीतः । भुजंगाः सर्पाः । शशियुक्तं शिरो यस्य तथाभूतो हरः । अन्धकाख्यो दैत्यः ॥'

अश्लीलमिति । व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकं त्रिधा, क्रमाद् यथा 'करिहस्ते'ति ।

तर्जन्यनामिके श्लिष्टे मध्या पृष्ठस्थिता तयोः ।
करिहस्तः ॥

'संबाधः' संघट्टो वराङ्गं च । 'ध्वजः' पताकावच्चिह्नं व्यञ्जनं च । साधनं सैन्यं स्त्रीव्यञ्जनं च ॥

अत्र भाव्यमङ्गलसूचनम्[११२] ।

संदिग्धमपि वाच्यमहिम्ना कचिन्नियतार्थप्रतिपत्तिकृत्[११३]त्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः । यथा—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम् ॥३०७॥

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्र[११४]तीतौ गुणः । यथा—

आत्मारामा विहितै[११५]रतयो निर्विकल्पे समाधौ
[११६]ज्ञानोत्सेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति[११७] देवं पुराणम् ॥३०८॥

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।

रक्ता सानुरागा प्रसाधिता अर्जिता 'भूः' यैः, रक्तेन मण्डिता भूश्च यैः । 'विग्रहः' वैरं शरीरं च । 'स्वस्थाः' कुशलिनः स्वर्गस्थाश्च ॥

पृथुकानां बालानां ये आर्ताः स्वरास्तेषां पात्रम् । पृथूनि कार्तस्वरस्य स्वर्णस्य पात्राणि भाजनानि यत्र । भुवि उषितो भूषितोऽलंकृतश्च । विलसत्कैर्गर्तसंबन्धिभिः पांसुभिर्गहनम् । विलसन्तीभिः करेणुभिर्व्याप्तं च । अत्र राजपक्षे नियत एवार्थः प्रतीयते वाच्यस्य गृहस्य महिम्ना । केनचिद् निःस्वेन स्वसदनसमतापादनव्याजेन राजगृहस्य स्तुतिः कृतेति पर्यवसितोऽर्थः ॥

'आत्मारामे'ति । देहबुद्धिप्राणशून्यरूपमितप्रमातृतानिमज्जनेन अपरिमितबोधरूपे आत्मनि ये रमन्ते । भेदसंसर्गाभ्यां ज्ञानं विकल्पः, तस्माद् निष्क्रान्तः । भेदज्ञानमिदं ध्येयमेतद्गुणमेतत्क्रियमिति, यथा 'गौः शुक्लश्चलः' इति । संसर्गेण ज्ञानमिदं ध्येयमिदमभिध्येयमिति, यथा 'अयं गौरयमपि गौः' इति । प्रत्यक्षमेवैकं तत्र व्याप्रियत इत्यर्थः । 'योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना' इत्युपपादितदृशा ध्येयेन सह समापत्तिः समाधिः । तमः अशुद्धोऽध्वा, ज्योतिः शुद्धोऽध्वा । पुराणः घटादिसिद्धेः पूर्वं सिद्धः । अनिदं प्रथमतया प्रकाशमानश्च ॥

'षडधिके'त्यादि । 'शक्तीनां' इच्छाज्ञानक्रियाणां ब्रह्मण्यादीनां वामा-

अविचलितमनोभिः साधकैर्दृश्यमानैः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥३०९॥

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः । यथा—

[२९९]फुल्लुक्करं कमलकूर[३००]समं वहन्ति
जे सिन्धुवार[३०१]विडवा मह वल्लहा ते ।[३०२]
जे गालिदस्स[३०३] महिसीदहिणो सरिच्छा
ते[३०४] किं च मुद्धवियइल्ल[३०५]पसूणपुञ्जा ॥३१०॥

अत्र कलम-भक्त महिषी-दधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ ।

ज्येष्ठादीनां परादीनां भूचर्यादीनां करणेश्वरीणां अकारादिरूपामृतादीनां, एवंविधानामन्यासामपि फलभेदाद् आरोपितभेदपदार्थवपुषां 'नाथो' न्यग्भावनोद्भावनप्रभुः । जयति आक्षिप्तनमस्कारार्थो जयत्यर्थः । देहबुद्धिप्राणपुर्यष्टादिमितप्रमातृतानिमज्जनात्मबोधप्रमातृभावोन्मज्जनेन समाविशामीत्यर्थः ॥ न च शक्तयः परस्परपरिहृतवपुषः, अपि तु एकैकस्याः शक्तेः सर्वशक्त्यात्मतेत्याह— 'शक्तिभिः'॥ परिणद्धः परितः समन्ताद् बद्धः । तेनेशित्रादिदशायामपि ज्ञात्रादिवपुः ॥ न चासौ दूरे भवतीत्याह—'षडधिके' ति । 'षड्भिरधिका दश षोडश या नाड्यः, तासां यच्चक्रं हृत्स्थाने । चक्रं च नाभ्यरादिरूपेण स्वरूपं, तन्मध्ये स्थितः स्थितिमान् विश्रान्त आत्माऽविकलं शिवात्मकं रूपं यस्य । यदुक्तम्—

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च परा स्मृता ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूशा चैव यशा तथा ।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
तालुजिह्वा भजिह्वा च विजया कामदा परा ।
अमृता बहुला नाम एता वायुसमाश्रिताः ॥ इत्यादि ॥

हृदि हृच्चक्रे विशिष्टं निहितं स्वातन्त्र्येणोल्लासितं रूपं ज्योतिरादि[त्य]रूप आकारो येन ॥ एतत्प्रतिपादनं च न निष्फलमित्याह—'सिद्धिद' इति । सिद्धीः परापरभुक्तिमुक्तिरूपा ददाति यः । तं विदन्ति यथावज्जानते तेषाम् ॥ न चासावागमोपपत्तिभ्यामेव सिद्धो, यावत्स्वप्रकाशः प्रत्यभिज्ञातोऽपीत्याह— अविचलितेति । अविचलितमनन्यध्येयं मनश्चित्तं येषां तैः साधकैः सिद्धतमपदं साधयितुमुद्यतैर्दृश्यमानः साक्षात् क्रियमाणः ॥

श्रुतिकटुप्रभृतय उभयदोषा गुणत्वेनोक्ता, अथ वाक्यस्यैव ये दोषा-

न्यूनपदं क्वचिद् गुणः । यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥३११॥

क्वचिन्न गुणो न दोषः । यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥३१२॥

अत्र पिहितेत्यतोऽनन्तरं[३०६] 'नैतद्यतः'[३०७] इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः । उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधत इति न दोषः ।

अधिकपदं क्वचिद् गुणः । यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किं तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥३१३॥

अत्र विदन्तीति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् ।

यथा[३०८]—

एतेऽपि वक्त्राद्यौचित्ये गुणा एवेत्याह—न्यून[पद]मिति ॥

'मा मा'मिति । अत्र कामविवशया लज्जावशोद्भूतसंभ्रमायाः कामिन्या औचित्याद् निषेधमात्रवाचकेष्वेतेषु 'आलिङ्गस्व' इति क्रियापदं नास्तीति न्यूनत्वं गुण एव ॥

उत्तरेति । 'दीर्घं न सा कुप्यति' इत्युत्तरा प्रतिपत्तिः 'तिष्ठेद्' इत्यादिका पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधत इति नैतद्; 'यतः' इति न्यूनत्वेऽपि न दोषः ॥

'यद्वञ्चने'ति । खलजनः कृतकभक्तिं करोतीति सर्वं त एव सुतरां विदन्ति, किंतु उपकुर्वन्त्येवेत्यर्थः ॥

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धाहेति परं मृते पुत्रे ॥३१४॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि ।

कथितं[३०९]पदं गुणो लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये, विहितस्या[३१०]नूद्यत्वे च। क्रमेणोदा[३११]हरणानि—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिध[३१२]र कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३१५॥

ताला [३१३]जायन्ति गुणा जाला ते सहिअ[३१४]एहि [३१४]घिप्पन्ति ।
[३१५]रविकिरणा[३१६]णुग्गहियाइ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥३१६॥

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः ॥३१७॥

पतत्प्रकर्षमपि क्वचिद्गुणः यथा—उदाहृते प्रागप्राप्तेत्यादौ । (३१८)

'वद वदे'ति हर्षात् । 'तव तवे'ति भयात् । 'हा हे'ति शोकात् । यदुक्तम्—

वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन् ।
यत्पदमसकृद् ब्रूते तत्पुनरु न दोषाय ॥

अविवक्षितवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्ये शब्दशक्तिमूले ध्वनौ यथा 'ताले'ति । ताला जाले नि तदा यदा ॥ विषमबाणलीलायां गाथेयम् । अत्र द्वितीयः कमल-शब्दो लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतपरिणतं संज्ञिनं कमलं लक्षयति । व्यङ्ग्यानि त्वसाधारणानि अन्यशब्दावाच्यानि धर्मान्तराणि । अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधाऽस्तीति लक्षणामूलत्वाद् अविवक्षितवाच्यत्वं शुद्धस्यार्थस्य अविवक्षितत्वात् । न चात्यन्ततिरस्कृतत्वं, धर्मिरूपेण तस्याप्यनुगमात् । वाक्यपौनरुक्त्यमपि व्यञ्जकत्वापेक्षया गुणः, यथा 'पश्य द्वीपादन्यस्मादपि 'इति वचनानन्तरं कः संदेहो 'द्वीपादन्यस्मादपि 'इत्यनेन ईप्सितप्राप्तिरविघ्नतयैव ध्वन्यते । यथा च—

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥

अत्र प्रधानभूतविप्रलम्भशृङ्गारपुष्टये वाक्यार्थद्वयं निबद्धम् ॥

'प्रागप्राप्ते'ति। अत्र हि भार्गवस्य शिवे भक्तिः पतत्प्रकर्षेणैव वचसा

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषः, यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम्, अपि तु [३१७]वाक्यान्तरमेव क्रियते । यथा अत्रैव प्रागप्राप्तेत्यादौ ।

[३१८]अपदसमासं क्वचिद्गुणः । यथा—उदाहृते रक्ताशोकेत्यादौ । (३१९)

गर्भितं तथैव यथा—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि ।
सिविणे वि [३१९]तुवेम्मि पुणो पत्ति[३२०]अं भत्तिं ण प[३२१]हुणुस्सिमि ॥३२०॥

अत्र प्रतीहीति मध्ये दृढप्रत्ययोत्पादनाय ।

एवमन्यदपि [३२२]लक्ष्यात् प्रेक्ष्यम् ।

प्रतिपादयितुं योग्या ॥

यत्र न विशेषेणेति । भवत्यशिथिलः इत्यादिना समाप्तेऽपि वाक्ये ख्याप्यते इति वाक्यार्थान्तरमेव उपात्तं, न पुनः प्राच्यस्यैव वाक्यार्थस्य विशेषणतया । यथा 'नवनयो-लास्याय वेणुस्वनः' इति ॥

'रक्ते'ति । अत्र विरहिवचने तृतीयपादे दीर्घसमासत्वं न उचितं, तथापि शिरोधूनने कुपितस्येवोक्तौ गुणः ॥

'हुमी'ति । विषमबाणलीलायां कामं प्रति तत्सहचरसमागमे यौवनस्येयमुक्तिः ॥ 'भवामि अपहस्तितरेखं निरङ्कुशं विवेकरहितं च । स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि प्रत्ययं कुरु भक्तिं न विस्मरामि ॥' प्रतीहि इति वाक्यान्तरं वाक्यमध्ये प्रविष्टम् । यथा वा—

दिग्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
　सिद्धा सा च वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
　यस्मादाविरभूत् कथानकमिदं तत्रैव चास्तं गतम् ॥

अत्र वीराद्भुतरसवशाद् 'वदन्त एव' इत्यादि वाक्यं मध्ये प्रविष्टं गुणः ॥

एवमिति संकीर्णम् । क्वचिदुक्तिप्रत्युक्तौ गुणः, यथा—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
　खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
　न त्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥

रसदोषानाह—

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥६०॥

यस्तु कर्तृव्यत्यासे भग्नप्रक्रमभ्रमः, तत्रापि गुण एव । यदुक्तम्—

प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य ।
चारुत्वायान्यत्रारोप्येत गुणः, स तु न दोषः ॥

युष्मदर्थस्य यथा—'यथाह सप्तमो वैकुण्ठावतारः ।' अत्र 'यथात्थ त्वम्' इति युष्मदर्थस्य कर्तृत्वं प्रकृतमपहाय ततोऽन्यत्र आरोप्यैवमुक्तम् । दाशरथिं रामं प्रति हि कस्यचित्सप्रक्षमियमुक्तिः ॥ अस्मदर्थस्य यथा—

नाभिवादनप्रसाद्यो रेणुकापुत्रः । गरीयान् हि गुरुधनुर्भङ्गापराधः ॥

—अत्रापि 'नाभिवादनप्रसाद्योऽस्मि' इति वाच्ये पूर्ववच्चारुत्वायैवमुक्तम् । एषा हि भार्गवस्यात्मानमुद्दिश्योक्तिः ॥ यथा वा "अयं जनः प्रष्टुमनाः" इति । अत्र 'अहं प्रष्टुमनाः' इति वक्तव्येऽस्मदर्थकर्तृत्वमन्यत्रारोप्यैवमुक्तम् ॥

द्विविधश्चान्यशब्दार्थश्चेतनाचेतनभेदात् । तत्र चेतने आरोपो दर्शितः, अचेतने यथा 'तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥' अत्र 'त्वं रेणुकाकण्ठबाधां कृतवान्' इति 'त्वया बद्धस्पर्धो लज्जे' इति वक्तव्ये चारुत्वाय युष्मदस्मदर्थयोः कर्तृत्वमुभयोः परशुचन्द्रहासयोर्जडयोरारोप्यैवमुक्तम् ॥ यथा च 'पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ।' 'अत्र अहं न सहिष्ये' इति वक्तव्ये पूर्ववदस्मदर्थस्य कर्तृत्वमचेतने पत्रिण्यारोप्यैवमुक्तम् ॥

दुष्क्रमोऽप्यर्थदोषः क्वचिद् अतिशयोक्तौ गुणो यथा—

पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः ॥

त्यक्तपुनरात्तोऽर्थदोषः क्वचिद् गुणो यथा—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंत्राससंदूषिताः ।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरै
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि का मे गतिः ॥

—अत्र ससंदेहालंकारस्त्यक्त्वा त्यक्त्वा पुनरुपात्तो रसपोषाय ॥५७॥

रसापकर्षहेतून् सामान्यदोषानुक्त्वा रसे दश विशेषदोषानाह—व्यभिचा-

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥६१॥
अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

सव्रीडा दयिताननने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसंगमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः ॥३२१॥

अत्र व्रीडादीनाम् ।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे

इत्यादि तु युक्तम् ।

रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम् । क्रमेणोदाहरणम्—

रीति ॥ शब्दवाच्यतेति । यत्र शृङ्गारादिशब्दरहितत्वं, यथा 'परिमलितमृणाली' इति, तत्रापि अनुभावबोधानन्तरमेव तन्मयीभवन् युक्तया तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थात्माऽभिलाषचिन्तौत्सुक्यनिद्रालस्यादिशब्दाभावेऽपि स्फुरत्येव, न च केवलशृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति यथा 'शृङ्गारहास्यकरुणाः' इत्यादौ; तस्माद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनां, न त्वभिधेयत्वं कथंचिदित्युक्तम् । ततो व्यभिचारिरसस्थायिभावानां स्वशब्दोक्तिर्दोष इत्यर्थः । एतेन च 'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयं स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनेयास्पदम्' इत्यस्य व्याख्यायां 'पञ्चरूपा रसाः' इत्युपक्रम्य 'तत्र स्वशब्दाः शृङ्गारादयः शृङ्गारादेर्वाचका' इति भट्टोद्भटोक्तं निरस्तम् ॥

व्रीडादीनामिति, स्वशब्दोपादानमिति योगः ॥

स्वशब्देनेति, रस इत्येवंलक्षणेन ॥ शृङ्गारादीति । यथा करणादयोऽर्थाः शक्यप्रतिपत्तयः स्वकार्यसंबद्धा 'दात्रेण' इत्यादौ करणादिशब्दैर्नाभिधीयन्ते, तथा शृङ्गारादयोऽपि शृङ्गारादिशब्दैरित्यर्थः ॥

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किंचिदुच्चभुजमूले[३२६]लोकिताम् ।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥३२२॥

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-
व्यक्तानुरागसुभगामभिरामरूपाम् ।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्[३२७]गितमातनोति ॥३२३॥

स्थायिनो यथा—

संप्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।
ठणत्कारैः[३२८] श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥३२४॥

अत्रोत्साहस्य ।

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-
दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।
लीलाशिरोंशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति[३२९]-
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥३२५॥

' कपोलतलेऽभिषिक्तो रोमाञ्चादिना व्यक्तो योऽनुरागः तेन सुभगाम् ' ' शृङ्गारसीमनि ' इति तारुण्ये ॥

यत्रापि स्वशब्देन निवेदितत्वमस्ति तत्रापि स्वशब्दप्रयुक्त्या विभावादिप्रतिपत्त्यैव रसादीनां प्रतीतिः । स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते यथा—

याते द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया ।
तद् गीतं गुरुबाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

—अत्र विभावानुभावबलाद् उत्कण्ठा प्रतीयत एव । सोत्कण्ठशब्दः केवलं सिद्धं साधयति । ' उत्कम् ' इत्यनेन तु उक्तानुभावानुकर्षणं कर्तुं सोत्कण्ठशब्दः प्रत्युक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः ॥ अनुवादो हि शब्दोपात्तस्यैव स्याद्, न प्रतीयमानस्य ॥ उत्साहेति स्थायिनो भावस्य स्वशब्दोपादानं दोषः । अनुभावविभावयोः संदेहे सति कष्टकल्पनया यत्र व्यक्तिः सोऽनुभावविभावव्यक्तिकष्टकल्पना नाम रसदोषः ॥ तत्र अनुभावस्य कष्टकल्पना यथा 'कर्पूरे'ति ।

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा [३३०]अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना ।

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति [३३१]भृशं परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥३२६॥

अत्र रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि संभवात्कामिनीरूपो विभावो [३३२]यत्नतः प्रतिपाद्यः ।

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥३२७॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचार्युपात्तः ।

निहु[३३३]अरमणम्मि लोय[३३४]णवहम्मि पडिए गुरूण मज्झम्मि ।
सअलपरिहारहि[३३५]अआ वणगमणं चेअ महइ वहू ॥३२८॥

मूर्धगतवस्त्रनिवेशनविशेषस्य कल्पनं हृदयानाच्छादनरूपं, तेन व्यक्ता स्तनोन्नतिर्यस्याः ॥ अनुभावापर्यवसायिन इति । शृङ्गारित्वनिश्चयाभावे सत्स्वप्यालम्बनोद्दीपनरूपेषु विभावेषु लीलादयोऽनुभावा न कथंचिदिह व्यज्यन्ते इति विभावा अनुभावेषु न पर्यवस्यन्तीत्यनुभावानां कष्टकल्पना । यथा 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादौ प्रागुदाहृते केवलविभावनिबन्धेऽप्यसाधारणतयाऽनुभावप्रतीतिः, न तथात्रेति ॥

विभावस्य कष्टकल्पनया व्यक्तिर्यथा 'परिहरती'ति ॥

प्रस्तुतरसापेक्षया प्रतिकूलो विरोधी विभावादीनां विभावानुभावव्यभिचारिणां ग्रहो यत्र स प्रतिकूलविभावादिग्रहो दोषो यथा 'प्रसाद' इति ॥ शान्तस्येति । प्रणयकलहकुपितायां कामिन्यामर्थान्तरन्यासे 'कालो हरिणचपलः शीघ्रं याति' इत्यादिवैराग्यकथाभिरनुनयनं शान्तविभावः शृङ्गारविरुद्धः ॥ तत्प्रकाशित इति विभावप्रकाशितः । व्यभिचारिप्रातिकूल्योदाहरणमप्येतदिति भावः ॥ 'भवत्वस्त्रं जैत्रं कुसुमधनुषः सांप्रतमिदम्' इति तु तुर्यपादो युक्तः ॥ हास्यशृङ्गारयोर्वीराद्भुतयो रौद्रकरुणयोर्भयानकबीभत्सयोस्तु न विभावविरोध इत्यभिप्रायेण शान्तशृङ्गारावुपन्यस्तौ, तयोर्विरोधात् ॥

अत्र सकलपरिहारवनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेद्, न दोषः ।

दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसंभवे रतिविलापे[२३६]।

अकाण्डे प्रथनं यथा — वेणीसंहारे[२३७] द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरसंक्षये[२३८] प्रवृत्ते[२३९] भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णने ।[२४०]

अकाण्डे[२४१] छेदो यथा—वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे "कङ्कणमोचनाय गच्छामि"—इति राघवस्योक्तौ ।

अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनम् । यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा–रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

शान्तानुभावाविति । व्यापारं सर्वं त्यक्त्वा निभृतरमणे प्रच्छन्नकामुके संभोगं काङ्क्षतीति संभोगशृङ्गारस्य प्रतिकूलौ सर्वत्यागवनगमनलक्षणौ शान्तानुभावौ ॥ एवं शृङ्गारबीभत्सयोर्वीरभयानकयोः शान्तरौद्रयोरप्युदाहार्यम् ॥

रतिप्रलापेष्विति । करुणस्य पौनःपुन्येन दीपनम् । उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते ॥

अनेक[वीर] संक्षय इति । भीष्मादिवीरक्षये कल्पान्तकल्पे संग्रामे शृङ्गारवर्णनं दोषः । न चैवंविधे विषये दैवव्यामोहत्वं प्रतिनायकस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिरिति वृत्तवर्णनं तु तदुपाय एव ॥

छेद इत्यनवसरे विरामो दोषः ॥

हयग्रीवस्येति अप्रधानस्य प्रतिनायकत्वात् । यथा वा हरिविजये ईर्ष्याकुपितसत्यभामानुनाथनप्रवृत्तस्य हरेः पारिजातहरणव्यापारेणोपक्रान्तविप्रलम्भस्य वर्णने प्रस्तुते गलितकरसिकतया समुद्रवर्णनम् । तथा कादम्बर्यां विप्रलम्भबीजेऽप्युपक्रान्ते तदनुपयुक्ताटवीशबरादेरतिवर्णनम् ॥

विस्मृतिरिति । अनुसंधिर्हि सहृदयसर्वस्वम् । यथा तापसवत्सराजे वासवदत्ताविषयः प्रेमबन्धः षट्स्वप्यङ्केष्वनुसंहितः । वासवदत्ताधिगतिरेव च मुख्यफलम् । निर्वहणे हि प्राप्ता देवी भूतधात्री च, भूयः संबन्धोऽभूदित्यत्र देवी-

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृङ्गारशान्त-

लाभप्राधान्यं निर्वाहितम् ॥

अथ प्रकृतिविपर्ययमाह—प्रकृतय इति। दिव्यादिभेदेन धीरोदात्तादिभेदेन च विभिन्नाः ॥ दिव्या इति । दिव्यस्वभावा इत्यर्थः । एवमदिव्यादिव्यव्याख्येयम् ॥ अदिव्या इति मानुष्यः ॥ दिव्यादिव्यास्तु चतुर्धा । तत्र दिव्यस्य मर्त्यागमने, मर्त्यस्य स्वर्गगमने एको भेदः । क्रमाद् यथा 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुम्' इति ।

पाण्डोर्नन्दन नन्दनं वनमिदं संकल्पजैः सीधुभिः
क्लृप्तापानककेलिकल्पतरुषु द्वन्द्वैः सुधालेहिनाम् ।
अप्यत्रेन्दुशिलालवालवलयं संतानकान्तं तले
ज्योत्स्नासंगलदच्छनिर्झरजलैर्यत्नं विना पूर्यते ॥

दिव्यस्य मर्त्यभावे मर्त्यस्य दिव्यभावे द्वितीयः । क्रमाद् यथा—

विकसति सति तस्मिन्नन्ववाये यदूनां
समजनि वसुदेवो देवकी यत्कलत्रम् ।
किमपरमथ तस्मात् षोडशस्त्रीसहस्र-
प्रणिहितपरिरम्भः पद्मनाभो बभूव ॥

आकाशयानतटकोटिकृतैकपादास्तद्वेणुदण्डयुगलान्यवलम्ब्य हस्तैः ।
कौतूहलात् तव तरङ्गविघट्टितानि पश्यन्ति देवि मनुजाः स्वकलेवराणि ॥

दिव्येतिवृत्तकथने तृतीयो यथा—

ज्योत्स्नापूरप्रसरविशदे सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वादद्यूतं चिरतरमभूत् सिद्धयूनोः कयोश्चित् ।
एको ब्रूते प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥

प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थो यथा—

मा गाः पातालमुर्वि स्फुरसि किमपरं पाट्यमानः कुदैत्य-
स्त्रैलोक्यं पादपीतप्रथिम, न हि बले पूरयस्यूनमङ्घ्रेः ।
इत्युत्स्वप्नायमाने भुवनभृतिशिशावङ्कसुप्ते यशोदा
पायाच्चक्राङ्कपादप्रणतिपुलकितस्मेरगण्डस्थला वः ॥

रसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ताः, उत्तमम-

धीरोदात्तेति । **धर्मयुद्धवीरप्रधानो विनयच्छन्नावलेपोऽनात्मश्लाघापरः क्रोधाद्यनभिभूतान्तस्तत्त्वोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः स्थिरो** धीरोदात्तः, **यथा रामादिः ॥ रौद्रप्रधानः शौर्यादिमदवान्** धीरोद्धतः, **यथा जामदग्न्यरावणादिः ॥ वीरशृङ्गारप्रधानो** धीरललितः **सचिवादिसंविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः, यथा वत्सराजः ॥ दानधर्मवीरशान्तप्रधानो** धीरप्रशान्तः, **यथा** मालतीमाधव–मृच्छकटिकादौ **माधवचारुदत्तादिः ॥ यदुक्तम्—**

देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ।
इति चत्वार एवेह नायकाः समुदाहृताः ॥

चत्वारोऽपि क्रमात् सात्वत्यारभटीकैशिकीभारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः । एकैकश्च शृङ्गारित्वे दक्षिणानुकूलधृष्टशठभेदाच्चतुर्धा । तत्र कनिष्ठायां रक्तो ज्येष्ठायामपि दाक्षिण्यशीलत्वाद् दक्षिणः, यथा—

प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः ।
सविश्रम्भः कश्चित् कथयति च किंचित् परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥

एकानुरक्तोऽनुकूलः, यथा—

'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' इति ॥

व्यक्तगूढापराधौ धृष्टशठौ, क्रमाद् यथा—

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिका नयनयोस्ताम्बूलरागोऽधरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥

'एकत्रासनसंगते प्रियतमे पश्चादुपेत्यासनाद्' इति ॥

उत्तमेति । **उत्तममध्यमाधमभेदेन पुंसां स्त्रीणां च तिस्रः** प्रकृतयः । **तत्र केवलगुणमयी** उत्तमा, **स्वल्पदोषा बहुगुणा** मध्यमा, **दोषवती** अधमा । **तत्राधमप्रकृतयो नायकयोरनुचरा विटचेटीविदूषकादयः । उत्तममध्यमप्रकृतिस्तु कथाव्यापी**

ध्यमाधमाश्च। तत्र रतिहासशोकाद्भुतान्यदिव्योत्तमप्रकृतिवद्दि-

शोभाविलासललितमाधुर्यस्थैर्यगाम्भीर्यौदार्यतेजोभिर्देहविकारजैरष्टभिर्गुणैरन्वितो नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवद इत्यादिभिर्गुणैश्च युक्तो नयति कथां स्वकर्तव्याङ्गभावमिति नायको निर्वहणे यः फलभागी। तद्विजेयो व्यसनी स्तब्धो धीरोद्धतः प्रतिनायकः, यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनौ। नायकगुणयुक्ता नायिका। सा चात्मीया परस्त्री वेश्या च। तत्रात्मीया आर्जवक्षमादिगुणयुता वयःकामोपचारनैपुण्याभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति त्रिधा। मध्याप्रौढे तु धीराऽधीरा–धीराधीराभेदात् प्रत्येकं त्रिधा। एवं षोढापि ज्येष्ठा–कनिष्ठा–भेदाद् द्वादशधा स्वस्त्री स्यात्। परस्त्री तु परेणोढा। कन्यापि पित्राद्यायत्तत्वाद् अनूढापि परस्त्री। वेश्या तु धनलिप्सुः कृत्रिमप्रेमवती सर्वाङ्गना। स्वस्त्री तु स्वाधीनपतिका प्रोषितभर्तृका खण्डिता कलहान्तरिता वासकसज्जा विप्रलब्धा विरहोत्कण्ठिताऽभिसारिका चेत्यष्टावस्था। तत्राद्ये सान्वये। वनितान्तरसङ्गाद् अनागते प्रिये दुःखतप्ता खण्डिता। कलहेन रतिसुखेनान्तरिता कलहान्तरिता।

परिपाट्या फलार्थे वा नवे प्रसव एव वा।
दुःखे चैव प्रमोदे च षडेते वासकाः स्मृताः॥
उचिते वासके स्त्रीणामृतुकालेऽपि वा बुधैः।
द्वेष्याणामथवेष्टानां कर्तव्यमुपसर्पणम्॥

इति–नयेन वासके रतिसंभोगलालसतयाङ्गरागादिना सज्जा प्रगुणा वासकसज्जा। दूतीमुखेन स्वयं वा संकेतं कृत्वा कुतोऽपि हेतोर्वञ्चिता विप्रलब्धा। प्रियंमन्या चिरयति भर्तरि विरहोत्कण्ठिता। अभिसरति दूत्या दूतेन वा सहैका वाभिसारयति वा कान्तमभिसारिका। परस्त्रियौ तु कन्योढे विप्रलब्धाद्यवस्थात्रययुते एव। ते तु नाङ्गिनि रसे उपकारिण्याविति नानयोः प्रपञ्चः कृतः। ‘ऊढा’ इत्युपलक्षणं, ततोऽवरुद्धापि परस्त्रीत्युच्यते॥

रतिहासेति। यथा भारते वर्षे उत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेत्यर्थः। न च राजादिषु ग्राम्यसंभोगवर्णनं नाटकादौ प्रसिद्धं, तथैव दिव्येष्वप्यभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे च काव्ये तत् परिहार्यम्। न च संभोगस्य सुरतप्रकार एवैको, यावदन्येऽपि परस्परप्रेमदर्शनादयो भेदाः संभवन्ति, त एवोत्तमप्रकृतिषु वर्णनीयाः। एवं हासादिष्वप्यौचित्यं योज्यम्॥ दिव्यादिषु

व्येष्वपि । किं तु रतिः संभोगशृङ्गाररूपा[३४४] उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३२९॥

इत्युक्तवद्[३४५] भ्रुकुटयादिविकारवर्जितः सद्यःफलदः क्रोधः[३४६] सर्वः[३४७]-पातालगमन[३४८]समुद्रोल्लङ्घनादा[३४९]वुत्साहश्च दिव्येष्वेव । अदिव्येषु तु[३५०] याव[३५१]दवदातं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्ध[३५२]व्यम्, अधिकं तु निबध्यमान[३५३]मसत्यप्रतिभासेन 'नायकवद्वर्तितव्यं, न प्रतिनायकवद्–' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत् । दिव्यादिव्येषूभयथापि ।

रतेः संभोगविप्रलम्भोभयरूपाया वर्णनीयत्वं सामान्येनाभिधायोत्तमदेवताविषयत्वेन विशेषमाह- किं त्विति । संभोगः परस्परावलोकनप्रणयकलहसंगीतकादिः, स चासौ शृङ्गारश्च तद्रूपा ॥ अनुचितमिति चमत्कारविघातात् । उत्तमदेवतासंभोगपरामर्शे कश्चमत्कारावकाशः । कुमारसंभवे तु हरगौरीसंभोगवर्णने तथा विश्रान्तं चित्तं यथा पौर्वापर्यं न परामृशतीति कविशक्त्या दोषः संवृतः । यथा निर्व्याजपराक्रमस्य पुंसो निर्विषयेऽपि युध्यमानस्य तस्मिन्नवसरे साधुवादो वितीयते, न तु पौर्वापर्यपरामर्शे, तथात्रापीति भावः ॥

उक्तवदिति । उक्ते इव क्रोधो निबन्धनीयो दिव्येषु । मनुष्येषु तु भ्रुकुटयादिविकारबहुलो, अन्यथा तु दोषः ॥ दिव्येष्वेवेति न मनुष्येषु । केवलमनुष्यस्य हि स्वर्गमनादावुत्साहादयोऽनुचिता एव ॥ अदिव्येष्विति केवलमनुष्येषु ॥ अवदातमिति सातिशयं कर्म ॥ अधिकं त्विति । अयं भावः । केवलमनुष्यस्य सप्तार्णवलङ्घनमसंभाव्यमानतयानृतमिति हृदये स्फुरदुपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्याप्यलीकतां बुद्धौ निवेशयति । रामादेस्तु चरितं तथाविधमपि पूर्वप्रसिद्धिपरंपरोपारूढं नासत्य[त]या चकास्ति । अत एव तस्यापि यदा प्रभावान्तरमुत्प्रेक्ष्यते तदा तादृशमेव वर्णनीयं, न त्वसंभावनास्पदम् । तद् विवर्ण्यमानं उक्तोपदेशविषयेन पर्यवस्यति, असंबद्धतैवैतेषु शास्त्रेषूच्यते इति प्रतीतिः स्यादिति । अत एव उदात्तराघवे कविना 'रामायण–प्रसिद्धं मायामयमारीचमणिमृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दकातरान्तःकरणया सीतया तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषितः' इति त्यक्त्वा 'वैदग्ध्येन मृगमारणाय गतस्य लक्ष्मणस्य सीतया कातरत्वेन रक्षार्थं रामः प्रेरितः' इति

एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनाम[354]न्यथावर्णनं विपर्ययः । तत्रभवन्भग[355]वन्नित्युत्तमेन नाधमेन, मुनिप्रभृतौ न राजादौ, भट्टारकेति न राजादौ, [356]परमेश्वरेति न मुनिप्रभृतौ [357]प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम् । एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकं[358] समुचितमेवोपनिब[359]द्धव्यम् ।

निबद्धम्, अन्यथा रामस्य सर्वातिशायिचरितत्वेन वर्ण्यमानस्यानुचरसंनिधौ तथाविधव्यापारकरणं तेन च कनीयसा प्राणपरित्राणमत्यन्तमनुचितम् ॥ दिव्यादिष्वेष्विति । देवांशेषु मनुष्येष्वर्जुनादिषु पाण्डवादिकथायाम् ॥ धीरोदात्तादीनामिति । नायकस्य हि धीरोदात्तादिभेदभिन्नस्य सर्वथा वीररसानुबोधेन भाव्यमिति तं प्रति कातरपुरुषोचितमधैर्ययोजनमनुचितमेव ॥ उत्तमेनेति, सर्वत्र वाच्यमिति योगः । यदाह—

तत्रभवन् भगवन्निति नार्हत्यधमो गरीयसो वक्तुम् ।
भट्टारकेति च पुनर्नैवैतानुत्तमप्रकृतिः ॥
तत्रभवन् भगवन्निति नैवार्हत्युत्तमोऽपि राजानम् ।
वक्तुं नापि कथंचिन्मुनिं च परमेश्वरेशेति ॥

उत्तमो मुनिमन्त्रिप्रभृतिरपि तत्रभवदादिपूजापदानि वक्तुं योग्योऽपि राजानमेभिर्वक्तुं नार्हति । तथा स एवोत्तमो राजादिर्मुनिं परमेश्वरादिभिरामन्त्रणपदैः । राजा हि परमेश्वरादिभिर्मुनिश्च तत्रभवदादिभिः पदैराहूयते ॥ एवं च देशेति । जगद् जगदंशाश्च देशः । तत्र सामान्यविवक्षायां जगदेकं, यथा 'जगति सकले न्यासादीनाम्' इति ॥ भूर्भुवः स्वरित्यादिविशेषविवक्षया त्वनेकं, यथा—

नमस्त्रिभुवनाभोगवृत्तिखेदभरादिव ॥

महर्जनस्तपः सत्यमित्येतैः सह सप्तेत्यन्ये । यथा—

हर्षस्य सप्तभुवनप्रथितोरुकीर्तेः ॥

तानि सप्तभिर्वायुस्कन्धैः सह चतुर्दशेत्यपरे । यथा—

जयति चतुर्दशलोलवल्लिकन्दः ॥

तानि सप्तभिः पातालैः सहैकविंशतिरित्येके । यथा—

कीर्तयस्तव लिम्पन्तु भुवनान्येकविंशतिम् ॥

तत्र भूर्लोके सप्त जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः ॥

लवणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयःपयाः ।
स्वादुवारिरुदधिश्च सप्तमस्तान् परीत्य त इमे व्यवस्थिताः ॥

ते च समुद्रास्त्रयश्चत्वारः सप्त चेति कविसमयः ॥ मध्ये जम्बूद्वीपं काञ्चनो मेरुस्तस्य च दक्षिणेन हरिवर्षं किंपुरुषं भारतं चेति त्रीणि वर्षाणि । तत्रेदं भारतं वर्षमन्त्यम् । तस्य च नव भेदाः—इन्द्रद्वीपः कसे[रु]मांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् नगद्वीपः सौम्यो गन्धर्वो वरुणः कुमारीद्वीपश्च । पूर्वापरयोः समुद्रयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्चान्तरमार्यावर्तः । तत्र चातुर्वर्ण्यं, तन्मूलः सदाचारः । तत्रत्यो व्यवहारः प्रायः कवीनाम् ॥ तत्र वाराणस्याः पुरतः पूर्वदेशः, यत्र अङ्गकलिङ्गकोसलतोसलोत्कलमगधमुद्गरकविदेहनेपालपुण्ड्रप्राग्ज्योतिषताम्रलिप्तसुब्रह्म[? सुह्म]ब्रह्मोत्तरादयो जनपदाः, बृहद्गृहलोहितगिरिचकोरदर्दुरनेपालकामरूपादयोऽद्रयः, शोणलोहितौ नदौ, गङ्गाकरतोयाकपिमा[? शा]द्याश्च नद्यः, लवलीग्रन्थिपर्णकागुरुद्राक्षाकस्तूरिकादीनामुत्पादः ॥ माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः । यत्र महाराष्ट्रमाहिष्मकाश्मकवैदर्भकुण्डलक्रथकैशिकसूर्पारककेरलकावेरमुरलवानवासिकसिंहल[? चो] डदण्डकपाण्ड्यपल्लवगाङ्गनासिक्यकोङ्कणकोल्लगिरिचेरल्लादयो जनपदाः, विन्ध्यदक्षिणपादमहेन्द्रमलयमेकलसह्यश्रीपर्वतादयोऽद्रयः, नर्मदातापीपयोष्णीगोदावरीकावेरीभैमरथीवेणीकृष्णवेणीवञ्जुरातुङ्गभद्राताम्रपर्ण्युत्पलावतीरावणगङ्गाद्या नद्यः ॥ देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः । तत्र देवसभसुराष्ट्रदासेरकत्रवणभृगुकच्छकच्छीयानर्तार्बुदब्राह्मणवाहयवनादयो जनपदाः, गोवर्धनगिरिनगरदेवसभमाल्यशिखरार्बुदादयः पर्वताः, सरस्वतीश्वभ्रवतीवार्त्रघ्नीमहीहिडिम्बाद्या नद्यः, करीरपीलुगुग्गुलुखर्जूरकरभादीनामुत्पादः ॥ पृथूदकात्परत उत्तरापथः । यत्र शककेकयहूणवानायुजकम्बोजबाह्लीकलम्पाककुभूतकीरत्तङ्गणतुषारतुरुष्कबर्बरमठहरहूरादयो जनपदाः, हिमालयजालन्धरकलिन्देन्दुकीलचन्द्राचलादयोऽद्रयः, गङ्गासिन्धुसरस्वतीशतद्रूचन्द्रभागायमुनैरावतीवितस्ताविपाशाकुहूदेविकाद्या नद्यः, सरलदेवदारुद्राक्षाकुङ्कुमचमराजिनसौवीरस्रोताञ्जनसैन्धववैदूर्याश्वानामुत्पादः । तेषां मध्ये मध्यदेश इति कविसमयः ॥ यदाहुः—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः स कीर्तितः ॥

तत्र देशपर्वतनद्यादीनामुक्तक्रमेण निबन्धः । कालः काष्ठादिभेदभिन्नः । तथा च—

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठा कथिता कला तु ।
त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समे ते ॥

ते च चैत्राश्वयुजमासयोर्भवतः । चैत्रात्परं प्रतिमासं मौहूर्तिकी दिनवृद्धिः निशाहानिश्च त्रिमास्याः। ततः परं मौहूर्तिकी निशावृद्धिर्दिने हानिश्च। आश्वयुजात्परतः पुनरेतदेव विपरीतम् । रवे राशितो राश्यन्तरसंक्रमणं मासः। वर्षादि दक्षिणायनम् । शिशिराद्युत्तरायणम् । द्व्ययनः संवत्सरः सौरमाने । चान्द्रे तु द्वौ पक्षौ मासो, द्वौ मासावृतुः । तैः षड्भिः संवत्सरः । स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः, श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः । तत्र नभोनभस्यौ वर्षर्तुः, तं वंशाङ्कुरोद्भवबलाकागर्भग्रहयात्रोद्यमनिवृत्तिसल्लकीसालशिलीन्ध्रयूथीपुष्पसेन्द्रगोपशाद्वलपान्थगृहगमनकस्तूरिकागर्भचतुःसमविलेपनकुरङ्गरागोरगमागलभ्यशिखण्डिताण्डवमद्गुकङ्कादिजलचरहर्षनीपपुष्पकेतकीकोरकादिभिः पाश्चात्येन पौरस्त्येन वा वातेन वर्णयेत् । इष ऊर्जश्च शरत्, तं हंसरवोत्कर्षमयूररवापकर्षपद्मकुमुदोत्पलविकासबन्धूकबाणासनकुङ्कुमपुष्पोद्गमागस्त्युदयपयःप्रसादकारण्डवक्रौञ्चादिवर्णनवृषभखुरशृङ्गक्षितिरोधःखननरुरुशृङ्गत्यागद्विरदबृंहितमहानवमीपूजाद्विपाश्वादिनीराजनादीपालिकाविविधविलासकलमपरिणामपुलिनकमठलुठनादिभिरनियतदिक्कैश्च वातैर्वर्णयेत् । सहाः सहस्यश्च हैमन्तः, तं कुन्दलवलीफलिनीपुन्नागरोध्रप्रसवकुङ्कुमोद्वर्तनगन्धतैलाभ्यङ्गकुचकवोष्णतामयूरबर्हमुक्तिगोधूमयवप्ररोहकोकिलभृङ्गमूकत्वं कर्कन्धूनागरङ्गीफलपाककृष्णेक्षुमाधुर्यादिभिरुदीच्येन पाश्चात्येन वा वातेन वर्णयेत् । तपस्तपस्यश्च शिशिरः, स च हेमन्तधर्मैव, किं तु यामिनीदैर्घ्यचण्डवातोद्वहनागुरुधूपधूममरुवकदमनकपुष्पादिभिर्वर्णयेत् । मधुर्माधवश्च वसन्तः, तं शुकसारिकाकोकिलभ्रमराद्यानन्ददोलाविलासमदनपूजास्मरविवशवधूविशेषवेषकर्णिकारकोविदारसिन्दुवारमाधवीसोभाञ्जनकादिपुष्पभरनवकुसुमस्मरचापघटनादिभिः कुरबकतिलकाशोकबकुलानां क्रमादालिङ्गनावलोकनपादप्रहारवक्त्रकमलमधुसेकान् विनापि कुसुमाकीर्णतया दक्षिणमरुता च वर्णयेत् । शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः, तं स्वर्णकेतकीशिरीषपुष्पनवमालिकाविलासजम्बूपनसाम्रमोचाप्रियालादिक्रीडाजलाशयशोषप्रपाकूपपयःसक्तुवर्णनकायमानदिनार्धस्वापदिनान्तकेलिस्नानवनचीरीनादादिभिर्नैर्ऋतेनानियतदिक्केन च वातेन वर्णयेत् । ऋतुश्च संधिः शैशवं प्रौढिरनुवृत्तिश्चेति चतुरवस्थः । तत्र शिशिरवसन्तयोर्मध्यं संधिर्यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मनसि च गिरं ग्रन्थन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः ।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयशालिनीम् ॥

वसन्तस्य शैशवं यथा—

गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरः पञ्चमः ।
किं च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोर्जितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः ॥

प्रौढिर्यथा—

साम्यं संप्रति सेवते विचकिलं षण्मासिकैर्मौक्तिकैः
कान्तिं कर्षति काञ्चनारकुसुमं माञ्जिष्ठधौतात् पटात् ।
हूणीनां कुरुते मधूकमुकुलं लावण्यलुण्ठाकतां
लाटीनाभिनिभं चकास्ति च पतद् वृन्ताग्रतः केसरम् ॥

अतिक्रान्तर्तुलिङ्गं यत् कुसुमाद्यनुवर्तते ।
लिङ्गानुवृत्तिं तामाहुः सा ज्ञेया काव्यलोकतः ॥

किं च—

ग्रैष्मिकसमयविकासी कथितो धूलीकदम्ब इति लोके ।
जलधरसमयप्राप्तो स एव धाराकदम्बः स्यात् ॥

यथा—धूलीकदम्बपरिधूसरदिङ्मुखस्य इति ।

तथा—विचकिलकेसरपाटलचम्पकपुष्पानुवृत्तयो ग्रीष्मे ।
तत्र च तुहिनर्तुभवं मरुवकमपि केचिदिच्छन्ति ॥

यथा—

अभिनवकुशसूचिस्पर्धि कर्णे शिरीषं
मरुवकपरिवारं पाटलादाम कण्ठे ॥

एवमन्यदपि कविप्रसिद्ध्याभ्यूह्यम् ॥

वयः शैशवादि । जातिर्ब्राह्मणत्वादिका **स्त्रीपुंसादिका वा । आदि-ग्रहणाद् विद्यावित्तकुलपात्रादयो लभ्यन्ते ॥ वेषः कृत्रिमं रूपम् । व्यवहार-श्चेष्टा । आदि-शब्दाद् आकारवचनादयो गृह्यन्ते ॥** वेषव्यवहारादीति । **देशादिभिः**

अनङ्गस्य रसानुपकारस्य वर्णनं यथा—

कर्पूरमञ्जर्या नायिकया स्वात्मना च वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य तस्य राज्ञा प्रशंसनम् ।

"ईदृशाः" इति नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ इति ।

इदानीं क्वचिद्दोषा एते—इत्युच्यते—

न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् ।

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥३३०॥

अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथाप्रतीतिकृत् । अत एव "दूरादुत्सुकम्—"(३३१) इत्यादौ व्रीडाद्यनुभावानां विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसाप्रसरणादिरूपस्य तथा-

---

प्रत्येकं संबध्यते, तेन देशे वेषव्यवहाराकारवचनानामौचित्याद् निबन्धः कार्य इत्यर्थः । यथा कन्यकुब्जीयदेशे उद्धतो वेषो दारुणो व्यवहारो भयंकर आकारः परुषवचनमनुचितम् । म्लेच्छेषु तदेवोचितम् । तथा नागरेषु यदुचितं तदेव कनककुण्डलादि ग्राम्येष्वनुचितम् । एवं कालादावप्यूह्यम् ॥

प्रशंसनमिति—'देवी-जहा णिवेदिदं बन्दीहि' इत्यादि विदूषकोक्ति यावन्नायिकया राज्ञा च वसन्तवर्णने प्रकृतरसस्यानङ्गत्वाद् रसदोषः ॥

'ईदृशा' इति, अन्येऽप्येवंविधा दोषाः । यथा नायिकायाः स्वयं संभोगाभिलाषकथनम् । यथा वा भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां वृत्तीनां काव्यालंकारप्रसिद्धानामुपनागरिकादीनां वा यदविषयनिबन्धः सोऽपि रसभङ्गायैव ॥ ५८–६० ॥

अत्रौत्सुक्येति । यथौत्सुक्यनामा व्यभिचारी साक्षान्निबद्धश्चमत्कारी न तथा तस्यानुभावश्चिन्तादिरूपं कार्यं प्रतीतिकृदिति स्वशब्देनोक्तौ न दोषः ॥

प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम् ।

संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥६३॥

बाध्यत्वेनोक्तिर्न[३४] परं न दोषः, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत् । यथा—क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्—इत्यादौ ।

अत्र वितर्कादिषूद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरसपरिपोषः ।

कृतमिति । 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादिवृत्ते औत्सुक्यलक्षणो व्यभिचारी स्वशब्देनोक्तः । व्रीडाहर्षकोपास्तया प्रसादानां तु व्यभिचारिणां संबन्धिनोऽनुभावा एव चक्षुषो विवलनस्फारणारुणत्वाश्चितभ्रूलतात्वबाष्पाम्बुपूर्णत्वलक्षणा उपात्ताः। औत्सुक्यस्य ह्यनुभावोऽत्र प्रस्तावे चक्षुषः प्रसरणादिरूपः, स च निबध्यमानो न तथा प्रतीतिकृत् ॥

संचार्यादेरिति । प्रकृतरसविरोधिनोऽपि व्यभिचार्यादेर्वान्यत्वेन शक्याभिभवत्वेनोक्तौ प्रस्तुतरसपोष एव ॥ 'क्वाकार्यम्' इति क्व मुनिकन्याभिलाषित्वं क्व च सोमवंशत्वमित्युत्साहस्थायिवीररसव्यभिचारी नीतिमार्गविचारोत्थो वितर्कः 'भूयोऽपि दृश्येत सा' इत्यभिलाषोत्थमौत्सुक्यं शृङ्गारानुगुणमङ्गम् । 'दोषाणां प्रशमाय' इति वीररसानुगुणा मतिर्व्यभिचारिभावरूपा । 'अहो कोपेऽपि कान्तम्' इति चिन्ताभ्यासोत्था शृङ्गारव्यभिचारिणी स्मृतिः । 'किं वक्ष्यन्ति'-इति पापकर्माध्यवसायविभाविकाशङ्का उत्साहव्यभिचारिभावरूपा । तस्यास्तु उत्तमविषयाया वीरशृङ्गाराङ्गत्वम् । 'स्वप्नेऽपि सा' इति संगमदौःस्थ्यसंभावनोत्था दीनता शृङ्गारव्यभिचारिणी । 'चेतःस्वास्थ्यम्' इति धृतिरुत्साहव्यभिचारी भावः । 'कः खलु' इति 'कोऽन्यः सुकृती यः किलेदृशभाग्यफलस्योपभोक्ता भविष्यति' इति चिन्तैव रतेः पोषिका ॥

वितर्कादिष्विति । वितर्क औत्सुक्येन, मतिः स्मृत्या, शङ्का औत्सुक्येन, धृतिश्च तेनैव बाध्यत इति चिन्तायां पर्यवसानाद् विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तौ विप्रलम्भरसपोषः । अत्र हि शृङ्गाराङ्गेन वाक्यार्थसमापनाद् विवक्षितशृङ्गार एव लब्धप्रतिष्ठ इति, तद्विरुद्धवीररसगतभावनिबन्धो बाध्यतया तत्परिपोषक एव । यद्यपि शृङ्गारवीरयोर्नान्योन्यं विरोधस्तथाप्युत्साहप्रकृतेर्धीरोदात्तस्य तथाविधकार्यकरणमेवानुगुणमित्यनुचितशृङ्गारोपनिबन्धो विरुध्यत इति, युक्तं वीरशृङ्गारयोर्निर्विरोधित्वेनेदमुदाहरणम् । तथा विप्रलम्भशृङ्गारवि-

पाण्डु क्षामं [३७०] वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः [३७१] ॥३३२॥

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुता [३७२] दीनामिति न विरुद्धत्वम् ।

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किं तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥३३३॥

इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वे [३७३] नैवोक्तम् । जीवितादप्यधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्व [३७४] मिति प्रसिद्धतद्गुणोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति। न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः । न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः । शान्तशृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात् । नापि काव्यशोभाकरणम् । रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात् ।

रोधिन्यपि करुणे ये व्याध्यादयो व्यभिचारिणः सर्वथाङ्गत्वेन दृष्टास्तेषां साधारणत्वादिना तदङ्गभावं प्राप्तानामप्युक्तिरदोषा, यथा 'पाण्डु 'इति ॥ सरसमिति । क्षामं सस्नेहं च । अन्यस्मिन् क्षेत्रे चिकित्स्यो देहान्तरे निवार्यः; इयप्रत्यये क्षेत्रियो राजयक्ष्मा; उपपतिश्च स एव रोगस्तच्चिन्तोत्था पीडा च ॥ साधारणत्वमिति । पाण्डुतादयो हि राजयक्ष्मत उपपतिचिन्तातश्च स्युरिति करुण विप्रलम्भयोः साधारणाः । अत्र करुणस्यैवाङ्गभूतः पाण्डुरोगः श्लेषभङ्ग्यारोपितः, अत एव च शृङ्गारस्याङ्गतामिव गतः साधारण्याद् न दुष्टः ॥

सत्यमिति । परहृदयानुप्रवेशेनोक्तिर्न खल्वलीकवैराग्यं प्रकटयामः, किं तु यस्य कृते सर्वमभ्यर्थ्यते तदेवेदं जीवितं चञ्चलमिति शान्तविभावः समस्तानित्यत्वरूपः ॥ प्रसिद्धेति । प्रसिद्धेन तेन गुणेनास्थिरत्वलक्षणेन या उपमानता तया ॥ उपात्तमिति । द्वितीयमर्धमपाङ्गभङ्गोपमानेन जीवितस्यास्थिरतां प्रतिपादयद् बाधकत्वेनोपात्तमित्यर्थः । शाब्द्या वृत्त्या यद्यप्युपमानत्वमस्थिरत्वगुणविशिष्टेऽपाङ्गभङ्ग एवोपमानत्वेनात्र विवक्षितस्तस्यैव तद्गुणविशिष्टस्योपमानतोपपत्तेः । ध्वनिकारस्तु—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥

इति शृङ्गारेण विनेयानभिमुखीकृत्य 'पश्चाच्छान्ते पर्यवसान'मिति विरोधपरिहारमाहेत्याशङ्क्याह — न तु विनेयेति ॥ अभावादिति । शृङ्गारस्याप्रतीतेः कयोर्नैरन्तर्यं स्यादिति भावः ॥ रसान्तरादिति । अत्रैव श्लोके शान्तलक्षणाद्

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्ये तु यो रसः ॥ ६४ ॥

वीरभयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः । शान्तशृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम् । यथा नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः ।

न परं प्रबन्धे, यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते । यथा—

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥३४४॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥३४५॥

'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग'त्याद्यनुप्रासाद् वा काव्यशोभायाः सिद्धत्वाद् ॥६१॥

प्रतिपक्षगतत्वेनेति । **यथा** अर्जुनचरिते —

समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनः ।
महानुपप्लवोऽभवत्पुरे पुरन्दरद्विषाम् 'इत्यादि ॥

अत्र वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये निवेशितो भयानकः सुतरां नायकोत्कर्षमादधातीति विरोधिनोऽपि तथा निबद्धस्य निर्विरोधिता ॥

शान्तस्येति ।

रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः
कृत्याकृत्यविचारणासु विमुखं को वा न वेत्ति क्षितौ ॥
इत्थं निन्द्यमपीदमिन्द्रियवशं प्रीत्यै भवेद्यौवनं
भक्त्या याति यदीत्थमेव पितरौ शुश्रूषमाणस्य मे ॥

—इत्याद्युपक्षेपात् प्रभृति परार्थदेहदानात्मकनिर्वहणपर्यन्तं प्रतिपादितस्य । अत एवात्र 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेन' इत्यादि नीरसप्रायमपि निबद्धमद्भुतरसपरिपोषकतया सरसम् ॥

'भूरेणु'त्यादि विशेषणैरतीव दूरापेतत्वमसंभावनास्पदत्वमुक्तम्, 'स्वदेहान्' इत्यनेन चैकत्वाभिमानादेवाश्रयैक्यम् । अन्यथा विभिन्नविषयत्वात् को

विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान्पतितानपश्यन् ॥३३६॥

अत्र बीभत्सशृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः ।

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥६५॥

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥३३७॥

एतद् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ ।

अत्र पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति ।

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥ ३३८ ॥

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारणानि तथा

विरोधः स्यात् ॥

ननु वीर एवात्र रसो न शृङ्गारो न बीभत्सः, किं तु रतिजुगुप्से वीरं प्रति व्यभिचारीभूते । सत्यम्, तथापि प्रकृतोदाहरणता तावदुपपन्ना, यतस्तदङ्गयो रतिजुगुप्सयोरपि वीररसव्यवहितयोर्न विरोधः ॥ वीररस इति । ' वीराः स्वदेहान् 'इत्यादिना तदीयोत्साहाश्रयगतया कर्तृकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतीतिरिति शृङ्गारबीभत्सयोरन्तरेऽनिवेशितस्यापि सुतरां वीरस्य व्यवधायकता प्रतीयत इति भावः ॥

पूर्वावस्थेति । रसनोत्कर्षादिना स्मर्यमाणेन शृङ्गाराङ्गेनापि इदानीं विध्वस्ततया प्रकृष्टां शोकविभावतां प्रतिपद्यमानेन करुण एव पोष्यते ॥

दन्तक्षतानीति । बोधिसत्त्वस्य सिंहीं स्वकिशोरभक्षणप्रवृत्तां प्रति निजं शरीरं वितीर्णवतः केनचिच्चाटुकं क्रियते । ' प्रोद्भूतः सान्द्रपुलकः ' परार्थसंपत्तिजेनानन्दभरेण यत्र । रक्ते रुधिरे मनोभिलाषो यस्याः । अनुरक्तं च मनो यस्याः । मुनयश्चोद्बोधितमदनावेशाश्चेति विरोधः ॥ ' जातस्पृहैः 'इति च ' वयमपि यदि कदाचिदेवं कारुणिका भविष्यामस्तदा सत्यतो मुनयः 'इति मनोराज्ययुक्तैः ॥ समासोक्तेश्चालंकाराान्नायिकावृत्तान्तप्रतीतिः ॥

जिनस्य । यथा वा परः शृङ्गारी तदवलोक[३८१]नोत्सस्पृहस्तद्ददे[३८२]-दृ[३८३]दृशा मुनय इति साम्यविवक्षा ।

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥ ३३९ ॥

अत्र चाटुके राजविषया [३८४]रतिर्या प्रतीयते तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः । यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः[३८५] ॥३४०॥

अत्र, एहीति क्रीडन्ति, गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमनगमनयोर्न विरोधः ।

पर इति । दन्तक्षतयुक्तकामुकव्यतिरिक्तः तदवलोकनात् कामुकदन्तक्षतादिदर्शनात् ॥ एतद्दृशेति । जिनदन्तक्षतादिदर्शनेन । अत्र शृङ्गारतुल्यत्वेन शान्तो विवक्षितः। परस्परविरोधिनोरपि रसयोर्भावयोर्वाङ्गिनि भावे रसे वाङ्गभावप्राप्तौ न दोषो यथा 'क्रामन्त्य 'इति । हेमाग्निधूमकृतं बाष्पाम्बु, यदि वा बन्धुगृहत्यागदुःखोद्भवम्। भयं कुमारीजनोचितः साध्वसः । अनभ्यस्तगमनतया भयविशंस्थुलगतितया च विवाहे त्रिरग्निप्रदक्षिणनिमित्तं च भर्तृकरावलम्बनम् ॥ करुण इति । रतेरङ्गिन्या करुणशृङ्गारौ अङ्गमिति न विरोधः ।

ननु, अन्यपरत्वेन स्थितयोर्विरोधिनोः कथं निर्विरोधत्वं, स्वभावस्यान्यपरत्वेऽप्यनिवर्तनात् । सत्यम् , तदैव तदेव कुरु मा कार्षीरितिवद् एकदा प्राधान्यलक्षणे विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं, नानुवादेऽन्याङ्गतालक्षणे, इत्याह — यथा — ' एहि गच्छ 'इत्यादौ । आगमनगमनयोर्विरुद्धयोरपि क्रीडाङ्गत्वेनानूद्यमानयोः समावेशे सति न विरोधः । 'तद्वक्त्रामन्त्य' इत्यादावपि करुणशृङ्गारयोरनूद्यत्वं, रतेरेव प्राधान्येन वाक्यार्थत्वात् । विरुद्धानामपि अन्यमुखप्रेक्षित्वेन परतन्त्रीकृतानां स्वात्मपरामर्शेऽपि अविश्राम्यतां का कथाऽन्योन्यरूपचिन्तायां येन विरोधः स्यात् ॥

ननु प्रधानतया यद् वाच्यं तत्र विधिः, अप्रधाने तु वाच्ये अनुवादो, न च रसस्य वाच्यत्वमिति रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति । सत्यम् ;

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥३४१॥

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम् । तस्य तु शृङ्गारः । तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव । अथवा प्राग्यथा कामुक आचरति स्म, तथाद्य शराग्निरिति शृङ्गार-

---

तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात् मुख्यतया रस एव काव्यवाक्यानामर्थः तेन यत्रामुख्यतया सोऽर्थस्तत्रानूद्यमानत्वं रसस्यापि युक्तम् । विध्यनुवादौ हि प्रधानाप्रधानत्वमात्रकृतौ, प्रधानाप्रधानत्वे च व्यङ्ग्यतायामपि भवत एवेति भावः । यदि वानूद्यमानविभावादिसमाक्षिप्तत्वाद् रसस्यानूद्यमानता । करुण-शृङ्गारयोरन्यत्राङ्गभावगमनाद् निर्विरोधत्वमुक्तम् । अथान्यस्यामङ्गभावप्राप्तौ विप्रलम्भः करुणस्यैवाङ्गतां प्रतिपन्नो न विरोधी यथा — क्षिप्तो हस्त इति । वह्नेः क्षेपो विधूननं भयहेतुकमिति करुणाङ्गम् । उपलालनाप्रवृत्तस्य तु वल्लभस्य करग्रहणासहनं क्षेपो नायिकान्तसंपर्कसमुत्थेर्ष्याकोपनिमित्तो विप्रलम्भसूचकः । अभिहननं दाहनिमित्तदुःखजनितमवधूननं जलादिप्रक्षेपरूपं चेति करुणरसपोषकम् । वल्लभस्याभिहननमवताडनमवज्ञानिमित्तं विप्रलम्भपोषकम् । अपासनं प्रक्षेपः । पटाञ्चलावताडनं त्वरितगतिनायिकावेणीलतावग्रहोपायहठचुम्बन-प्रवृत्तवल्लभस्यापासनमपक्षेपणम् । ' अयि निर्लज्ज तथा व्यलीकशतानि कृत्वा संप्रतीत्थमाचरसि 'इत्येवंरूपोपालम्भवचनादिमयमीर्ष्यारोषव्यञ्जकम् । अनी-क्षणमनालोचनम् । प्रणामान्तो मान इति वल्लभः पादपतितो न विगणितश्च । अवधूतो निवारितः । परित्यक्तप्रायेर्ष्याकोपतया वह्निदग्धवल्लभसुतादिस्मर-णहेतुकदुःखसंभावनया च सास्रनेत्रत्वम् । ' आर्द्रापराधः ' प्रत्यग्रप्रेमस्खलिता-दिप्रमादयुक्तः ॥ त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्येति । रतिरूपभावस्य प्रेयोलंकारविषयस्य वाक्यार्थीभूतस्याङ्गिनः ॥ करुणोऽङ्गमिति । विप्रलम्भापेक्षया तस्य निकटत्वं महेश्वरप्रभावं प्रति सोपयोगत्वात् । विप्रलम्भस्तु ' कामीव 'इत्युत्प्रेक्षाबलेना-यात इति दूरत्वात् करुणस्याङ्गम् ॥ तस्याङ्गतैवेति । ' स दहतु दुरितम् 'इत्यादौ साटोपाभिनयसमर्पितो यो भगवत्प्रभावस्तत्राङ्गतायां करुणस्य पर्यवसानमिति न विरोधः ॥ अथवेति, अनेन प्रकारान्तरेण, निर्विरोधित्वमाह — शृङ्गार-पोषितेनेति । शाम्भवशरवह्निचेष्टितावलोकनात् प्राक्तनकलहवृत्तान्तेन स्मर्यमाणेने-

पोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते । उक्तं हि—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति ।

दानीं विध्वस्ततया शोकविभावनां प्रतिपद्यमानेन पोषितः करुणो रसः प्रधानमेव वाक्यार्थमुपोद्बलयति, यतः प्रकृतिरमणीयाः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः स्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति यथा 'अयं सरसने'त्युदाहृते । तथात्रापि त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानितीत्थमप्यविरोधित्वम् ॥

एवं प्रबन्धेष्वपि संध्यादिमयेषु नाटकादिषु प्रसिद्धेऽपि नानारसनिबन्धने एको रसोऽङ्गीकार्य इतरेषामङ्गत्वान्न विरोधः ॥

ननु स्वयं लब्धपरिपोषत्वे कथमङ्गत्वं, निराशंसत्वात् । अलब्धपरिपोषत्वे वा कथं रसत्वमिति रसत्वमङ्गत्वं चान्योन्यविरुद्धम् । तेषां चाङ्गत्वयोगे कथमेकस्य रसस्याङ्गित्वम् । सत्यम् , प्रस्तुतस्य रसस्य स्थायित्वेन समस्तेतिवृत्तव्यापितया भासमानस्य रसान्तरैरितिवृत्तवशायातत्वेन परिमितकथाशकलव्याप्तिभिरङ्गिता पोष्यत एव । यथा, आधिकारिकं प्रधानं कार्यम् । 'स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति 'इति लक्षितात् ' बीजात्प्रभृति प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणं यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स तु बिन्दुः 'इति बिन्दुरूपयार्थप्रकृत्या ' आगर्भाद् आविमर्शाद् वा पताका विनिवर्तते ' इत्यादिपताकाप्रकरीलक्षणैरूनव्याप्तिभिः कार्यान्तरैश्चोपक्रियमाणमवश्यमङ्गीक्रियते । तत्पृष्ठवर्तिनीनां चित्तवृत्तीनां तद्बलादेवाङ्गाङ्गिभावः, तथा रसानामप्यसौ ॥ एतदेवान्योक्तेन द्रढयति—गुणः कृतात्मेति । अङ्गभूतान्यपि रसान्तराणि स्वविभावादिसामग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि:लब्धपरिपोषाणि चमत्कुर्वन्ति, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुष्य विश्राम्यति, किं तु चमत्कारान्तरमनुधावति । सर्वत्र चाङ्गाङ्गिभावेऽयमेवोदन्त इति भावः । यथा महाभारते शास्त्ररूपकाव्यच्छायान्वयिनि वृष्णीनामन्योन्यक्षयः, पाण्डवानामपि महापथक्लेशेनानुचिता विपत्तिरिति विरसावसानेऽविद्याप्रपञ्चरूपे च वैमनस्यदायिनीं समाप्तिं वैराग्यहेतुत्वेन निबध्नता देवतातीर्थतपःप्रभृतिप्रभावातिशयवर्णनं भगवद्वासुदेवाभिधेयपरब्रह्मप्राप्त्युपायत्वेन परंपरया दर्शयता सनातनाद् भगवतोऽन्यस्य सर्वस्य

प्राक्प्रतिपादितरूपस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधोः नाप्य-ङ्गाङ्गिभावो भवतीति रसशब्देनात्र तत्स्थायिभाव उपलक्ष्यते ।

काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः ॥ ७ ॥

अनित्यतां प्रकाशयता व्यासेन मोक्षलक्षण एवैक 'स्वाद–योगाभावे पुरुषेणा-र्थ्यते' इति पुरुषार्थः शास्त्रनयेन काव्यनयेन च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणश्च-मत्कारयोग्यत्वेन शान्तरसव्यपदेश्यो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षितः, ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणश्च पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदङ्गत्वेनानुगम्यते । साररूपश्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन दर्शितो, न वाच्यत्वेन ॥ एवं रामायणेऽपि 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना मुनिना करुणो रसः सूचितः, स एव सीतात्य-न्तवियोगपर्यन्तमङ्गीकृतः ॥

उपसंहरन्नाह—प्राक्प्रतीति ॥ रसशब्देनेति । रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद् रसशब्देनोक्ताः सूत्रे रसीकरणयोग्यत्वात् । तेषामङ्गत्वे निर्विरोधत्व-मेव, ततो रसानां स्थायिसंचारिभावेनाङ्गाङ्गितापि युक्तैवेति भावः । एतेन—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ॥

इति मतं स्वीकृतम् ॥ ६३ ॥

येषां ताण्डवमाधत्ते चित्ताध्वनि रसध्वनिः ।
त एवास्य सुवर्णस्य परीक्षाकषपट्टकाः ॥

इति भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते सप्तम उल्लासः ॥

एवं दोषानुक्त्वा गुणालंकारविवेकमाह—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ६६ ॥

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य[१] तथा रसस्यैव माधुर्यादयो[२] न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनादाकार एवास्य शूर इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण शूर इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेणाशूर इति, अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरा[३]दिव्यञ्जकसुकुमारवर्णानां माधुर्यव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि, रसपर्यन्तविश्रान्तिप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति । अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः । यथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते ।

'शब्दार्थौ सगुणौ सालंकारौ च काव्यम्' इत्युक्तं, तत्र गुणालंकारयो रसोत्कर्षहेतुत्वं सामान्यं लक्षणं प्रतिपादयन् विवेकमिति भेदमाह—ये रसस्येति । यथा शौर्यादयो धर्माः समवायवृत्त्या आत्मन एव, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो धर्माः । तर्हि कथं 'मधुरा वर्णाः' इति व्यवहार इत्याह — क्वचित्त्विति । आकार एवास्य शूर इति । यथा शौर्यमुपचारात् तदभिव्यञ्जके शरीरे लोका व्यवहरन्ति तथा वर्णेषु माधुर्यादयः । मधुररसाभिव्यञ्जकेषु वर्णेषूपचरितं माधुर्यमित्यर्थः । अमधुरादिश्चासौ रसश्च । तदङ्गानामपि वर्णानां माधुर्यादिरहितानामपि सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, असौकुमार्यादिमात्रेण चामाधुर्यादि वामनादयो व्यवहरन्ति ॥ न तु वर्णमात्रेति । रसपर्यवसायिनां माधुर्यादीनां रस एवाश्रय इत्यर्थः । यदुक्तम्—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

एषामिति **वर्णानाम्** ॥ ६४ ॥

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं संभविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽप्युपकारका हारादय इवालंकाराः । यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः । क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ३४२ ॥

इत्यादौ वाचकमुखेन,

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥ ३४३ ॥

इत्यादौ वाच्यमुखेनालंकारौ रसमुपकुरुतः ।

अलंकाराणां सामान्यं लक्षणमाह — उपकुर्वन्तीति ॥ ये वाचकेति । रसस्याङ्गिनो वाचकः शब्दो वाच्यश्चार्थोऽङ्गम् । तदतिशयद्वारेणालंकारा रसमुपकुर्वन्ति । एतेनाङ्गाश्रिता अलंकारा ये त्वङ्गिनि रसे समवेतास्ते गुणाः । अलंकाराश्च हारादय इवावयवोत्कर्षद्वारेण अवयविनोऽपि रसादेश्चारुत्वहेतवः । रसा हि काव्यस्यात्मत्वेन व्यवस्थिताः, शब्दार्थौ च शरीररूपौ । यथा ह्यात्माधिष्ठितं शरीरं जीवतीत्युच्यते तथा रसाधिष्ठितं काव्यम् ॥ अथ भावः । यद्यप्युपमादिभिर्वाच्योऽर्थोऽलंक्रियते तथापि तेषां तदेवालंकरणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालंकार्यः । केयूरादिभिरपि हि चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालंक्रियते । तथा ह्यचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्यलंकृतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् । यतिशरीरं च कटकादियुक्तं हास्यावहं स्याद्, अलंकार्यस्यानौचित्यात् । यत्र तु रसो नास्ति तत्र वाच्यवाचकवैचित्र्यमात्रं, तच्च शब्दचित्रमर्थचित्रं चेत्युक्तं जातुचिदिति व्याकुर्वन्नाह — क्वचित् त्विति । तत्र रसस्याङ्गिनो वाचकमुखेनालंकारो यथा 'अपसारये'ति । 'घनसारः' कर्पूरम् ॥ 'मनोरागः' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ उपकुरुत इति । पूर्वश्लोके कोमलानुप्रासो 'मनोरागः' इत्यत्र तु मालोपमार्था-

लंकारः सातिशयकामावस्थावेशमुद्योतयन् विप्रलम्भमुपकुरुतः। रूपकाद्यलंकारश्च यदि समीक्ष्य निवेश्यते तद् लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनश्चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते। समीक्षा तु—

'तात्पर्ययोगः काले च ग्रहत्यागावलंकृतेः ।
नातिनिर्व्यूढिरङ्गत्वे निर्व्यूढावपि योजनम् ॥'

तात्पर्यरसोपकारकत्वेनालंकारस्य निवेशो न बाधकत्वताटस्थ्याभ्यां यथा—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषाद् मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

शकुन्तलावलोकनजनिताभिलाषस्य दुष्यन्तस्येयमुक्तिः । 'हे मधुकर वयमेवंविधाभिलाषचाटुप्रवणा अपि तत्त्वान्वेषाद् वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासमात्रपात्रं जाताः । त्वं खल्विति निपातेन अयत्नसिद्धं तवैव चरितार्थत्वम् । तथा हि कथमेतदीयकटाक्षगोचरीभूयास्म, कथमेषास्मदभिप्रायव्यञ्जकं रहोवचनमाकर्णयेत्, कथं नु हठादनिच्छन्त्या अपि चुम्बनं विधेयास्मेति यदास्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत् तवायत्नसिद्धम् ।' भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्काकातरां दृशं पुनःपुनः स्पृशति, श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नीलोत्पलशङ्कानपगमात् तत्रैव दंध्वन्यमान आस्ते, सहजसौकुमार्यकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दामोदमधुरमधरं पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलंकारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगत इति रसपरत्वेनोपनिबद्धो रसोपकारी ॥

बाधकत्वेन यथा—

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ ।
व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गोऽनपेक्षम् ॥

—अत्र 'पीडयेव' इत्युत्प्रेक्षालंकारोऽङ्गी सन् तदनुग्राहकश्चार्थश्लेषः करुणोचितान् विभावानुभावान् संपादयन् प्रधानस्य संभोगशृङ्गारस्य बाधकत्वेन भातीति न प्रकृतरसोपकारी ॥

ताटस्थ्येन यथा—

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः ।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ॥

फलहकलिखितसागरिकाप्रतिबिम्बदर्शनाद् जाताभिलाषस्य वत्सराजस्योक्तिः तटस्थस्येव कविनोपरचितेति श्लेषानुगृहीतोपमालंकारप्राधान्येन प्रस्तुतो रसो गुणीकृतोऽपरिजिघटिषया ॥

अनङ्गत्वेऽपि कालेऽवसरे ग्रहणं यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

'उद्दामा बहव्य उद्गताः कलिका यस्याः । उत्कलिकाश्च रुहुरुहिकाः । क्षणात् तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया । जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः । श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैः । आत्मनो लतालक्षणस्य । आयासमायसनम् । आन्दोलनायत्नमातन्वतीम् । निःश्वासपरंपराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं संतापमातन्वतीम् । सह मदनाख्येन वृक्षेण मदनेन कामेन च । ध्रुव-शब्दश्च भावीर्ष्यावकाशदानजीवितम् ।' अत्रोपमा तदनुग्राहकश्च श्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनश्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायामुपनिबद्ध उपकारी॥

अकाले ग्रहणं यथा—

वाताहारतया जगद्विषधरैः इत्यादौ ।

अत्र वाताहरत्वं पश्चाद् वाच्यमप्यादावुक्तमित्यतिशयोक्तिरनवसरे गृहीता । तथा हि प्रथमत एव प्रथमपादे हेतूत्प्रेक्षया यद् अतिशयोक्तेरुपादानं, न तत् प्रकृतस्य दम्भप्रकर्षप्रभावतिरस्कृतगुणगणानुशोचनमयस्य निर्वेदस्याङ्गतामेति । न हि वाताहारत्वाद् अधिको दम्भस्तोयकणव्रतं, नापि ततोऽधिकं दम्भवत्त्वं मृगाजिनवसनम् ॥

गृहीतस्यावसरे त्यागो यथा—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

सीतावियोगोपनतविशंस्थुलावस्थस्य दाशरथेरियमुक्तिः । 'रक्तो लोहितः । अहमपि प्रबुद्धानुरागः । तत्र च प्रबोधको विभावः पल्लवराग इति मन्तव्यम् । अत्र प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषः 'सशोके' ति व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो विप्रलम्भोपकारी ॥

अनवसरे त्यागो यथा—'आज्ञा शक्रे' त्यादौ । अत्र 'न रावणः' इत्यस्मादेव त्यागो युक्त इत्युक्तम् ॥

नातिनिर्वाहो यथा—

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

–अत्र रूपकमारब्धं न निर्व्यूढं च रसपरिपुष्टये । बाहुलतिकायाः पाशत्वेन यदि रूपणं निर्वाहयेत्तद्दयिताव्याधवधूर्वासगृहं कारागारपञ्जरादीति तदा रसभङ्गः स्यात् ॥

अतिनिर्वहणं यथा—

स्वञ्चितपक्ष्मकवाटं नयनद्वारं स्वरूपताडेन ।
उदघा[ट्य मे प्रविष्टा देहगृहं सा हृदयचौरी ॥

अत्र 'नयनद्वारम्' इत्येतावदेव सुन्दरमाभिलाषिकशृङ्गारानुगुणम् ॥

निर्वाहेऽप्यङ्गत्वं यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षिते दृष्टिपातान्
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥

'उत्पश्यामि' इति यत्नेनोत्प्रेक्षे जीवितसंधारणायेत्यर्थः । 'हन्त' इति कष्टम् । 'एकस्थसादृश्याभावे हि दोलायमानोऽहं क्वचिदपि धृतिं लभे' इति ॥ अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसोपकाराय ॥

निर्वाहेऽप्यनङ्गत्वं यथा—'न्यञ्चत्कुञ्चितमुत्सुकम्' इत्यादि । अत्र रावणस्य दृग्विंशतौ वैचित्र्येण स्वभावोक्तिनिर्वाहितापि रसस्याङ्गत्वेन न

चित्ते चहुट्टदि ण खुट्टदि सा गुणेसुं[१७]
[१८]सेज्जाइ [१९]लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसुं[२०] ।
बोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे
झाणे णं तुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥ ३४४ ॥

इत्यादौ वाचकमेव ।

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसीम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
वक्त्रे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥३४५॥

इत्यादौ वाच्यमेव न तु रसम् । अत्र बिसलता जीवं रोद्धुं न क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा ।

एष एव च गुणालंकारप्रविभागः । एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां [२८]भेदः । अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या

योजितेति रसवशाद् एकैकमन्यक्रियमिति ह्येतावन्मात्रेऽप्युक्ते तद्रसगतव्यभिचारिभेदोपनिपाताय यौगपद्याशुभावित्वसंभावनाय च किंचिद्विभाववैचित्र्यं वाच्यम् ॥

नोपकुर्वन्ति यथा 'चित्ते' इति ॥ 'चहुट्टदि' निखाता भवति । 'न खुट्टदि' न न्यूनीभवति । 'विसट्टदि' विकसति । 'तरट्टी' प्रगल्भा ॥ वाचकमेवेति । परुषानुप्रासोऽत्र विप्रलम्भेऽनुपकारक एवेति वाचकं शब्दमेवायमलंकार उपकरोति, न रसम् ॥

न क्षमे[ती]ति । बिसलता हि मदनोद्दीपिका प्रत्युत मृत्युकारणं, न पुनर्जीवनिरोधहेतुरित्यननुगुणत्वाद् अर्गलेवेत्युपमा प्रकृतस्य विप्रलम्भस्य नोपक्रियते ॥

एष एवेति, योऽस्माभिरुक्तः । एतेन शौर्यादिसदृशा गुणाः केयूरादितुल्या अलंकारा इति । 'अलंकारा अपि गुणवत्समवेता एवेति' केचित्, तन्नेत्याह—अनुप्रासेति । 'उभयेषामपि समवायेन स्थितिः' इत्यभिधाय 'तस्माद् गड्डरिकाप्रवाहेण गुणालंकारभेदः' इति भामहविवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तद् असत् । तथा हि—

स्थितिरिति गौडुरिकाप्रवाहेणैषां भेद इत्यभिधानमसत् । यदप्युक्तम्—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवोऽलंकारा इति, तदपि न युक्तम् । यतः किं समस्तगुणैः काव्यव्यवहार उत कतिपयैः । यदि समस्तैः, तत्कथमसमस्तगुणा गौडीया पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा । अथ कतिपयैः, ततः

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥३४७॥

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः ।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥ ३४७ ॥

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारप्रवर्तकौ ।

इदानीं गुणानां भेदमाह—

माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

कवितारः संदर्भेष्वलंकारान् व्यस्यन्ति न व्यस्यन्ति च न गुणान् ।
न चालंकृतीनामपोद्धाराहाराभ्यां वाक्यं दुष्यति वा ॥

तत्र शब्दालंकारापोद्धरणं यथा—

अलंकृतजटाचक्रं चारुचन्द्रमरीचिभिः ।
मृडानीदत्तदेहार्धं नमामः परमेश्वरम् ॥

यथा च—'अलंकृतजटाचक्रं तरुणेन्दुमरीचिभिः' इति ॥ एवमर्थालंकारेष्वपि ज्ञेयम् । न च गुणानामपोद्धाराहारौ संभवतः ॥ यदपि वामनोक्तं 'काव्यशोभायाः' इत्यादि तदपि न युक्तमित्याह—यत इति ॥

'स्वर्गे'ति । इयं वरस्त्री । देहान्तरं विनापि स्वर्गप्राप्तिः । अत्र विशेषोक्तिः, स्वर्गप्राप्तौ कारणे सत्यपि अन्यस्य दिव्यशरीरस्य कार्यस्याभावात् । द्वितीयार्धे तु व्यतिरेकः, सुधान्यक्करणेनाधररसस्योपमेयस्याधिक्यात् ॥ गुणनिरपेक्षाविति । अर्धद्वयेऽप्यलंकारद्वयमात्राद् अविवक्षितत्रिचतुरगुणात् काव्यव्यवहारदर्शनात् । तथा 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' इत्यादौ प्रसाद–श्लेष-समेता माधुर्यसौकुमार्यार्थव्यक्तीनां गुणानां सद्भावेऽपि काव्यव्यवहाराप्रवृत्तेस्तस्माद् यथोक्त एव गुणालंकारविवेकः ॥६५॥

एवं गुणालंकाराणां भेदं दर्शयित्वा गुणनिरूपणार्थमाह—इदानीमिति ॥

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥

शृङ्गारे अर्थात्—संभोगे । द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ६९ ॥

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

वीराद्बीभत्से ततोऽपि रौद्रे सातिशयमोजः ।

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥ ७० ॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु सर्वासु

अर्थादिति । विप्रलम्भो हि वक्ष्यमाणसूत्र एवोक्तस्तिष्ठतीति संभोग इत्युक्तम् । शृङ्गारस्य च ये हास्याद्भुतादयो रसा अङ्गानि तेषामपि माधुर्यं गुणः ॥ श्रव्यत्वमिति । 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति भामहोक्तं माधुर्यलक्षणमोजःप्रसादयोरप्यस्तीति सजातीयव्यावृत्त्यभावाद् न तल्लक्षणं माधुर्यस्य ।

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपं
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

—इत्यादौ रौद्रादिष्वोजस्यपि श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः ॥६६॥

संभोगशृङ्गाराद् मधुरतरः करुणस्ततोऽपि विप्रलम्भस्ततोऽपि शान्त इत्यभिप्रायेणाह—करुण इति । च-शब्दः क्रममाह ॥

ओजोलक्षणमाह—दीप्त्येति । दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा आत्मा स्वरूपं यस्य चित्तस्य तस्य विस्तृतेः कारणम् ॥६७॥

हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄणां शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन चेतसो व्यापकं प्रासादं नाम सर्वरसानां गुणमाह—शुष्केति । यद् भामहः—

आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥

रचनासु च ।

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥

गुणवृत्त्या—उपचारेण, तेषां गुणानामाकारे शौर्यस्येव ।

कुतस्त्रय एव न दशेत्याह—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७२ ॥

रचनासु चेति । रचना शब्दगतार्थगता च समस्तासमस्ता च । यदुक्तम्—

असमासा समासेन मध्यमेन तु भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥

तत्र साधारणः प्रसादो हि गुणो व्यापी । तदभावे हि असमासापि रचना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति । तदपरित्यागे तु मध्यमसमासापि व्यनक्त्येव, अत एव 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यदि ओजसः स्थितिर्निष्प[द्य]ते तत्प्रसाद एव गुणो, न माधुर्यम् । न चाचारुत्वमभिप्रेतरसप्रकाशनात् ॥ एवं शृङ्गारकरुणविप्रलम्भशान्तविषयं माधुर्यं, वीरबीभत्सरौद्रादिविषयमोजः, सर्वत्र तु प्रसाद इति स्थितम् ॥

गुणवृत्त्येति । मुख्यवृत्त्या तु रसे एव गुणानां वृत्तिः । रसस्यैव माधुर्यादयो गुणाः, उपचारेण तु शब्दार्थयोः ॥६८॥

दोषत्यागादिति । प्रागुक्तदोषपरिहारेण केचिल्लब्धाः ॥ अयं भावः । माधुर्यौजःप्रसादा एव गुणाः, ते च मुख्यवृत्त्या रसस्यैवेति शब्दार्थाश्रयत्वेन, अन्येऽपि यत् कैश्चन प्रतिपाद्यन्ते तद् न युक्तम् । तथा हि — 'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणा दश' इति केचित् । तत्रावगीतस्य हीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थसंपदा यदुदात्तत्वं निषिञ्चन्ति कवयस्तद् ओज इति भरतः । अनवगीतस्याहीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थयोरर्थसंपदा यदनुदात्तत्वं निषिञ्चन्ति कवयस्तर्हि तद् अनोजः स्यादिति मङ्गलः । यथा—

ये संतोषसुखप्रबुद्धमनसस्तेषामभिन्नो मृदो
येऽप्येते धनलोलसंकुलधियस्तेषां तु दूरं नृणाम् ।
धिक् तं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक् पदं संपदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते ॥

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणोदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः । पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम् । प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता । मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः । तथा हि—'मातङ्गाः किमु

कवीनामभिधेयं प्रति त्रयः पन्थानो यदुत न्यूनमुत्कर्षन्ति, अधिकमपकर्षन्ति, यथार्थं वस्तु स्थापयन्ति, तत् कथमिवायं गुण इति दण्डी ॥ तस्मात् समासभूयस्त्वमोजः, तच्च गद्यविभूषणं प्रायेण । वृत्तवर्त्मन्यपि गौडास्तदाद्रियन्ते । रीतित्रयेऽप्योजसः साधारणत्वाद् गौडीयानिर्देशो न युक्तस्तस्माद् गाढत्वमोज इति वामनः । ओजसि हेत्वन्तरमवमृश्यतां न पुनर्गाढत्वं शुद्धमोजः, तस्माद् उक्तमोजोलक्षणं श्रेयः ॥ तस्मिन्नेव केचिद् गुणा अन्तर्भवन्ति – इत्याह बहूनामिति । यद् वामनः ' यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकपदवद् भासन्ते ॥' स श्लिष्यत्यनेन पदं पदान्तरेण मसृणतयेति श्लेषः, यथा ' अस्त्युत्तरस्याम् '-इति । आरोहपूर्वोऽवरोहः समाधिः, यथा ' निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे ॥' यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति वर्णना स्यात्, तद् विकटत्वं यथा—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झणितिरणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च ॥

गाढत्वसंप्लुतं शैथिल्यं प्रसादः, स त्वनुभवसिद्धः । यदाह—

करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः ।
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः ॥

पृथक्पदेति । ' बहुशो यच्छ्रुतमभिहितं वा वाक्यमनुद्वेजकं मनसस्तन्मधुरम् 'इति भरतः । ' दयितजनरूक्षाक्षराक्षेपवचनेऽपि तत्समानमिति पृथक्पदत्वं माधुर्यम् 'इति वामनः । अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः, यत्र पुरस्तादिव वस्तुनोऽवगतिः पश्चादिव वाच्यं सार्थव्यक्तिः । यथा—

महेश्वरे वा जगतां महेश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥

सोऽयमुक्त्यन्तराभिहितः प्रसाद एव ॥ मार्गेति । येन मार्गेण मसृणोद्धतमध्यमरूपेण रीतिविशेषेणोपक्रमस्तस्यापरित्याग आसमाप्तेरिति समताया

वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः । कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपं सौकुमार्यम् , औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता । एवं न दश शब्दगुणाः ।

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
[81]व्याससमासौ च ॥

रूपम् । प्रयोगमार्गं प्रति च सन्तः प्रमाणम् । न च ते सर्वत्र समतां वैचित्र्याय संगिरन्ते इति क्वचिद्दोषस्तस्मात् समता न वाच्येत्याह—तथा हि 'मातङ्गाः' इति । वाच्यवशाद् अत्र मसृणमार्गं त्यक्त्वोद्धतमार्ग आश्रितः । मसृणमार्गनिर्वाहे तु दोषः स्यात् ॥ दोषत्यागादाह—कष्टत्वेति ॥ बन्धस्याजरठत्वं सौकुमार्यं यथा—

हरः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रलताक्रियोचिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥

सोऽयं श्रुतिकटुत्वदोषाभावो न गुणः ॥ औज्ज्वल्यं चमत्कारकारिपदारब्धत्वं कान्तिः, यदभावे पुराणीव बन्धच्छायेति व्यपदिशन्ति यथा—

क्षीणां केतकगर्भपाण्डुसुभगच्छेदावदातप्रभे
मन्दं कुड्मलिताः कपोलफलके लावण्यविस्पन्दिनि ।
अन्याङ्कामपि कामनीयककलामातन्वते नूतनां
शीतांशोर्बिसकन्दकन्दलशिखामुग्धश्रियो रश्मयः ॥

अत्र 'शुक्ले' इत्यादिवाक्ये 'केतके' त्याद्युक्तं, सोऽयं ग्राम्यत्वदोषाभावो, न गुणः ॥

अथार्थदोषान कांश्चिद् दूषयन कांश्चित्त्वङ्गीकुर्वन्नाह—पदार्थे इति । पदार्थे वाक्यवचनं, यथा—'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' । अत्र चन्द्रपदवाच्येऽर्थे 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' इति वाक्यं प्रयुक्तम् ॥ वाक्यार्थे पदाभिधा यथा—'दिव्येयं न भवति किं तर्हि मानुषी' इति वाच्ये 'निमिषति' इत्युक्तम् । अस्य च वाक्यार्थस्य व्याससमासौ ज्ञेयौ, साभिप्रायरूपं चौजोऽपुष्टार्थदोषाभावमात्रं, न पुनर्गुणः । अर्थगुणस्तु वैमल्यं प्रसाद इति । प्रयोजकपदपरिग्रहो हि वैमल्यं, तच्चाधिकपदत्वदोषनिराकरणात् स्वीकृतम् । उक्तेः सकाशाद् अर्थस्य वैचित्र्यं माधुर्यमप्यर्थगुणोऽनवीकृतत्वदोषाभावो, न गुणः, यथोदाहृतं 'यदि दहति' इति । अत्र 'किमद्भुतम्' इत्यादिभङ्गीभिरुक्तत्वाद् माधुर्यं स्वीचकार ॥ अपारुष्यं सौकुमार्यं यथा—'मृतं यशःशेषम्' इत्याहुः ।

इति या प्रौढिः, ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्ववपुरुदारता च स्वीकृतानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपार्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं,

सोऽयममङ्गलरूपाश्लीलत्वदोषाभावो, न गुणः। उक्तिविशेषो वासौ पर्यायोक्तालंकारविषयः॥ अग्राम्यत्वमुदारता, यथा—'त्वमेवं सौन्दर्ये'ति। अत्र 'एवं समग्रगुणानुगुण्ये यदि युवां संवसेतम्' इत्युच्येत तदा ग्राम्योऽयमर्थात्मा स्यात्। ततो ग्राम्यस्य दुष्टताभिधानाद् निराकरणेनोदारता स्वीकृता॥ अर्थगुणो वस्तुनः स्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। सोऽपि स्वभावोक्त्यलंकारः॥ दीप्तरसत्वं कान्तिः। दीप्ताः सम्यग्विभावानुभावव्यभिचारिभाजः, यथा 'प्रेयान् सोऽयमपाकृतः' इति। व्यङ्ग्यरसत्वरूपेणैव सापि स्वीकृता॥ क्रमेति। घटनारूपः श्लेषः। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगश्च घटना। नेत्रनिमीलनादीनां क्रमः परिपाटी। कौटिल्यं वैदग्ध्यम्। तयोरनुल्बणत्वेनाग्राम्यत्वेनोपपत्त्या युक्ततया योजनं श्लेषः। यथा—'दृष्ट्वैकासनसंगते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादराद्' इति। अत्र 'इदं कृत्वा, इदं करोमि' इति क्रमः। विच्छित्त्योभयोपभोगः कौटिल्यम्। तयोश्च अनायासेनोपपत्तिः। अत्र एका निजत्वेन स्थितापरा तत्सखी प्रच्छन्ना। सोऽपि संविधानकभावं वैचित्र्यमात्रं, न गुणः॥ अवैषम्येति। अर्थगुणोऽवैषम्यम्। समता क्रमाभेदश्चावैषम्यं यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमः
मनसि च गिरं ग्रथ्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः॥

प्रक्रमभेदो यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः॥

मधुग्रीष्मर्तुप्रतिपादनपरेऽत्र द्वितीयपादे प्रक्रमभेदो, मलयमरुतामसाधा-

न पुनर्गुणः । कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् । अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत्कथं काव्यम् , इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः ।

तेन नार्थगुणा वाच्याः

वाच्या वक्तव्याः ।

प्रोक्ताः शब्दगुणास्तु ये ।
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥ ७३ ॥

के कस्येत्याह—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ७४ ॥

टठडढवर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः,

रणत्वात् । ततश्च अपदोषत्वमेतद् , न गुणाः ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—कः खल्विति । विषमतां कोऽपि न बध्नात्येवेत्यर्थः ॥ अर्थस्य दर्शनं समाधिकरणत्वात् समाधिः । अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति । अर्थोऽपि द्विधाऽयोनिरकारणोऽवधानमात्रकारणः । अन्यस्य काव्यस्य च्छाया 'अन्यच्छाया,' तद् 'योनि'श्च । क्रमाद् यथा—

अग्रादपि मध्यादपि मूलादपि सर्वतोऽप्यशोकस्य ।
पिशुनस्थमिव रहस्यं यतस्ततो निर्गतं कुसुमम् ॥
आश्वपेहि मम सीधुभाजनाद् यावदग्रदशनैर्न दश्यसे ।
चन्द्र मद्दशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात् ॥

अत्र 'मा भैः शशाङ्क मम सीधुनि' इत्यस्य च्छाया । सोऽपि न गुणः, इत्याह—अर्थस्येति ॥ ७० ॥

उपसंहारमाह—तेनेति । वाच्यशब्दोऽर्थे रूढ इति वक्तव्या इति व्याख्या कृता । छन्दोविशेषविशेष्या गुणसंपत्तिरिति केचित् । तथा हि स्रग्धरादिष्वोजः, इन्द्रवज्रादिषु समता, विषमवृत्तेष्वौदार्यं, तच्च सव्यभिचारम् ॥ तेषामिति । शब्दगुणानां माधुर्यादीनाम् । कर्मणि षष्ठी । वर्णवृत्तिगुम्फा व्यञ्जकतां प्राप्ताः ॥ ७१ ॥

स्पर्शा वर्गाक्षराणि । कीदृशा वर्गान्त्यगाः स्ववर्गान्त्यं ङञणनम-लक्षणं गच्छन्त्याश्रयन्ति मूर्ध्नि ये; अन्त्येन शिरस्याक्रान्ता इत्यर्थः ॥

तथा रेफणकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः, तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगे रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका । उदाहरणम्—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तितानि ॥३४८॥

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो, रेण तुल्ययोः ।
टादिः, शषौ, वृत्तिदैर्घ्यं, गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

तथेति । तत्प्रकारा माधुर्यानुगुणा घटना, माधुर्ये माधुर्यस्य व्यञ्जिकेत्यर्थः ॥

ननु लघुत्वं दीर्घत्वं च स्वरधर्मौ अतः कथं लघुत्वं रणयोरित्याह—ह्रस्वान्तरिताविति । 'रण' इति, 'णर' इति, 'रणु' इत्यादिना क्रमेण ह्रस्वान्तरितत्वोपनिबन्धे लघुत्वमनयोः कल्प्यते ॥

'भङ्गीभिः' इति, 'विलासस्य' इति योगः । 'अङ्गीकृतम्' इत्यत्र उत्तरार्धे 'यथा–' शब्दप्रयोगात् 'तथे'ति लभ्यते ॥ 'एता' इति भङ्गयः । शान्तमपरस्य चिन्तनं येषु चित्तेषु । अत्र वर्णसमासरचनारूपं त्रयमपि विप्रलम्भे माधुर्यव्यञ्जकम् । यथा वा—

दारुणरणे रणन्तं करिदारणकारणं कृपाणं ते ।
रमणकृते रणरणकी पश्यति तरुणीजनो दिव्यः ॥

न त्वेवं यथा–'अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णम्' इति । अत्र शृङ्गारप्रतिकूला वर्णाः ॥

बाले मालेयमुच्चैर्न भवति गगनव्यापिनी नीरदानां
किं त्वं पक्ष्मान्तवान्तैर्मलिनयसि मुधा वक्त्रमश्रुप्रवाहैः ।
एषाथोद्वृत्तमत्तद्विपकटकषणक्षुण्णविन्ध्योपलाभा
दावाग्नेर्व्योम्नि लग्ना मलिनयति दिशां मण्डलं धूमलेखा ॥

–अत्र दीर्घसमासः परुषरचना च शृङ्गारविरुद्धा ॥७२॥

योग इति । आद्येन द्वितीयस्तृतीयेन चतुर्थ आक्रान्तो वर्णः, द्र–र्द–र्द्र इति येनकेनचिद् युक्तो रेफः ॥ तुल्ययोरिति । योग इति संबध्यते । तुल्यो वर्णो वर्णेन युक्त इत्यर्थः । एतद् व्याचष्टे—तेनेति । प्रथमेन प्रथमस्यैव तृतीयेन तृतीयस्यैव योगः ॥ अर्थादिति । माधुर्यगुणे णकारस्योपयुक्तत्वादित्यर्थः ॥ ओजस इति । ओजसो व्यञ्जकाः ॥ ७३ ॥

वर्गप्रथमतृतीया[५३]भ्यां तद्द्वितीयचतुर्थयो रेफेणाध उपरि उभयत्र [५४]वा यस्य कस्यचित्, तुल्ययोस्तेन तस्यैव संबन्धः टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः शकारषकारौ [५५]दीर्घसमासो विकटा संघटना ओजसः। उदा[५७]हरणं—'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ते'त्यादि।

श्रुतिमात्रेण श[५८]ब्दानां येना[५९]र्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणः स्मृतः[६०] ॥ ७६ ॥

समग्राणां रसानां[६१] समासानां संघटनानां च। उदा[६२]हरणम्—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
　स्तनोर्मध्यस्यान्तः [६३]परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
　कृशाङ्ग्याः संतापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥३४९॥

यद्यपि गुणपरतन्त्राः संघटनादयस्तथापि

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचना[६४]दयः। यथा—

श्रुतीति। श्रुत्यैवार्थप्रतीतिहेतुत्वं शब्दानामिति:मूर्ध्नि वर्गान्त्यगकक्कारादिलघुरेफादिवर्णात्मनां असमाससमासवतामनुद्धतोद्धतसंघटनाभाजां चेत्यर्थः॥ साधारण इति व्यङ्ग्यत्वेनेत्यर्थः॥ समग्राणामिति। स हि सर्वरससाधारणः सर्ववृत्तिसंघटनासाधारणश्च॥ 'परिम्लानम्' इति। स्मरज्वराद् अवाङ्मुखीभूय बिसिनीपत्रशयने लुठिता। तच्च गात्रान्तरसङ्गे म्लानं, स्तनजघनविश्रमपदे तु परितः समन्तात् म्लानं, तदेवोभयतः शब्दवाच्यम्। 'वदति' इत्यनेन पत्रशयनस्य अचेतनत्वाद् बाधितमुख्यार्थेन प्रकाशादि लक्ष्यते। तस्य अस्फुटत्वं प्रयोजनं, तच्च अभिहितत्वेनेव प्रतीतेरप्रयोजनकल्पम्। कार्यमुखेन हि प्रतिपन्नः संतापो यथा चमत्करोति न तथाभिहितरूप इति गुणीभूतम्। माधुर्यौजःप्रसादव्यञ्जकेषु वर्णादिष्वभिहितेषु उपनागरिका परुषा कोमलेति क्रमाद् वृत्तयो वक्ष्यन्ते, तदव्यतिरिक्तस्वरूपत्वात् तासाम् ॥७४॥

गुणपरतन्त्रा इति गुणेषु नियताः। संघटनादय इति। आदिशब्दात् पश्चा[दा]नुपूर्व्यां मध्यवृत्त्यादयो गृह्यन्ते॥ अन्यथात्वमपीति। एतेषामन्यथाबन्धोऽपीत्यर्थः॥

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतिकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥३५०॥

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम् । अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धता रचनादयः । वक्ता चात्र भीमसेनः ।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम् ।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कंधरारन्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥३५१॥

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते । तथा हि—आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणा वर्णादयः । कथायां रौद्रेऽपि

वाच्यमिति दुन्दुभिताडनलक्षणम् । तथाभिनेयार्थे च काव्ये नोद्धता रचनादयो निबन्धनीयाः, तथापि भीमस्य वक्तुरौचित्याद् अत्र अभिनेयार्थेऽपि काव्ये उद्धता रचनादय इत्यर्थः ॥

'प्रौढे'ति । अत्र वक्ता मध्यम एव, नोद्धतः, तथापि वाच्यस्य कुम्भकर्णवृत्तान्तस्यौचित्याद् उद्धता रचनादयः ॥

आख्यायिकायामिति । विकटबन्धप्रधानानागतार्थशंसिवक्त्रापरवक्त्रादिनोच्छ्वासादिना संस्कृतगद्येन च युक्ता आख्यायिका, यथा हर्षचरितादि । हर्षस्य चरितमिति तत्पुरुषो, बहुव्रीहौ त्वन्यपदार्थे वाच्ये स्त्रीत्वप्राप्तिः । अभिधेयेन चाभिधायकमपि कवयो व्यपदिशन्ति, यथा अभिज्ञानशकुन्तला नाटकं कुमारसंभवः काव्यम् ॥ न मसृणा इति । गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण च्छायावत्त्वात्, भूम्ना च मध्यमसमासा—दीर्घसमासे एव संघटने ॥ कथायामिति । सुकुमाररचनाप्राया गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा धीरशान्तनायका कथा, यथा कादम्बरी, पद्यमयी तु लीलावती । एकं धर्मादिपुरुषमुद्दिश्यानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रधाना शूद्रकादिवत् परिकथा ॥ मध्याद् उपान्ततो ग्रन्थान्तरतः सिद्धमितिवृत्तं यस्यां वर्ण्यते सा खण्डकथा ॥ सर्वफलान्तेतिवृत्तवर्णनप्रधाना सकलकथा ॥ एकचरिताश्रयेण

प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्ध उपकथा ॥ लम्भकाङ्किताद्भुतार्था नरवाहनदत्तादिचरतवद् बृहत्कथा ॥ संस्कृतगद्यपद्याभ्यां साभिप्रायस्वनामपरनामाङ्किता सोच्छ्वासा वासवदत्तादिवत् चम्पूः ॥ अभिनयन् गायन् पठन् यदेको ग्रन्थिकः कथयति तद् गोविन्दवद् आख्यानम् ॥ तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कृत्याकृत्ये निश्चीयेते तत् पञ्चतन्त्रादिवत् कुट्टनीमत-मयूरमार्जारादिवच्च निदर्शनम् ॥ यत्र द्वयोर्विवादः प्रधानमधिकृत्य सार्धमाकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवह्लिका ॥ प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोचनानङ्गवत्यादिवद् मन्थल्लिकेत्यादि तु कथाभेद एवेति न पृथगौचित्यमत्रोक्तम् ॥ एवमनिबद्धेषु काव्यभेदेषु मुक्तक-सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलक-पर्याबन्धेषु कोशादिषु च ॥ एकेन च्छन्दसा वाक्यसमाप्तौ मुक्त[क]म्। अन्येनानालिङ्गितं संज्ञयाङ्केन स्वतन्त्रतया निराकाङ्क्षार्थमपि मुक्तकं, यथा अमरुकस्य ॥ द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम् ॥ त्रिभिः विशेषकम् ॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥ पञ्चादिभिः कुलकम् ॥ अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्ताद्येकवर्णनीयोद्देशेनोपनिबन्धः पर्या, सा च कोशेषु स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चयलक्षणेषु सप्तशतादिषु प्रायो दृश्यते ॥ तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाश्रयेण दीर्घसमासा रचना, अन्यथा तु कामचारः ॥ सन्दानितकादिषु विकटबन्धौचित्याद् मध्यमसमासा-दीर्घसमासे एव रचने । प्रबन्धाश्रितेषु तु मुक्तकादिषु ' त्वामालिख्य ' इत्यादिषु यथोक्तप्रबन्धविशेषौचित्यम् । पर्याबन्धे तु असमासा-मध्यमसमासे एव, कदाचिद् रौद्रादिविषये दीर्घसमासायामपि घटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिस्त्याज्या । परुषोपनागरिकाग्राम्याणां वृत्तीनां चौचित्यं यथाप्रबन्धं यथारसं चानुसर्तव्यम् । आस्वादयितॄणां हि यत्र चमत्काराविघातस्तदेव रससर्वस्वं, आस्वादायत्तत्वात् । सर्वेषां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः । सर्गबन्धे तु सतात्पर्ये यथारसमौचित्यं, कथामात्रतात्पर्ये तु वृत्तिष्वपि कामचारः । सर्गबन्धस्तु संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धः सुश्लिष्टसंधिभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वासादिनिर्मितोऽसंक्षिप्तग्रन्थत्वाविषमबन्धत्वान[ति]विस्तीर्णान्योन्यसंबद्धसर्गादित्वाशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशोपक्रमत्वसुजनदुर्जनचिन्तावदादिवाक्यत्वदुष्करचित्रयमकादिसर्गत्वस्वाभिप्रायस्व नामेष्टनाममङ्गलाङ्कितसमाप्तित्वादिशब्दवैचित्र्ययुतो धर्मार्थकाममोक्षोपायत्वोदात्तनायकत्वरसभावनिरन्तरत्वविधिनिषेधव्युत्पादकत्वसुसूत्रसंविधानकत्वनगराश्रमशैलसैन्यावासार्णवर्तुरात्रिंदिवार्कास्तेन्दूदयनायकनायिकाकुमारवाहनमन्त्रदूतप्रयाणसंग्रामाभ्युदयवनविहारजलक्रीडामधुपानमानापगमरतोत्सवादिवर्णनलक्षणार्थवैचित्र्योपेतो रसानुरूपसंदर्भार्थानुरूपच्छन्दस्त्वसर्वजनरञ्जकत्वसदलंकारवाक्यत्वा-

नात्यन्तमुद्धताः । नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः ।

द्युभयवैचित्र्ययुतो महाकाव्यम् ॥ 'सुश्लिष्टसंधि' इत्यनेन सर्गादीनामन्योन्यमेकवाक्यतया महावाक्यात्मकस्य प्रबन्धस्योपकारकत्वमुक्तम् । दूतो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्च । 'अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्' इत्यनेन शृङ्गारे द्रुतविलम्बितादि, वीरे वसन्ततिलकादि, करुणे वैतालीयादि, रौद्रे स्रग्धरादि, सर्वत्र शार्दूलविक्रीडितादि निबन्धनीयमित्युक्तम् । यथा संस्कृतेन सर्गबन्धे हयग्रीववधादि, , प्राकृतेनाश्वासबन्धे सेतुबन्धादि ॥

एवमाख्यायिकादौ श्रव्येऽनभिनेये काव्ये औचित्यमुक्त्वा प्रेक्ष्यं यत् काव्यं पाठ्यं वाक्यार्थाभिनयस्वभावं नाटकादि तद्विषयमाह—नाटकादाविति । न केवलं करुणविप्रलम्भयो रौद्रेऽपि असमासा—मध्यमसमासे एव संघटने । दीर्घसमासादयो हि ध्वन्यात्मभूतरसस्य व्यवधायका विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये । सर्वत्र च प्रसादाख्यो गुणो व्यापी । स हि सर्वरससाधारण इत्युक्तम् । आदिशब्दात् प्रकरण—नाटिका—समवकार—ईहामृग—व्यायोग—डिम—उत्सृष्टिका-अङ्क—प्रहसन-भाण-वीथ्यः, काहलाद्युक्तस्तोटकः सट्टकश्च । यन्मुनिः—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव ।
राजर्षिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ।
नानाविभूतिभिर्युतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चापि ।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥

प्रख्यातं वस्तु चेष्टितं, विषयो मालवपञ्चालादिर्यत्र । उदात्त इति वीररसयोग्यः, तेन धीरललित—धीरशान्त—धीरोद्धत—धीरोदात्ताश्चत्वारोऽपि गृह्यन्ते । राजान ऋषय इव । तद्वंशे साधुचरितं यत्र । ततो नृपा एव नाटकेषु युज्यन्ते । नायिका तु दिव्याप्यविरोधिनी यथा उर्वशी, नायकवृत्तान्तेनैव तद्वृत्तान्ताक्षेपात् । दिव्यानामाश्रयत्वेनोपायत्वेन प्रकरीपताकानायकादिरूपेणोपेतमुपगमोऽङ्गीकरणं यत्र । भक्तिभावितानां हि देवताः प्रसीदन्ति—इति देवताराधनपुरःसरमुपायानुष्ठानं कार्यम् । यथा नागानन्दे विभूतिभिर्धर्मार्थकामनमोक्षविभवैः फलभूतैस्तत्राप्यर्थकामौ सर्वजनाभिलषणीयत्वात् । ऋद्धिरर्थस्य राज्यादेः संपत्तिः । विलासेन कामो लक्ष्यते । तैर्युतम् । तेन राज्ञा राज्यं द्विजेभ्यो दत्त्वा वानप्रस्थं गृहीतमिति फलं नोपनिबद्धव्यम् । 'गुणैः' इति प्रतिनायकापनयनप्रधानैः । वस्तुसमाप्तौ विच्छेदा अङ्काः, तैः पञ्चाद्यैर्दशान्तैः, ये च

निमित्तबलाद् अप्रत्यक्षदृष्टानां चेष्टितानामावेदकाः प्रवेशकाः, तैश्चाद्यं नाटकं नाम ॥ रूप्यतेऽभिनीयत इति रूपकम् ॥१॥

यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव ।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ॥

इतिहासादिप्रसिद्धिं निरस्य वस्तुसाध्यं फलं शरीरं तदुपायं नायकं साधयितारं, उत्पत्तौ भवं निर्मितम् । चकारः समुच्चये, द्वितीयस्तु असमग्रसमुच्चये । एवकारः समुच्चयाभावे । तेन त्रितयमपि कविकृतं द्वयमेकं च, अन्यत्तु पूर्वोपनिबद्धम् ॥ यत्र सर्वमुत्पाद्यं तत्रानुत्पाद्यांशः कुतो ग्राह्य इति दर्शयति—

यदनार्षमनाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम् ।
उत्पन्नबीजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम् ॥

पुराणादिव्यतिरिक्त–बृहत्कथाद्युपनिबद्धं मूलदेवचरितादि । आहार्यं पूर्वकविकाव्याद् वरणीयं समुद्रदत्त–तच्चेष्टितादि । उत्पन्ने पूर्वसिद्धे बीजं वस्तु च यत्र । एवं पूर्वकविसमुत्प्रेक्षित–समुद्रदत्तचेष्टितादिवर्णनेऽप्यधिकावापं विदधत् कविः प्रकरणं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥

यन्नाटके मयोक्तं वस्तुशरीरं च वृत्तिभेदाश्च ।
तत् प्रकरणेऽपि योज्यं सलक्षणं सर्वसंधिषु तु ॥

नानाविभूतिभिर्युतमित्यादिना यत् फलवत्त्वमुक्तं तद् वस्तुशरीरमित्यङ्कप्रवेशकाढ्यम् । लक्षणमङ्कपरिमाणं, अङ्कान्तरसंधानहेतुषु च प्रवेशेषु यत् प्रयोज्यमुक्तं ‘दिवसावसानकार्यं यद्यङ्केनोपपद्यते’ इत्यादि तत् सर्वं प्रकरणेऽपि योज्यम् ॥ अतिव्याप्तिनिषेधमाह—

विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
चरितं यद् नैकविधं तद् ज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥
नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसंभोगः ।
बाह्यजनसंप्रयुक्तं तद् ज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥

‘नैकविधम्’ इत्येकरसयुक्तम् ॥ राजोचितसंभोगो विप्रादिषु न कार्यः । राजनि य उचितोऽन्तःपुरजनकञ्चुकिप्रभृतिः, तद्व्यतिरिक्तो बाह्यजनोऽत्र चेटदासादिः प्रवेशकादौ कार्यः । तदेवाह—

दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम् ।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु ॥

कञ्चुकिविदूषकामात्यानां स्थाने दासादयः । वेश्यावाटो वेशस्तत्र या स्त्री तस्या उपचारो वैशिकप्रसिद्धः सकारणं यस्य शृङ्गारस्य तेनोपेतम् । कुलस्त्रीविषयं चेष्टितं मन्दं यत्रेति ॥२॥

प्रकरणनाटकभेदाद् उत्पाद्यं वस्तु नायकं नृपतिम् ।
अन्तःपुरसंगीतक–कन्यामधिकृत्य कर्तव्या ।
स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी ।
बहुनृत्तगीतवाद्या रतिसंभोगात्मिका चैव ।
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधदम्भसंयुक्ता ।
नायकदेवीदूतीसपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥

उत्पाद्यं वस्तु चरितं नृपमन्तःपुरकन्यां संगीतकशालाकन्यां वाधिकृत्य प्राप्यत्वेनाभिसंन्धाय। उत्पाद्यं वस्त्विति प्रकरणधर्मो, नायकं नृपमिति नाटकधर्मः। तथावस्थासंध्यङ्गार्थप्रकृतिपताकाप्रकरीपताकास्थानाङ्कविष्कम्भकप्रवेशकादीन्युभयसाधारणानि योज्यानि सुष्ठु पूर्णतया विहितानि चत्वार्यपि कैशिकाङ्गानि यत्र। 'स्त्रीप्राया'इति 'ललित०'इति ' बहुनृत्त०'इति च कैशिकीवृत्तिबाहुल्यं दर्शितम् । राजगतैरुपचारैर्व्यवहारैर्युक्ता । 'प्रसादे'ति । अन्यामुद्दिश्य व्यवहारे पूर्वनायिकागतैः क्रोधप्रसादवञ्चनैरवश्यं भाव्यम् । नायकस्य देवी आद्यनायिका, तथाभिलषितनायिकान्तरविषया दूती तत्कृतं सपरिजनं परिजनसमृद्धिर्यस्याम् ॥३॥

समवकारस्तु—

देवासुरबीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात् त्रिशृङ्गारः ।
द्वादशनायकबहुलो ह्यष्टादशनाडिकाप्रमाणश्च ॥

देवासुरस्य यद् बीजं फलसंपादनाद्योपायस्तेन विरचितः । यद्यपि देवाः पुरुषापेक्षयोद्धतास्तथापि स्वापेक्षया गाम्भीर्याद् उदात्तास्त्रिपुररिपुप्रभृतय उच्यन्ते । कपटो वञ्चना मिथ्याकल्पितः सत्यानुकारी प्रपञ्चः । स त्रिधा–यत्रानपराद्ध एव वञ्चकेन वञ्च्यते स एकः, यत्र तु वञ्चनीयोऽपि सापराधः स द्वितीयः, यत्र तु द्वयोरपि नाभिसंधिदोषोऽकस्माच्च तुल्यफलाभिसंधिमतोरप्येक उपचयेनान्यस्त्वपचयेन युज्यते स दैवकृतस्तृतीयः। चेतनाचेतनोभयकृतानर्थात्मनो वस्तुनो यतो विद्रवन्ति जनाः स विद्रवः । चेतनाचेतने गजजलादी । उभयं नगरोपरोधादि । शृङ्गारस्त्रिधा, धर्मार्थकामभेदात् । धर्मो यत्र

हेतुः साध्यो वा नायिकालाभे स धर्मशृङ्गारः । एवमर्थकामयोः । द्वादश नायका अष्टादशनाडिकं च कार्यं निबन्धनीयम् ॥४॥

दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः ।
सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारणश्चैव ।
उद्धतपुरुषप्रायः स्त्रीरोषग्रथितकाव्यबन्धश्च ॥
यद् व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।
ईहामृगेऽपि तत् स्यात् केवलमत्र स्त्रिया योगः ॥

संस्फेटो विरोधिनां विद्याविक्रमसंघर्षजो व्यासङ्गः । ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र । स्त्रीनिमित्तो ह्यत्र रोषः । कार्यशब्देनात्र अङ्क उच्यते, तेनैक एवाङ्कः ॥५॥

व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायकशरीरः ।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ॥
बहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे ।
न तु तत्प्रमाणयुक्तः कार्यस्त्वेकाङ्क एवायम् ॥
न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः ।
युद्धनियुद्धाधर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्यः ॥
एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनिः ॥

नायको दीप्तरसोऽमात्यसेनापत्यादिः । शरीरमितिवृत्तम् । 'अल्पस्त्री'इति चेटयादिना, न तु नायिकादूत्यादिभिः; कैशिकीहीनत्वात् । एकदिवसनिर्वर्त्यं यत् कार्यं तत्र कृतः, अत एवैकाङ्कः। 'समवकार' इति द्वादशेत्यर्थः। न च'इति, देवा नृपा ऋषयश्च नायका न स्युः। नियुद्धं बाहुयुद्धम् । संघर्षः शौर्यविद्याधनकुलरूपादिकृता स्पर्धा दीप्तं काव्यमोजोगुणयुतम् । दीप्ता रसा वीररौद्रादयः। तदुभयं कारणं यस्य ॥६॥

प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ।
शृङ्गारहास्यवर्जं शेषैरन्यै रसैः समायुक्तः ।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसंपन्नः ।
निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्धनियुद्धाधर्षणसंस्फेटकृतश्च विज्ञेयः ।

मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुस्तोत्थानयुक्तश्च ।
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।
षोडशनायकबहुलः सात्वत्यारभटिवृत्तिसंपन्नः ।
कार्यो डिमः प्रयत्नान्नानाश्रयभावसंपन्नः ॥

आधर्षणं हठेन पराभवः । पुस्तं लेप्यचर्म । वस्त्रादिकृतानि रूपाणि ॥७॥

प्रख्यातवस्तुविषयश्च प्रख्यातः कदाचिदेव स्यात् ।
दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः शेषैरन्यैर्भवेत् पुंभिः ॥
करुणरसप्रायकृतो निवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च ।
स्त्रीपरिदेवितबहुलो निर्वेदितभाषितश्चैव ॥
नानाव्याकुलचेष्टः सात्वत्यारभटिकैशिकीहीनः ।
कार्यः काव्यविधिज्ञैः सततं ह्युत्सृष्टिकाङ्कस्तु ॥

निवृत्तयुद्धा उद्धतप्रहाराः पुरुषा यत्र । व्याकुलाश्चेष्टा भूनिपातविवर्तिताद्याः । 'सात्त्वती' इति समाहारद्वन्द्वगर्भद्वन्द्वान्तरे तृतीयासमासः । उत्क्रमेणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्य[ः] स्त्रियः, ताभिरङ्को यस्य स तथा ॥८॥

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि हासवादसंबद्धम् ।
कापुरुषसंप्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम् ।
अविकृतभाषाचारं विशेषभावोपपन्नचरितमिदम् ।
नियतिगतिवस्तुविषयं शुद्धं ज्ञेयं प्रहसनं तु ।
वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं च संकीर्णम् ॥

यतिवानप्रस्थगृहस्थैरन्यैश्च शाक्यादिभिः शीलादिना कुत्सितैः पुरुषैरर्थाद् भगवदादिभिः प्रहस्यमानैर्युतं नियतगति एकरूपं यद् वस्तु तद्विषयः प्रहसनीयलक्षणोऽर्थो यत्र तच्छुद्धम् । अत्र निर्वचनं परिहासप्रधानान्याभाषणानि प्रायस्तेनैकस्यैव कस्यचिच्चरितं दुष्टत्वाद् यत्र प्राधान्येन प्रहस्यते तच्छुद्धम् । यत्र तु वेश्यादियोगोऽत्युल्बणं चाकल्पादि तदेकद्वारेणानेकवेश्यादिचरितेन हसनीयेन संकीर्णत्वात् संकीर्णम् ॥९॥

'आत्मानुभूतशंसी परसंश्रयवर्णनाप्रयुक्तश्च ।
विविधाश्रयो हि भाणो विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ।

परवचनमात्मसंस्थैः परिवचनैरुत्तरोत्तरप्रथितैः ।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयेच्च ।
धूर्तविटसंप्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥

एकेन पात्रेणाहार्यः सामाजिकहृदयं प्रापयितव्योऽर्थो यत्र । परसंबन्धिवचनं स्वयमङ्गविकारैरभिनयेत् ॥१०॥

सर्वरसलक्षणाढ्या युक्ता ह्यङ्गैस्त्रयोदशभिः ।
वीथी स्यादेकाङ्का तथैकहार्या द्विहार्या वा ॥

'एकहार्या' इति आकाशपुरुषभाषितैरित्यर्थः । 'द्विहार्या' इति उक्तिप्रत्युक्तिवैचित्र्येण । तथा—शब्दाद् वक्रोक्तिसंकुला ॥११॥

विष्कम्भकप्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति ।
अप्राकृतसंस्कृतया स सट्टको नाटिकाप्रतिमः ॥

सट्टके च नाटिकायामिव रतिफलं वृत्तम् ॥१२॥

नाटकादौ च—

'अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥'

तत्र—वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥

सोऽपि मध्यपात्राभ्यां तु संकीर्णः यथा कादम्बरी[? कामन्दकी]-अवलोकिते ॥

'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूतादिभिरनेकधा ।
अर्थोपक्षेपणं यत्र क्रियते सा तु चूलिका ॥

यथा नेपथ्ये—

आचार्यस्य त्रिभुवनगुरोर्न्यस्तशस्त्रस्य शोको
द्रोणस्याजौ नयनसलिलाच्छादिताक्षाननस्य ।
मौलौ पाणिं पलितधवले न्यस्य कृत्वा नृशंसं
धृष्टद्युम्नः स्वशिबिरमयं याति सर्वे सहध्वे ॥

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनम् ॥

यथा—'एषास्मि सौदामिनी भगवतः श्रीपर्वतादुपेत्य' इत्यादि ।

बीजार्थयुक्तिमानङ्कोऽङ्केषु प्रयुक्तोऽङ्कावतारो गर्भाङ्कश्च ॥

यथा बालरामायणे—

श्रवणैः श्रव्यमनेकैः दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥

‘ भूतभविष्यच्छेषार्थसूचकोऽङ्कद्वयान्तर्गतोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितोऽङ्कादौ शूरसेन्यादिभाषया प्रवेशकः ॥ ’

यथा–ततः प्रविशतश्चेट्यौ । एका—सहि संगीदयसालापरिसरे अवलोइदा ।
द्वितीया—सहि तेण किल माधवपियवयंसेण मयरन्देण सयलो मदणुज्जाणवुत्तन्तो
भयवदीए निवेदिदो ॥

शोकप्रसादयुद्धादीनि प्रवेशकैः संबन्धे[? संधे]यानि, न प्रत्यक्षाणि ॥

तथा—रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥

भारत्यङ्गानि च प्ररोचना–प्रस्तावनादीनि । तत्र प्रशंसात उन्मुखीकरणं प्ररोचना । **यथा—‘श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी’ इति ॥ सूत्रधारो नटीं विदूषकं मार्षं वा ब्रूते स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत् तद्** आमुखं प्रस्तावना **च । यथा–‘द्वीपादन्यस्मादपि’ इति ॥ सूत्रधारे च पूर्वरङ्गं कृत्वा गते प्रविश्य काव्यार्थस्थापनाद् नटः स्थापकः । यत्र चार्थस्य समाप्तिर्बीजस्य च संहारः साऽवलग्नबिन्दुरेकाहप्रयोज्यः** अङ्कः । **नाटकमहाकाव्यादेर्यथासंभवं शरीरारम्भवीथ्यर्थप्रकृति–अवस्था–संस्था–समवस्था–संधि–वृत्तयः प्रत्येकं पञ्चसंख्याः, प्रवृत्तयश्च चतुर्विंशतिरिति एका चतुःषष्टिर्लक्षणानाम् । तत्रेतिहासाश्रयं कथाश्रयमुत्पाद्येतिवृत्तमनुत्पाद्येतिवृत्तमप्रतिप्रसंस्कार्येतिवृत्तमिति** शरीराणि **। प्रमाणं प्रमेयं विमर्शो निर्णयः प्रवृत्तिरित्येषां** पञ्चारम्भवीथ्यः **। एतासु च कथाशरीरोपादानकारणभूता बीजं बिन्दुः पताका प्रकरी कार्यमिति** पञ्चार्थप्रकृतयः **। तत्र बीजमिव** बीजं; **यथा बीजमुप्तमङ्कुरमूलादिना विसर्पद् अन्ते फलाय कल्पते, तथा यो महावाक्यार्थो नायकादिव्यापारभेदाद् बहुधा विसर्पन्नन्ते फलाय स्यात स** बीजम् **। यथा–**

प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां
यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम् ।
भक्तस्य तत्र समरं तमवापि वाच–
स्ताः सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम् ॥

कथाशरीरव्यापिषु गुरुज्ञानिपुरोहितामात्यादिषु नायकसहायेषु वर्तमान आरम्भो बिन्दुरिव बिन्दुः; यथा घृतबिन्दुश्च्योतन् श्च्योतन् अग्निज्वलनक्रियाया अविच्छेदहेतुस्तथा छिन्नविच्छिन्नेषु कथाशरीरेषु अनुसंधाता विष्कम्भकप्रवेशकादिबिन्दुः । यथा--

हा वत्सा खरदूषणप्रभृतयो वध्याः स्थ पापस्य मे
हा हा वत्स विभीषण त्वमपि मे कार्येण हेयः स्थितः ।
हा मद्वत्सल वत्स रावण महत्पश्यामि ते संकटं
वत्से कैकशि हा हतासि न चिरं त्रीन् पुत्रकान् द्रक्ष्यसि ॥

कथाङ्गव्यापिनि सहाये वर्तमानश्चारम्भो नायकस्योपकारकः स्वेन च फलेन फलवान् स पताका; यथा पताका अन्यस्य चिह्नरूपेण शोभायै भवन्ती स्वस्यापि शोभायै स्याद्, एवमुपनायकादेश्चरितं प्रधानस्यात्मनश्च शोभार्थं भवत् पताका । यथा—

मूर्ध्ना जाम्बवतोऽभिवाद्य चरणावापृच्छ्य सेनापती-
नाश्वास्याश्रुमुखान् मुहुः प्रियसखान् प्रेष्यान् समादिश्य च ।
आरम्भं जगृहे महेन्द्रशिखरादम्भोनिधेर्लङ्घने
रंहस्वी रघुनाथपादरजसामुच्चैः स्मरन् मारुतिः ॥

लघुः पुष्पादिप्रकरः प्रकरी; सा यथा परार्था शयनादेः शोभायै स्याद्, एवं प्रबन्धस्यापि ऋतुवर्णनादिव्यापारः प्रकरी । यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतम्' इति ॥

कथाव्यापिन्यां नायकसहायस्यामात्यादे[ः] क्रियायामुपलभ्यमानः प्रधानसंबन्धी प्रारम्भफलविशेषो धर्मार्थकामानामन्यः पुरुषार्थ[ः] कार्यम् । यथा—
'यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले । सारं सागरिका' इति ॥

कार्यार्थं च प्रवर्तमाना नायकादयो यं यं क्रियाप्रबन्धस्कन्धमध्यासते तस्य तस्य दैवपौरुषोभयप्राधान्ये क्रमाद् अवस्थाः संस्थाः समवस्थाः इति त्रयो व्यपदेशाः । तत्रारब्धस्य कार्यस्य आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमा इति पञ्चावस्थाः । एवमितरेऽपि । एतदुपाधिकथांशानां मुख–प्रतिमुख–गर्भ–विमर्शन–निर्वहणाख्या बीजबिन्द्वाद्यर्थप्रकृतिसंधानात् पञ्च संधयः । तत्राधिकारिणो नायकादेर्बीजस्य यत्र निर्देशः तद् मुखम् ।

बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित् ।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ॥

कार्यबीजस्योद्भेदलाभनाशान्वेषणादयो यत्र स गर्भः ॥

गर्भनिर्भिन्नबीजोऽर्थः क्रोधव्यसनजोऽपि वा ।
विप्रलम्भकृतो वापि (स) विमर्श इति संज्ञितः ॥

क्रियाफलेन सम्यग्योगो निर्वहणम् । अत्र चाद्भुतो रसः कार्यः ।

डिमादिषु तु न सर्वे संधयः । एषां चोपक्षेपादीन्यङ्गानि चतुःषष्टिरन्यतो ज्ञेयानि । मुखादिषु च व्याप्रियमाणानां नायकानां मनोवाक्कायकर्मनिबन्धना- श्चेष्टाविशेषा भारत्यारभटी कैशिकी सात्वती विमिश्रा चेति पञ्च वृत्तयः, तासु नराश्रया वाक्चेष्टा स्त्रीवर्जिता संस्कृतप्राया भरतानामियं भारती । पुस्ताव- पातप्लुतलङ्घितच्छेद्यमायेन्द्रजालक्रोधयुद्धादि यत्र सा आरभटी । श्लक्ष्णनेपथ्या स्त्रीगीतवृत्तयुता कामप्रभवा कैशिकी । त्यागशौर्याद्यन्विता निःशोकभावा हर्षोत्कटा सात्वती । एताश्च क्रमाद् धर्मार्थकाममोक्षप्रधानाः । उक्तं च—

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे सबीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥

आरभट्यादिगुणयुता तु मिश्रा । वेषविन्यासक्रमस्तु प्रवृत्तिः । गेयं तु प्रेक्ष्यं काव्यं पदार्थाभिनयस्वभावं श्रीगदितादि । यदुक्तम्—

यस्मिन् कुलाङ्गना पत्युः सख्यग्रे वर्णयेद् गुणान् ।
उपालम्भं च कुरुते गेये श्रीगदितं तु तत् ॥
छन्नानुरागगर्भाभिरुक्तिभिर्यत्र भूपतेः ।
आवर्ज्यते मनः सा तु मसृणा डोम्बिका मता ॥
हास्यप्रायं प्रेरणं तु स्यात् प्रहेलिकयान्वितम् ॥
ऋतुवर्णनसंयुक्तं रामाक्रीडं तु भाष्यते ॥
मण्डलेन तु यद् नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत् ।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
आ चतुःषष्टियुगलाद् रासकं मसृणोद्धते ॥
गोष्ठे यत्र विहरतश्चेष्टितमिह कैटभद्विषः किंचित् ।
रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति ॥

एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्तव्यम् ।

काव्यप्रकाशे गुणालंकारभेदनियतगुणनिर्णयो नामाष्टमोल्लासः ॥ ८ ॥

यस्य पदार्थाभिनयं ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते ।
तद् नर्तनकं शम्या-लास्य-च्छलित-द्विपद्यादि ॥

त्रिविधश्च गेयकाव्यप्रयोगो मसृण उद्धतो मिश्रश्च ॥

इति श्रीभट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते अष्टम उल्लासः ॥

अथ नवम उल्लासः ।

गुणविवेचने कृतेऽलंकाराः प्राप्तावसरा इति संप्रति शब्दालंकारानाह—

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥७८॥

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । तत्र पदभङ्गे श्लेषेण यथा—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि, कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति, हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरंदरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥३५२॥

अभङ्गे श्लेषेण यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥३५३॥

काक्वा यथा—

'उपकुर्वन्ति तम्' इत्यादिना रसस्याङ्गिनो यद् अङ्गं शब्दार्थौ तदाश्रिता अलंकारा रसमुपकुर्वन्तीति सामान्यं लक्षणमुक्तम्, अथ विशेषमाह—शब्दालंकारानिति । अर्थापेक्षया शब्दस्य प्रतीतेरन्तरङ्गत्वात् प्रथमं शब्दालंकारनिर्देशः । तत्र—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषोऽथ चित्रं च ।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकरणानि षट् ॥

अन्यथेति । अन्यार्थघटनया ॥ तथेति । यथा श्लेषेण काक्वा वाक्यस्य योगः, तथा वक्रोक्तिरपि ताभ्यां युक्ता द्विधा ॥

'नारीणां स्त्रीणां, 'न अरीणाम्' इत्यन्यथा प्रयुक्तम् । 'जानासि' इत्येकस्योक्तिः । 'कश्चेतनः' इत्यन्यस्य । 'वामानाम्' प्रतिकूलानां स्त्रीणां च । 'हितकृद्' इत्यादि पुनराद्यस्योक्तिः । हितं करोति कृन्तति च । 'अबलानाम्' स्त्रीणां दुर्बलानां च । 'बलाभावेन प्रसिद्धात्मनो' दुर्बलस्य दैत्यस्य विनाशेन प्रसिद्धात्मन इन्द्रस्य । तुर्यपाद आद्यस्योक्तिः । 'पुरंदरस्य मतमभिमतं तस्यच्छेदम् ॥'

'दारुणा' क्रूरा । 'त्रयो गुणाः' सत्त्वरजस्तमोलक्षणा यस्याः । अत्राद्येऽर्धे 'दारुणा' इति प्रथमान्तं प्रक्रान्तं, श्लेषभङ्ग्या तृतीयान्ततयोत्पादितभङ्गेन ॥

गुरुजनपरतन्त्रतयाँ दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ ॥३५४॥

वर्णसाम्यमनुप्रासः

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

छेका विदग्धाः, वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः, गत इति च्छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च ।

किं तयोः स्वरूपमित्याह

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः

अनेकस्यार्थाद् व्यञ्जनस्य, सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः । उदाहरणम्—

'नैष्यति' इति काक्वा एष्यत्येव । एतद् वाक्यं नायिकया आगमननिषेधपरत्वेनोक्तम् । तत्सख्या तु काकुप्रयोगेण विधिपर्यन्ततां प्रापितम् । काकुवशाद्धि विधिनिषेधयोर्विपरीतार्थसंक्रान्तिः ॥ यायावरीयस्तु 'अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः स कथमलंकारी स्याद्' इति न काकुवक्रोक्तिमाह ॥ वक्रोक्ति-शब्द-श्चालंकारसामान्यवचनोऽपीहालंकारविशेषे संज्ञितः ॥७६॥

प्रकृष्ट इति अदूरान्तरितः ॥ वृत्तिरिति रसानुगुण औचित्यवान् शब्दाश्रयो व्यापारः ॥ अनेकस्यार्थादिति । यद्येकस्यैव रेफादेर्वर्णस्यैकवारमेकेन रेफादिना सादृश्यमुपनिबध्यते ततः किं वैचित्र्यं स्यादिति भावः ॥

'ततोऽरुणे'ति । अत्र रु-रि-न्द-न्दीत्यादेरनेकस्य सकृत् साम्यम् ॥ पर इति । वृत्त्यनुप्रासः । यथा ममैव—

दूरागाधभवान्धकूपकुहरक्रामत्तमःकर्दम-
क्रोडान्तः परिलीनदीनवपुषः पाठीनपोतानिव ।
जन्तून् यस्त्वरितं निजोद्धुरकरैरुद्धृत्य लोकंपृणैः
प्रीणन्निर्मलशर्मवारिभिरभिप्रेयाय भूयात् स वः ॥

--अत्रैकस्यानेकस्य च द्विरावृत्तिः ॥ अनेकस्यासकृद्, यथा-'सर्वाशारुधिदग्धवीरुधि सदा सारंगबद्धक्रुधि' इत्यादेरनेकस्य बहुकृत्वः । वृत्त्यनुप्रास इति । वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा अस्यामिति वृत्तिः उपनागरिका परुषा कोमलेति मसृणदीप्तमध्यमवर्णनीयोपयोगित्वात् । तद्विषयोऽनुप्रास उपनागरिकाद्यनुप्रासः॥

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥३५५॥

एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥

एकस्य, अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः । तत्र—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते ।
ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् ।

कोमला परैः ॥ ८० ॥

परैः शेषैः । तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति । उदाहरणम्—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३५६॥

केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडीया-पाञ्चाल्याख्या रीतय उच्यन्ते ।

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥ ८१ ॥

तत्रेति । वृत्त्यनुप्रासे ॥ वर्णैरिति शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्तैः कादिभिर्मान्तैरटवर्गैः ॥ उपनागरिकेति । नागरिकाया विदग्धाया उपमिता । सा च शृङ्गारादौ ॥ परुषेति । यदुक्तम्—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह–ह्व–ह्याद्यैश्च योजिता ॥

सा च रौद्रादौ । कोमला तु हास्यादौ । वृत्तयश्च रसादितात्पर्येण निवेशिताः कामपि च्छायामावहन्ति । रसादयो हि शब्दार्थशरीरस्य काव्यस्य जीवितम् । यच्च 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इत्युक्तं मुनिना, तत्र रसोचितश्चेष्टाविशेष एव वृत्तिः, यदाह–'कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गार[र]सभवा' इत्यादि ॥

'प्राग्' इति 'ततोऽरुणे'त्यादौ ॥ 'तामेवे'ति । वैदग्ध्यविहीनस्वभावसुकुमाराऽपरुषग्राम्यवनितासादृश्यात् ॥ एवमनेकस्य सकृदावृत्तौ छेकानुप्रासः, एकस्यानेकस्य चासकृदावृत्तौ वृत्त्यनुप्रासः ॥७८॥

शाब्दस्त्विति । शब्दाः पुनः सदृशा लाटानुप्रासः । तात्पर्यमन्यपरत्वं,

शब्दगतोऽनुप्रासः, शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् । लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः । एष पदानुप्रास इत्यन्ये ।

पदानां सः

स इति लाटानुप्रासः । उदाहरणम्—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥३५७॥

पदस्यापि

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते । उदाहरणम्—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥३५८॥

वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।

नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च

एकस्मिन्समासे भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य, न तु पदस्य सारूप्यम् । उदाहरणम्—

तस्मादेव भेदो, न शब्दार्थाभ्यामन्वयमात्रेण भिन्ना इत्यर्थः ॥ अन्य इति वामनादयः । स च पञ्चधा । तत्राद्यो भेदः पदानामिति ॥ 'यस्य न' इति । अत्र यत् पूर्वार्धे दवदहनत्वं विधेयं तुहिनदीधि[ति]त्वं चानुवाद्यं, तद् द्वयमप्युत्तरार्धे विपरीतं ज्ञेयम् । यस्य निकटे प्रिया अस्ति तस्य वनवह्निरपि शीतल इत्यर्थः । अत्र बहूनां पदानां शब्दार्थयोरभेदे सकृत्साम्यम् ॥ सुधाकर' इति पदस्य सकृदावृत्तिः । अत्रैकः सुधाकरशब्दो वदनौपम्येन उपात्तः । द्वितीयस्तु भवनक्रियां प्रति कर्तृत्वेनेति तात्पर्यभेदः । 'अत्राक्षपत्रनयने नयने निमील्ये' इत्यादौ तु विभक्तावर्थभेदेऽपि बहुतरशब्दार्थयोरभेदेऽन्वयमात्रभेदाल्लाटानुप्रास एव, न यमकम् । 'काशाः काशा इवाभान्ति' इत्यादौ तु अनन्वयेन लाटानुप्रासस्य संकरः । लाटानुप्रासे च शब्दैक्यं साक्षादेव प्रयोजकं शब्दालंकारत्वात् । अनन्वये चार्थमात्रगतत्वेन व्यवस्थितेः शब्दैक्यमौचित्याद् आनुषङ्गिकम् ॥ नाम्नः सारूप्ये त्रिविधमाह— वृत्ताविति । तत्र वृत्तौ तस्मिन्नेव समासेऽन्यत्र वा वृत्तौ भिन्ने समासे ॥ वृत्त्यवृत्त्योरिति । एकं नाम कृतसमासं, अन्यच्च अकृतसमासं, तयोः साम्यम् ॥ स इति लाटानुप्रासः ॥ एतदेवाह—एकस्मिन्निति ॥ प्रातिपदिकस्येति । 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इति संज्ञितस्य ॥ क्रमाद् यथा

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधव कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३५९॥

तदेवं पञ्चधा मतः ॥ ८२ ॥

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकं—

समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येपामनर्थकत्वे भिन्ना-

—'सितकरे'ति । कश्चिद् राजानमाह '**हे क्षितिप, ते भास्करसदृशचन्द्ररश्मिमनोज्ञप्रभा शुभ्रा कीर्तिः, तथा पौरुषश्रीः, सा चोत्कृष्टा लक्ष्मीस्तवैव, अन्यस्य नास्ति ।' अत्र 'सितकरकर' इत्येकस्मिन् समासे, तथा 'रुचिरविभा विभाकराकारा' इति भिन्ने समासे, तथा 'पौरुषकमला' इति पूर्वेण समासे, 'कमला सापि' इत्यसमासे नाम्नः साम्यम् । यथा वा—'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासः' इति । अत्र प्रथमो जगच्छब्दः शासनक्रियाकर्मभावाभिधानपरः, अन्यश्च निवाससंबन्धाभिधानपर इति तात्पर्यभेदे परेण समासे ॥ नाम्न इति जातावेकवचनम् । तेनैकस्यानेकस्य नाम्नः सकृदसकृच्चावृत्तिः ॥ तत्रैकस्य सकृदावृत्तौ दर्शितम् । एकस्यासकृद्, यथा—**

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥

अनेकस्य सकृद्, यथा—

जयति क्षुण्णतिमिरस्तिमिरान्धैकवल्लभः ।
वल्लभीकृतपूर्वाशः पूर्वाशातिलको रविः ॥

तिमिरान्धा घूकवर्जाः पक्षिणः ॥

अनेकस्यासकृद्, यथा—

'वप्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसंकाशकाशाः
काशाभा भान्ति तासां न च पुलिनगताः स्रोनदीहंसहंसाः ।
हंसाभाम्भोदे'ति ॥८०॥

यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रतिकृति यमकम् ॥ 'समरे'ति । अत्र प्रथमः **समरशब्दः सार्थको, द्वितीयस्तु अनर्थकः ॥ 'मधुपराजिपराजितमानिनी' इत्यादौ तु उभयेषामनर्थकत्वम् । न च तदर्थस्यैव शब्दस्य शक्यमुच्चारणं पुनरुक्तदोषादिति सामर्थ्यलब्धेऽप्यर्थभेदेऽर्थभिन्नग्रहणाद् 'अहोमध्यमहोमध्यम्' इत्यादौ । तथा**

र्थानामिति न युज्यते वक्तुमित्यर्थे सतीत्युक्तम् । सेति सरो रस इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता ।

'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' इत्यादौ च पौनरुक्त्यदोषाभावेऽपि न यमकत्वम् ॥ सेति, तुल्यक्रमेत्यर्थः । तेन 'सरो रस' इत्यादेः प्रतिलोमानुलोमादीनां च यमकत्वनिवृत्तिः । श्रुतिग्रहणं 'तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ' इत्यादीनामसाधुत्वार्थम् । अत्र हि विसर्गस्य उत्वादौ कृते सत्यपि क्रमे तुल्यश्रुतित्वं नास्ति । तथा लोकप्रतीतितुल्यत्वपरिग्रहार्थं च । तेन दन्त्यौष्ठ्यौष्ठ्यवकार-बकारादिवर्णभेदे लघुप्रयत्नलघुप्रयत्नतरकृते च भेदे संयोगस्थयोः सजातीययोर्व्यञ्जनयोर्वास्तवे विशेषे यमकबन्धो न विरुध्यते । यथा—

तस्यारिजातं नृपतेरपश्यदवलम्बनम् ।
ययौ निर्झरसंभोगैरपश्यद्बलं वनम् ॥

'अवलम्बनं' पार्ष्णिग्राहासारादि-प्रपातपानीयास्वादैः । पानीयानि तनूकुर्वन् । 'अबलं' सैन्यरहितम् । 'वनं' काननम् । अत्रैकत्र व-बौ दन्त्यौष्ठ्यौ, अपरत्र तु ओष्ठदन्त्यौष्ठ्यौ । 'अपश्यद्' इत्येकत्र एकः शकारः, अपरत्र द्वौ । एवमन्यदपि ॥ केचिच्च 'नकार-णकारयोरस्वरमकारनकारयोर्विसर्जनीयस्य भावाभावयोरपि न विरोधः' इत्याहुः । यथा—

वेगं हे तुरगाणां जयन्नसावेति भङ्गहेतुरगानाम् ॥
नयाशु च रथं धीरसमीरसमरंहसम् ।
द्विषतां जहि निःशेषं पृतनाः समरं हसन् ॥
द्विषतां मूलमुच्छेत्तुं राजवंशादजायथाः ।
द्विषद्भ्यस्त्रस्यसि कथं वृकयूथादजा यथा ॥

वर्णानामिति । बहुवचनमतन्त्रम् । तेन वर्णस्य वर्णयोश्चावृत्तिः यमकम् । वर्णस्य च पदान्तरगतत्वेनावृत्तिर्न वैचित्र्यकृदिति तस्मिन्नेव पादे आवृत्त्यन्तरविचित्रितायां नैरन्तर्येणावृत्तौ यमकत्वम् । यथा—

नानाकारेण कान्तभ्रूराराधितमनोभवा ।
विविक्तेन विलासेन ततक्ष हृदयं नृणाम् ॥

मध्यान्तयोरपि—

'उदाररचनारोचिर्भासुरा राजते कथा' इति ॥

वर्णयोः, यथा—

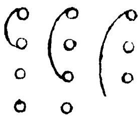
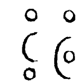
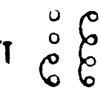
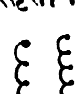
पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ ८३ ॥

प्रथमो द्वितीयादौ (३), द्वितीयस्तृतीयादौ (२), तृतीयश्चतुर्थे (१), प्रथमस्त्रिष्वपि (१). इति सप्त । प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे इति प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये, इति द्वे । तदेवं

भ्रमर द्रुमपुष्पाणि भ्रम प्रीत्यै पिबन् मधु ।
का कुन्दकुसुमे प्रीतिः काकुं दत्वा विरौषि यत ॥

तस्मिन्नेव पादे, यथा—

हन्त हन्तररातीनां धीर धीरर्पिता तव ।
कामं कामन्दकेर्नीतिरस्या रस्या दिवानिशम् ॥

यमकं च पादे, तस्य च भागेषु भवद् अनेकमित्याह—पादतद्भागेति । **समस्तपादे वृत्तितया नियतानियतरूपपादैकदेशवृत्तितया च पूर्वं द्विधा । तत्र समस्तपादवृत्तियमकभेदानाह**–प्रथमो द्वितीयादाविति । **आदिशब्दात् तृतीयचतुर्थपादग्रहः । यथा**  **। एतानि क्रमाद् मुखसंदंशावृत्तिसंज्ञानि ॥** द्वितीयस्तृतीयादाविति । **आदिशब्दाच्चतुर्थपादग्रहः ।**  **इमे क्रमाद् गर्भसंदष्टकसंज्ञे ॥** तृतीयश्चतुर्थे प्रथमस्त्रिष्वपीति **तृतीयचतुर्थयोः पादयोः साम्ये तथा चतुर्ष्वपि पादेषु साम्ये, यथा**  **। एते क्रमात् पुच्छपङ्क्तिसंज्ञे ॥** प्रथमो द्वितीये, तृतीयश्चतुर्थे इति । **यथा ६ । एतद् युग्मकम् ॥ प्रथमस्तुर्ये, द्वितीयस्तृतीये, यथा**  **। इदं परिवृत्तसंज्ञम् । एतानि नवापि पादजानि । पादत्रयगतत्वेन तु यमकं नाभिमतमिति प्रथमो द्वितीयतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोः, द्वितीयस्तृतीयचतुर्थयोरिति चत्वारो भेदा न दर्शिताः ॥ अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्च यथा**  **। इमे समुद्गकमहायमकाख्ये**[1] **॥**

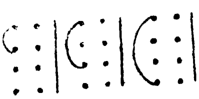
---

१. प्रान्ते विकल्पोऽयं दत्तः, यथा  ॥

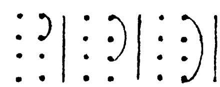
पादजं नवभेदम् । अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे । द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववद् द्वितीयादिपादादिभागेष्वन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः। श्लोकान्तरे हि[२०] भागावृत्तिः। त्रिखण्डे त्रिंशच्चतुष्खण्डे चत्वारिंशत् । प्रथमपादादिगतान्त्यार्धा-

---

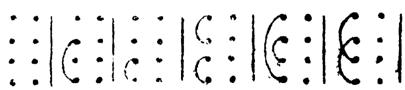
समस्तपादजं यमकं प्रदर्श्य पादभागवृत्तिं दर्शयितुमाह–द्विधा विभक्त इति । प्रथमपादस्यादिभागः प्रथमपादस्यार्धीकृतस्य प्रथममर्धं द्वितीयार्धपादादिभागेषु द्वितीयतृतीयतुर्यपादानामादिभागेष्वावर्त्यमानं क्रमाद् मुखसंदंशावृत्तिसंज्ञानि त्रीणि यमकानि करोति ।। पूर्ववदिति । समस्तपादावृत्तियमकक्रमेणेत्यर्थः । यथा–



अन्तभाग इति अन्तभागेष्विति च पदे साकाङ्क्षत्वात् प्रथमपादशब्दं द्वितीयादिपादशब्दं च यथाक्रममनुवर्तयतः, ततोऽत्रापि पूर्वोक्तनामकं भेदत्रयमन्तभागावृत्तौ सत्यां लक्षितम्, यथा



शेषं च पादस्यादिभागावृत्तिसत्कभेदसप्तकमन्तभागावृत्तिसत्कभेदसप्तकं च । इति–शब्देन प्रकारार्थेन सूच्यते, यथा

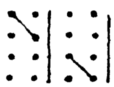
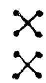
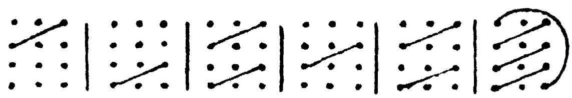
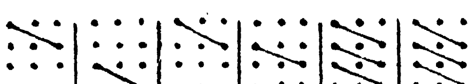


एतानि गर्भसंदष्टकपुच्छपङ्क्तियुग्मकपरिवृत्तिसमुद्गकसंज्ञानि क्रमेण । एवमन्तभागवृत्तेरपि सप्त भेदा द्रष्टव्याः । तदेवं द्विधा विभक्ते पादे पादस्यादिभागावृत्त्यान्तभागावृत्त्या च प्रत्येकं दश दश यमकानि स्युः, उभयं विंशतिः, न द्वाविंशतिरित्याह–श्लोकान्तरे हीति । भागावृत्तेः श्लोकान्तरेऽसंमतत्वात् ॥ त्रिखण्डे त्रिंशत् [इति] । आदिमध्यान्तरूपेषु त्रिभागेषु प्रत्येकं दशकस्य भावात् पूर्वोक्तसंज्ञानि त्रिंशद् यमकानि । एवं चतुर्धा विभक्तेऽपि पादे आदिमध्यमध्यान्तरूपभागचतुष्टये प्रत्येकं दशकतया चत्वारिंशत् । आद्यभागं पादान्तरस्याद्यभागे मध्यं मध्येऽन्त्यमन्त्ये एव भागे आवर्तयेद्–इत्युक्त्वा अन्यत्र देशे आवृत्तौ यमकान्याह–प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभाग इति । प्रथमपाद आदिर्येषामित्यादिशब्दाद् द्वितीयतृतीयपादयोर्ग्रहः, न चतुर्थस्यापि पादचतुष्टयेनैव श्लोकस्य समाप्तत्वात् । पञ्चमपादस्य चाभावात् नार्धावृत्तिरपि । प्रथमपादादीन् गत-

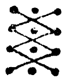
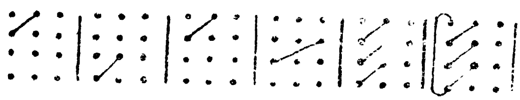
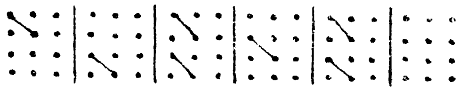
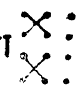
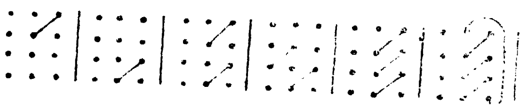
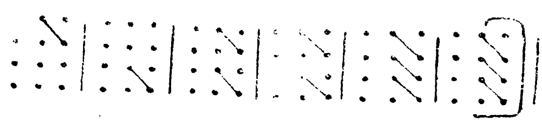
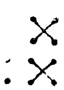
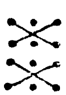
दिभागो द्वितीयपादादिगत आद्यार्धादिभागे यम्यत इत्याद्यन्वमाश्रितमन्त्यार्धमादिर्यस्य, स चासौ भागश्च। अन्त्यार्धादि इत्यादिशब्दात् तृतीयतुर्यपादग्रहः ॥ द्वितीयपाद आदिर्येषां, आदिशब्दात् तृतीयतुर्यपादग्रहः। द्वितीयपादादीन् गतमाश्रितमाद्यर्धमादिर्यस्य स चासौ भागश्च। अर्धादि इत्यादिशब्दात् तृतीयतुर्यांशग्रहः॥ तथा इत्यादि इति आदि-शब्दाद् द्विधाकृते पादे प्रथमपादादिगताद्यर्धभागो द्वितीयपादादिगतान्त्यार्धभागे यम्यत इत्यन्वर्थाद् आद्यन्तकम्। तथा त्रिखण्डे पादे प्रथमपादगतादितृतीयभागो द्वितीयपादादिगतान्त्यतृतीयभागे यम्यत इत्यन्वर्थः। तथा प्रथमपादादिगतमध्यांशो द्वितीयपादादिगतादिभागे यम्यत इत्यन्वर्थः। तथा प्रथमपादादिगतादिभागो द्वितीयपादादिगतमध्यभागे यम्यत इत्यन्वर्थः। तथा प्रथमपादादिगतान्त्यभागो द्वितीयपादादिगतमध्यांशे यम्यत इत्यन्वर्थः। तथा प्रथमपादादिगतमध्यांशो द्वितीयपादादिगतान्त्यांशे यम्यत इत्यन्वर्थश्च गृह्यते। तेन क्रमाद् आद्यन्तकं मध्यादिकं आदिमध्यं अन्तमध्यं मध्यान्तकं च यमकं सिद्धम्। अनेकभेदमन्तादिकमिति वक्ष्यमाणभेदत्रयेऽन्ताद्योर्यमनात् सामान्येन संज्ञेयम्। विशेषवती त्वन्ताद्योः क्रमेण यमनाद् अन्तादिकमिति। आद्यन्तयोः क्रमाद् यमनाद् आद्यन्तकमिति। तद्‌द्वययोगे तत्समुच्चय इति। केचित्तु 'अन्तादिकम् इति अन्तादिकाद्यन्तकतत्समुच्चयमध्यादिकादिमध्यादीनां सर्वेषामपि सामान्येन संज्ञेयम्' इत्याहुः। अन्ये तु अत्र लक्षणवाक्येऽशेषभेदसंग्रहपरमादिशब्दत्रयं दृष्टान्तादिकमित्यत्रापि अन्तादिकमित्यादिशब्दं संभावयन्ति, अन्तादिकप्रभृत्यशेषसंज्ञास्वीकाराय। स च लेखकवैगुण्याद् मूलमतो भ्रष्ट इति मन्यन्ते। तत्र द्विखण्डे पादेऽन्तादिकभेदाः प्रथमपादान्त्यार्धस्य द्वितीयपादस्याद्यर्धेनावृत्तौ व्यस्ताख्यामन्तादिकं, यथा  । तृतीयपादान्त्यार्धतुर्यपादाद्यर्धयोरैक्ये द्वितीयं व्यस्ताख्यं यथा  । तद्‌द्वययोगे तृतीयसमस्ताख्यं, यथा  । द्वितीयपादान्त्यार्धस्य तृतीयपादाद्यर्धेनैक्ये तुर्यं मध्याख्यं, यथा  । समस्तमध्ययोर्योगे पञ्चमं वंशाख्यं यथा  ।

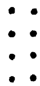
र्थतोऽनुसरणेनानेकभेदकम्, अन्तादिकम् । आद्यन्तकम्, तत्समुच्चयः, मध्यादिकम्, आदिमध्यम्, अन्तमध्यम्, मध्यान्ति-

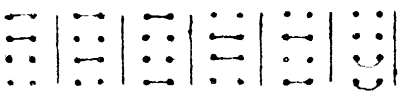
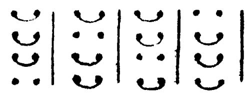
---

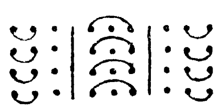
प्रथमपादस्याद्यर्धे तुर्यपादान्त्यार्धेन सहावृत्ते वंशे च सति षष्ठं चक्रकाख्यमन्तादिकं, यथा  । इत्यन्तादिकभेदाः षट् ॥ प्रथमपादान्त्यार्धस्य तृतीयपादाद्यर्धेनावृत्तौ केचित् संभवन्तोऽप्यन्तादिकभेदा न हृद्या इति न गणिताः । द्विखण्ड एव पादे आद्यन्तकभेदाः । प्रथमपादाद्यर्धद्वितीयपादान्त्यार्धैक्ये तथा तृतीयपादाद्यर्धस्य तुर्यपादान्त्यार्धेनैक्ये द्विभेदं व्यस्ताख्यमाद्यन्तकं, यथा  एतद्द्वययोगे तृतीयं समस्ताख्यमाद्यन्तकं, यथा  । द्वितीयाद्यार्धं तृतीयान्त्यार्धेनावृत्तं चतुर्थं मध्याख्यं, यथा  । मध्यसमस्ताद्यन्तकयोगे वंशः पञ्चमः, यथा  । प्रथमान्तार्धं तुर्याद्यर्धेनावृत्तं वंशश्च चक्रकाख्यं, यथा  । इत्याद्यन्तकं षोढा ॥ प्रथमपादस्याद्यर्धं तृतीयपादान्त्यार्धेनावृत्तं आद्यन्तक यमकं कुरुत इत्यादयः संभवन्तोऽपि भेदा न गणिताः । एवं मध्यादिकादयोऽप्यहृद्यत्वात् ॥ अथ द्विखण्ड एव पादे समस्तान्तादिकसमस्ताद्यन्तकयोगेऽर्धपरिवृत्तिसंज्ञ एक एव भेदः, तत्समुच्चयः, यथा  । अथ त्रिखण्डे प्रथमद्वितीयतृतीयपादानामन्त्यस्तृतीयो भागो द्वितीयतृतीयतुर्यपादानामाद्ये तृतीये भागे यम्यमानः षडन्तादिकयमकानि करोति, यथा  । एतानि क्रमाद् द्विर्व्यस्तसमस्तमध्यवंशचक्रकाख्यानि पूर्ववत् । एवं त्रिखण्ड एव पादे आद्यन्तकभेदा अपि षड्, यथा  ।

कम्, तेषां समुच्चयः। तथा तस्मिन्नेव पाद आद्यादिभागानां

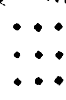
समस्तान्तादिकसमस्ताद्यन्तकयोर्योगेऽर्धपरिवृत्त्याख्य एकविध एव, तत्समुच्चयः, यथा  । इति त्रयोदश भेदाः ॥ एवं मध्यादिकभेदा अपि पूर्वोक्ताख्याः षड्, यथा  एवमादिमध्यभेदा अपि पूर्वोक्ताख्याः षड् यथा  । समस्तमध्यादिकसमस्तादिमध्ययोर्योगेऽर्धपरिवृत्त्याख्य एक एव, तत्समुच्चये, यथा  । एवमेतेऽपि त्रयोदश ॥ एवमन्तमध्यभेदा अपि पूर्वोक्ताख्या एव षड्, यथ  एवं मध्यान्तके भेदेऽपि पूर्वोक्ताख्याः षड्, यथा  समस्तान्तमध्यसमस्तमध्यान्तकयोर्योगेऽर्धपरिवृत्तिनामा एक एव, तत्समुच्चयः, यथा  । एवमेतेऽपि त्रयोदश ॥ तथा समस्तमध्यादिकसमस्तादिमध्यसमस्तान्तमध्यसमस्तमध्यान्तकानां युगपद् योगेऽर्धपरिवृत्तिप्रायोऽन्योऽपि एको भेदः, यथा  । एवं त्रिखण्डे पादेऽन्तादिकादयश्चत्वारिंशद् भेदाः। तथा चतुर्धा विभक्ते पादे षड्भेदमन्तादिकं षड्भेदमाद्यन्तकमेकविधस्तत्समुच्चय एते त्रयोदश भेदा हृद्या इति स्वीक्रियन्ते । शेषाश्च मध्यादिकादयः संभवन्तोऽपि न हृद्या इति न गण्यन्ते ॥ इदानीं तत्रावृत्तिमाह—तस्मिन्नेव पाद इति । आद्यादि—इत्यादिशब्दाद्

मध्यादिग्रहः। मध्यादि–इत्यादिशब्दाद् मध्यान्तग्रहः। ततश्च द्विधा विभक्ते पादे आद्यभागः, तत्रैव पादेऽन्त्यभागेन सहावृत्त एकपादावृत्तौ द्विपादावृत्तौ त्रिपादावृत्तौ चतुष्पादावृत्तौ च सत्यां पादसमुद्गकसंज्ञं यमकं जनयति। तत्र यदैकपादावृत्तिस्तदा व्यस्तरूप एको भेदः, एकश्च पादश्चतुर्थ एव बोद्धव्यः, तस्यैवैकस्य शोभादृष्टेः। न त्वन्यत् प्रथमपादादि त्रयं, यथा । यदा च द्विपादावृत्तिस्तदा षड् भेदाः, यथा

 । एषु च प्रथमचतुर्थषष्ठा भेदा अनन्तरितरूपाः। यदा च त्रिपादावृत्तिस्तदा चत्वारो भेदाः, यथा 

एषां च मध्ये प्रथमचतुर्थावनन्तरितौ। द्वितीयतृतीयौ त्वन्तरितानन्तरितौ। चतुरावृत्तौ च समस्तरूप एको भेदः, यथा । इमे च व्यस्तादयः सर्वे द्वादश। रुद्रटेन तु व्यस्तरूपस्य चतुर्भेदत्वात् पञ्चदशोक्ताः। अथ त्रिधा विभक्ते शब्दे आद्यादिभागस्तत्रावृत्तौ मध्याद्यंशे यम्यमानो दृश्यते। तथा हि आद्यंशो मध्यांशेनादिभागोऽन्तभागेन मध्यभागोऽन्तभागेन च सहावृत्त आदिमध्यं, आद्यन्तं, मध्यान्तं च क्रमाद् यमकं, यथा । तदुक्तम्—

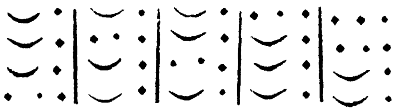
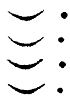
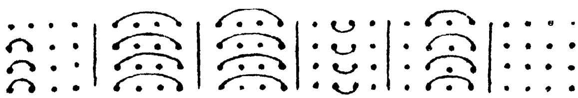
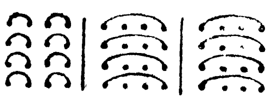
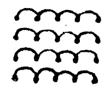
स्थानाभिधानभाञ्जि त्रीण्यन्यानि सन्ति यमकानि।
आदिर्मध्येऽन्तमध्योऽन्ते च तत्र परिवृत्तः॥

तत्रेति तस्मिन्नेव पादे इत्यर्थः। एषु च पादसमुद्गकवत् प्रत्येकं द्वादश भेदाः। तथा हि आदिमध्यस्यैकपादावृत्तौ चतुर्थपादगत्वेन व्यस्तरूप एको भेदः, यथा । द्विपादावृत्तौ षड्भेदाः, यथा



मध्यादिभागेषु, अनियते च स्थाने ऽर्थावृत्तिरिति प्रभूततमभेदम् । तदेतत्काव्यैगडुभूतमिति नास्य भेदलक्षणं कृतम् । दिङ्मात्र-

---

एषु प्रथमचतुर्थषष्ठा अनन्तरितरूपा, द्वितीयतृतीयपञ्चमाश्चान्तरिताः । त्रिपादावृत्तौ चत्वारो भेदाः, यथा  । एषु च प्रथमचतुर्थावनन्तरितौ, द्वितीयतृतीयौ त्वन्तरितौ । चतुष्पदावृत्तौ समस्तरूप एको भेदः, यथा  । एते चादिमस्य व्यस्तादयो द्वादश भेदा दर्शिताः । अनेन क्रमेण आद्यन्तस्य मध्यान्तस्य च प्रत्येकं द्वादश भेदा ज्ञेयाः । तदेवं त्रिखण्डे तत्रावृत्तौ आदिमध्यान्तमध्यान्तानां षट्त्रिंशद् भेदा दर्शिताः । चतुर्धा विभक्ते तु पादे आद्यभागः क्रमेण द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे भागे, इत्येकावृत्तिभेदा वक्त्रसंदंशाद्यन्तकमध्यसंदष्टकशिखानामानः षड्, यथा  । द्विरावृत्त्या मालाकाञ्चीसमुद्गकसंज्ञाः, यथा  । त्रिरावृत्तिर्यमकतत्त्वविदां नेष्टा । चतुरावृत्त्या पङ्क्तिसंज्ञ एको भेदः, यथा  । एते च दश व्यस्तभेदाश्चतुर्थैकपादगतत्वेन पादद्वयगतत्वेनान्तरितभेदास्त्रिंशत् । अनन्तरितभेदाश्च त्रिंशत् । पादत्रयगतत्वेनान्तरितभेदा विंशतिः । अन्तरितानन्तरितभेदाश्च विंशतिः । पादचतुष्टयगतत्वे दश समस्तभेदाः । ततश्च वक्त्रादीनां चतुर्धा विभक्ते पादे तत्रावृत्तौ विंशत्यधिकं शतं भेदाः । षट्खण्डे षष्टिरित्यनुक्तेः षट्खण्डे पादे यमकमनभिमतमिवास्य ग्रन्थकृतः, अन्यैस्तु कृत्वार्धशश्च भागानिहापि सर्वं तथा रचयेदित्यनेन षट्खण्डेऽपि यमकत्वं सूचितम् ॥ अनियते चेति । आदिमध्यान्तलक्षणाद् देशाद्, अर्धत्रिभागादिलक्षणाद् देशाद्, अर्धत्रिभागादिलक्षणाद् अवयवाच्च यद् विलक्षणं तद् अनियतं स्थानं, तत्र स्वेच्छाकृतत्वेन भूयस्तमभेदम् ॥ तदेतदिति । कविशक्तिख्यापनमात्रफलत्वात् पुरुषार्थोपदेशानु-

मुद्रीह्रियते—

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥३६०॥

विनायमेनो नयतासुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदो यतमानसादरम् ॥३६१॥

पायत्वाच्च काव्यगडुभूता । यमकं हि पृथग्यत्ननिर्वर्त्यं शब्दविशेषान्वेषणेन साध्यमानं रसभङ्गायेति सुकुमारमतीनां पुरुषार्थेषु प्रवर्तनाय रच्यमानं न सुखोपायः । यल्लोलटः—

यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदा हि रसविरोधिन्यः ।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा ॥

तत्र प्रथमपादस्तृतीयेनावृत्तः, यथा 'सन्नारी'ति । 'सतीः साध्वीर्नारीर्बिभर्ति पोषयति या उमा तां याति संबध्नाति यः शिवः । तथा सन्ना अरीभाः शत्रुगजा यत्र तथाभूतो रणो यस्य । अमायो निर्दम्भः' । संदंशः । एवं शेषा अपि षड् भेदा उदाहार्याः ॥

प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोः पादयोरावृत्तौ, यथा 'विनाय'मिति । कश्चित् कंचिदाह । 'यमेन महाजनं नयता आत्मसमीपं प्रापयता ऊनयता ऊनं कुर्वताऽसुखादिना प्राणभक्षकेण सुखमत्तीति सुखादिना क्लेशदायकेनायं महाजनोऽदीयताखण्ड्यत । किंभूतो, विना सत्पुरुषः' । किमपराधेनेत्याह—'एनोऽपराधं विना, निरपराध इत्यर्थः । कीदृशो महाजनो, मानमहंकारं सादयति क्षिपति । अरं अत्यर्थम् । तथा महं उत्सवं अञ्जन्ति क्षिपन्ति ये दुर्जनास्तान् नुदति । यतमानानां मरणक्रियाव्यावृत्तानां सादम् अनध्यवसायं राति ददातीति खण्डनक्रियाविशेषणम्' । युग्मकम् ॥ एवं प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीययोरावृत्तौ ज्ञेयम् ॥

अर्धावृत्तिः, यथा—

सा रक्षतादपारा ते रसकृद् गौरबाधिका ।
सारक्षतादपारातेरसकृद् गौरवाधिका ॥

सा देवी त्रायताम् अनन्ता तव रागकृद् अभिमतं वस्त्वित्यर्थः । वाग्रूपा पालनी । उत्कृष्टक्षतेः । अपगतविपक्षाद् । अविरतम् । गौरवेणाधिका सर्वेषां गुरुरित्यर्थः ॥

स त्वारं भरतोऽवश्यमवलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥३६२॥
सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥३६३॥
अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥३६४॥
यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवे हितां शिवेहितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६५॥
सरस्वति प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति ।
सर स्वतिकुरु क्षेत्रे—कुरुक्षेत्रे—सरस्वति ॥३६६॥

श्लोकावृत्तिः, यथा—'स त्वे'ति । 'स तु पूर्वमक्रान्तो राजा शत्रुसमूहं भरात् वशेऽवर्तमानं बलरहितं दीर्घाक्रन्दं सर्वकालं संग्रामं प्रापयामास । अवान् अलसं, अपि तु त्वरितं गच्छन् अस्थीनि तस्यति उपक्षिणो अस्थितः । 'अन्त्वसन्तेत्यधातोः' इति वर्जनाद् दीर्घाभावः ॥ सत्त्वेन, न तु कुसृत्या, ये आरम्भास्तेषु रतः । अवश्यं निश्चितम् । अवलम्बितं आश्रितं तारवं तरुत्वग्वसनं येन शत्रुसमूहेन । सर्वेषां दारणो यो मानस्तमिच्छति, अत एव दवाग्निना समं स्थितं यस्य' ॥ शब्दश्लेषाच्चास्य महायमकस्य भेदः ॥ शब्दश्लेषे हि एकेनैव प्रयत्नेन वाक्यद्वयमुच्चार्यते, इह तु द्वाभ्यां वर्णनीयवस्तुद्वयं च नास्तीति ॥

द्विखण्डे पादेऽन्तभागावृत्तेः सप्तसु भेदेषु मध्याद् द्वितीयो भेदः, यथा—'अनन्ते'ति । 'वेधाः प्रजापतिः । न वेत्ति यां प्रणते पुरुषे दयां कृपाम्' ॥ अन्त्यार्धसंदष्टकम् । एवमन्येऽपि भेदा उदाहार्याः ॥

तत्रैव पादेऽन्तभागेन सह चतुष्पदावृत्तौ पादसमुद्गकाख्यं, यथा—'यदानत' इति । 'यस्या आनतः प्रणतः । अयस्य शुभावहस्य दैवस्य दानतो नयस्य षाड्गुण्यस्यात्ययं न गच्छत्ययम् । शिवम् ईहितं यस्याः । शिवे हरेऽनुकूलां स्मरेण कामेनामितां अपरिच्छिन्नां ध्यायामि ताम् ॥

तृतीयं समस्ताख्यमाद्यन्तकं, यथा—'सरस्वती'ति । 'वागीश्वरि चित्तसमुद्रे स्थिते मयि सर गच्छ प्रसादं मे कुरु । सुष्ठु अतिशयेन च । शरीरमेव कुरु क्षेत्रम् ।' तत्र सरस्वत्याख्ये नदि ॥ अत्रैव 'कुरुक्षेत्रे'ति तृतीयपादस्यान्त्यार्धे तुर्यपादाद्यर्धेन यम्यते इति द्वितीयं व्यस्ताख्यमन्तादिकम् ॥

ससार साकं दर्पेण कंदर्पेण समारसा ।
शरं नवाना बिभ्राणा नाबिभ्राणा शरन्नवा ॥२६७॥

मधुपराजि-पराजित-मानिनीजनमनःसुमनःसुरभि श्रियम्
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥२६८॥

समस्तान्तादिकसमस्ताद्यन्तकयोर्योगेऽर्धपरिवृत्तिः, यथा–'ससारे'ति । 'ससार प्रवृत्ते सार्धं दर्पेण कामेन च ससारसा लक्ष्मणाख्यपक्षियुक्ता । शरं काण्डम् । नवानि अनांसि शकटानि यस्याम् । बिभ्राणा धारयन्ती । वीनां भ्राणः शब्दो विद्यते यस्याम् । तथाभूता न, अपि तु पक्षिशब्दयुक्ता शरद् ऋतुः । नवा नूतना' ॥ एवं मध्यादिकादिमध्यान्तमध्यमध्यान्तकतत्समुच्चया उदाहार्याः ॥

त्रिखण्डे तत्रैव पादे आदिमध्यं, यथा—

स रणे सरणेन नृपो वलितावलितारिजनः ।
पद्मापद्मात् समतेरुचितं रुचितं च निजम् ॥

स संग्रामे प्रयाणेन हेतुना बलवत्त्वेन वेष्टितारिजनः । पदं राज्यलक्षणम् । उपशमाद् हेतोः । अनुरूपं अभीष्टं च ॥

आद्यन्तं, यथा—

घनाघ नायं न नभा घनाघनानुदारयन्नेति मनोऽनु दारयन् ।
सखेऽदयं तामविलास खेदयन्नहीयसे गोरथवा न हीयसे ॥

एतत् पथिकस्य प्रावृषि सुहृदाह । बहुपाप, श्रावणो मासो वार्षुकमेघान् विस्तारयन् न नायमेति । मनोऽर्थाद् विरहिणां पश्चात् स्फोटयन् निर्दयं तां कान्तां निर्लील उद्वेजयन् सर्पवद् आचरसि । यद्वा, कियत् तव एतद् बलीवर्दाद् न्यूनो न भवसि ॥

मध्यान्तं, यथा—

असतामहितो महितो युधि सारतया रतया ।
स तयोरुरुचे रुरुचे परमेभवते भवते ॥

'अननुकूलोऽत एव पूजित उत्कृष्टतया बलवत्तया तदेकसत्कया । कश्चिद् वीरः प्रसिद्धया विस्तीर्णकान्तये प्रीतिमुत्पादितवान् । प्रकृष्टगजयुक्ताय तुल्यम् ॥

अनियते स्थाने, यथा–'मधुपे'ति । 'भ्रमरपङ्क्त्या पराभूतं मानिनीजनस्य मनः यकाभिः तथाभूताः सुमनसः पुष्पाणि तासां सौगन्ध्यलक्ष्मीं जगत्

एवं वैचित्र्य[३४]सहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ ८४ ॥

अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यत इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद्यु[३५]गपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः । स च वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा । क्र[३६]मेणोदाहरणानि—

अलंकारः शङ्काकरन[३७]रकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥३६९॥

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम् ॥३७०॥

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
ला[३८]वण्यैकमहानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कु[३९]रुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३७१॥

कर्तृ अभूत । वारिता वारिजा एव विप्लवो यत्र । स्फुटितानि विकसितानि ताम्राणि लोहितानि ततानि विस्तीर्णानि आम्रवणानि यत्र ' ॥ अत्र न देशविभागेनावृत्तिः, नाप्यवयवविभागेन, यतो द्रुतविलम्बितं द्वादशाक्षरमेतद् वृत्तम्; अर्धे चात्र षडक्षराणि, त्रिभागश्च चत्वार्यक्षराणि । अथ च प्रथमाक्षरद्वयमुक्त्वा त्रीण्यक्षराणि यमकितानीति अनियतस्थानत्वम् ॥ अन्यदिति । यथा–' विविधधव[व]नाना नागगर्धद्धनाने 'त्यादौ ॥८१॥

काव्ये इति । उदात्तादीनां युगपदुच्चारयितुमशक्यत्वात् ॥ वचनानामिति । एकवचनद्विवचनबहुवचनरूपाणाम् ॥

' अलंकार ' इति । अत्र स्थाणुपक्षे–विधुश्चन्द्रो विधिश्च दैवमित्युकारेकारयोरक्षरयोर्भङ्गेन श्लेषः ॥ पृथुकानां बालानां ये आर्ताः स्वरास्तेषां पात्रं पृथूनि कार्तस्वरस्य भाजनानि यत्रेत्यादिपदानां भङ्गः । ' भक्ती 'ति । अत्र ' नीता ' इति

एवं वचनश्लेषोऽपि ।

महदे सुरसंधं मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।
हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥३७२॥

ईहितमाप्तये इति च स्त्रीनपुंसकलिङ्गयोः श्लेषः ॥

'महानिधिः' इति चैकवचनद्विवचनश्लेषोऽपि ॥ भाषाश्च—

संस्कृतप्राकृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ इति षट् ।

तासां भिन्नार्थत्वे युगपदुक्तिः श्लेषः । तत्र संस्कृतप्राकृतयोः, यथा– 'महे'ति । कश्चिद् ध्यानानीतां गौरीं प्रत्याह । 'महदे उत्सवप्रदे सुरे सन्धा प्रतिज्ञा यत्र, देवविषयमित्यर्थः । मम तमुत्कृष्टम् । अवरक्ष । समासङ्गं अभिप्रेतं आगमाहरणे आगमस्वीकारे । तथा हर निवारय । बहु प्रभूतं सरणं प्रसरणं यत्र तं चित्तस्य मोहमज्ञानं, अवसरे काले उमे गौरि सहसा झगित्येव' ॥ प्राकृतेऽन्योर्थः । 'मम देहि रसं धर्मे तमोवशां तमःपरिभूतामाशां गमागमात् संसाराद् हर । ण इति नः । तथा हे हरवधु शम्भुपत्नि शरणं त्वम् । चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा' । 'चित्तमोह'मिति 'गुणाद्याः क्लीबे' इति प्राकृते नपुंसकत्वम् ॥ एवं संस्कृतमागध्योः संस्कृतपैशाच्योः संस्कृतशौरसेन्योः संस्कृतापभ्रंशयोः श्लेषो ज्ञेयः ॥ तथा अर्थैक्ये द्विचतुःपञ्चषण्णां भाषाणां युगपदुक्तौ त्र्यादि-भाषाश्लेषोऽपि । तत्र द्वियोगे पञ्चदश, त्रियोगे विंशतिः, चतुर्योगे विंशतिः, पञ्चयोगे षट्, षड्योगे एकः । सर्वमीलने भाषाश्लेषस्य सप्तपञ्चाशद् भेदा भवन्ति । एते च पूर्वोक्ते भाषाश्लेषभेदेऽभिन्नार्थत्वेऽपि द्रष्टव्याः ॥

संस्कृतप्राकृतयोर्योगः, यथा—

सरले सहास-रागं परिहर रम्भोरु मुञ्च संरम्भम् ।
विरसं विरहायासं वोढुं तव चित्तमसहं मे ॥

एवं संस्कृतमागध्योः संस्कृतपैशाच्योः संस्कृतशौरसेन्योः संस्कृतापभ्रंश-योश्च ज्ञेयम् ॥ एवं द्वियोगान्तरे त्रिचतुःपञ्चयोगेषु चोदाहार्यम् ॥ षड्योगे, यथा—

अलोलकमले चित्तं ललामकमलालये ।
पाहि चण्डि महामोहभङ्गभीमबलामले ॥

'हे चण्डि देवि रक्ष । अचपललक्ष्मि मनः प्रधानपद्मालये । महामोहस्य

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥३७३॥

रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसंपत्सहस्रम् ।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित्त्वत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥३७४॥

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥३७५॥

भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः । उदाहरणम्—

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥३७६॥

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।

जन्म-लक्षाभ्यस्ताया अविद्याया भञ्जने यदुग्रं बलं तेन अकलङ्के ॥

'वक्ष्यती'ति धारयिष्यति कथयिष्यति च । अत्र वहिवच्योः कृन्तति-करोत्योश्च प्रकृत्योर्भङ्गः । स्यति-क्विप्प्रत्ययो च तावेव उभयत्रापि ॥

प्रत्ययश्लेषः, यथा– 'रजनी'ति । 'सहस्रम्' इति क्रियाविशेषणम् । 'स्यां स्याद्'इति च । नन्दतीति 'नन्दिता' नन्दिनो गणविशेषस्य च भाव इति तृच्–त-प्रत्यययोः श्लेषः ॥

'सर्वस्व'मिति । 'हे हर सर्वस्य त्वं सर्वस्वम् । भवः संसारः, तच्छेद-निष्ठः । नयोपकारयोः सांमुख्यं शरीरवर्तनम् । आयासि [आ]गच्छसि' ॥ अपरोऽर्थः । 'हर अपहर, भव संपद्यस्व, नय निवारय । आयासि खेदकारि । वर्तनं वृत्तिं विस्तारय' । अत्र 'स्याद्' इत्याद्योर्विभक्त्योः ॥ वचनश्लेषे तूदाहृतम् ॥८२॥

एषां प्रकृत्यादीनामविशेषेऽपि श्लेषः स्यादित्याह–भेदाभावादिति । प्रकरणादिना चाभिधाया अनियन्त्रितत्वात् श्लेष एव, न तु ध्वनिः ॥ नवमोऽपीति । अभङ्गः शब्दश्लेष इत्यर्थः । अभङ्गत्वेन च पूर्वस्मादस्य भेदः ॥ 'गोत्र'शब्दः कुलपर्वतयोः ॥ 'पक्षा' वर्ग्याः पतत्राणि च । 'क्षण' उत्सवः । शतं कोटिं च ददाति, शतकोटिना वज्रेण द्यति खण्डयति च । 'विबुधाः' पण्डिता देवाश्चेत्य-

ननु स्वरितादिगुणभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां तदभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्ययमर्थालंकारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालंकारः । उच्यते—इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथा हि–कष्टत्वादिगतत्वाद्यनुप्रासादयो व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।

भङ्गः शब्दश्लेषः ॥

ननु स्वरितेति । स्वरितोदात्तादिस्वरभेदात्प्रयत्नभेदे शब्दश्लेषो यत्र प्रायेण पदभङ्गो भवति । यत्र तु स्वरितादिगुणभेदो नास्तीत्यभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वे सति प्रयत्नादिसाम्याद् अभङ्गपदत्वेऽर्थश्लेषः। एष च प्राप्तेष्वलंकारान्तरेष्वारभ्यमाणबाधकत्वात् तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति द्विप्रकारोऽप्ययं श्लेषोऽर्थालंकार इति केचित् । यथा—

रक्तच्छदत्वं विकचा वहन्तो नालं जलैः संगतमादधानाः ।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मानि रेजुः श्रमणा यथैते ॥

—अत्र 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादौ अर्थद्वयाश्रितत्वाद् अर्थश्लेषः । 'नालम्' इत्यादौ च शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दश्लेषः प्रयत्नादिभेदाच्च प्रातीतिक एव शब्दभेदः, ततश्च 'रक्तच्छदे' त्यत्र एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन अर्थद्वयस्य शब्दे श्लिष्टत्वम् । 'नालम्' इत्यत्र तु जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव शब्दयोः श्लिष्टत्वमित्युभयरूपोऽप्ययमर्थालंकारः, तद् निषेधयन्नाह–इहेति । शब्दगतत्वेनार्थगतत्वेन च यो विभागो व्यवस्था दोषादीनां, सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव । सति तस्मिन् भवतीत्यन्वयः, असति तु न भवतीति व्यतिरेकः । एतदेव तथा हि–इत्यनेन व्याचष्टे । कष्टत्वादयः शब्ददोषा, गाढत्वादयः शब्दगुणाः, अनुप्रासादयः शब्दालंकारा, व्यर्थत्वादयोऽर्थदोषाः, प्रौढ्यादयोऽर्थगुणा, उपमादयोऽर्थालंकाराः शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते, ततोऽयमर्थालंकार इति न वाच्यं, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दगतत्वेन प्रतीयमानत्वात् । तथा हि 'परगोत्राणाम्' इत्यत्र गोत्रादिशब्दप्रयोगेऽलंकारः, गिर्यादिप्रयोगे तु नेति शब्दालंकार एवायम् । यच्चाभङ्गत्वमात्रेण अर्थश्लेषत्वमभिमतम् उद्भटस्य तदपि नैवोपपन्नमित्याह–

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी[४८] ।

इत्यभङ्गः शब्दश्लेषः ।

प्रभातसंध्येवास्वापफलल्लुब्धे हितप्रदा ॥३७७॥

इति सभङ्गः शब्द[४९]श्लेषश्च । इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नं, न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम् । अर्थश्लेषस्य तु स विषयो यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना ।

[५०]स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी [५१]वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च[५२] ॥३७८॥

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा । तथा हि—यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्'इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्य उभयसाम्ये वोपमा, तथा—

सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति [५४]सितांशुबिम्बमिव ।

'स्वयं चे'ति। गौरीपक्षे—किसलयवद् दीपमानाभ्यां कराभ्यां शोभते। सुखेनाप्तुं यन्न शक्यं फलं तत्र तु लुब्धानामीहितं प्रददाति ॥ अभङ्गः शब्दश्लेष इति । योऽर्थश्लेषतया उद्भटस्य संमतः ॥ न त्वाद्यस्येति । 'स्वयं च' इत्यस्य अभङ्गत्वमात्रेण अर्थश्लेषत्वं नोपपन्नमित्यर्थः ॥ तर्हि अर्थश्लेषस्य निर्विषयत्वमित्याह—अर्थश्लेषस्येति । अर्थश्लेषः, यथा—'स्तोकेने'ति । अत्र हि स्तोकोन्नत्यादीनां शब्दानां स्थाने स्वल्पोच्चैस्त्वादिशब्दा यदि निवेश्यन्ते तथापि न श्लेषत्वक्षतिः । 'स्वयं च' इत्यत्र तु दीप्रपाणिशब्दौ यदि निवेश्येते तदा श्लेषत्वकथाऽपि न स्यात् । यच्च श्लेषस्य द्विविधस्य अलंकारान्तराणां प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वं तेन उक्तं तदपि नैवेत्याह—न चेति ॥ अयमिति । 'स्वयं च' इत्यादिः । अत्र हि श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा, श्लेषस्य तु प्रतिभानमात्रेणैवावस्थानम्, उपमैव प्रधानेत्यर्थः । तेन श्लेषाय उपमा, न तु श्लेषेण ॥

ननु, शब्दसाम्यमेव 'स्वयं च 'इत्यादौ दृश्यते, न त्वर्थसाम्यमित्याशङ्क्य शब्दसाम्येऽपि तां समर्थयितुमाह—तथा हीति । 'कमलमिव' इति 'कचति 'इति दीप्यते । यथात्र मनोज्ञत्वगुणदीपनक्रियासाम्ये उभयसाम्येवोपमा उद्भटस्यापि संमता, तथा शब्दमात्रसाम्येऽपि दृश्यते, यथा—'सकलकलम्' इत्यादौ शब्दश्लेषतया संमते परस्य । सह कलकलेन वर्तन्ते, सकलाः कला यस्य च ॥

इत्यादि शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव । तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किं तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ॥ इति ।

न च कमलमिव मुखमित्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तं, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः ।

देव त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥३७९॥

इत्यादौ श्लेषस्य चोपमालंकारविभक्तोऽस्ति विषय इति द्वयोर्योगे संकर एव । उपपत्तिपर्यालोचने तूपमाया एवायं युक्तो विषयः । अन्यथा विषयापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात् । न च

अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका ।

इत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः । न ह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः,

---

'इहापि' इति शब्दालंकारमध्ये । न च साधारणधर्मप्रयोगशून्ये उपमा भविष्यति, मनोज्ञत्वादिसाधारणधर्मसहिते तु श्लेष इति वाच्यम्, यतः पूर्णोपमाया निर्विषयत्वं स्यात् ॥ तर्हि यदाऽस्माकं मते पूर्णोपमाया निर्विषयत्वं तथा भवतां श्लेषस्य निर्विषयत्वमित्याशङ्क्याह—' देव त्वम् ' इति । पाता अलं पर्याप्तं, आशा आस्था दिशश्च । चामरस्य मरुत अमराणां, मरुतां वायूनां च ॥ उपमादि-इति आदि-शब्दाद् विरोधैकदेशविवर्तिरूपकादयः समानन्यायाः संगृहीताः। अत्रोपमाद्यलंकारविविक्तः शब्दश्लेषस्य विषयः कल्पयत इति द्वयोरप्यन्यत्र लब्धसत्ताकयोरेकत्र योगे संकरतैव प्राप्तेत्याह—द्वयोरिति ॥ तस्मात् ' स्वयं च ' इत्यादौ संकर एव स्याद् उद्भटपक्षे, अस्माकं तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा एवाभिप्रेता—इत्याह—उपमाया एवेति ॥ अयमिति ' स्वयं च 'इत्यादिकः ॥

उदाहरणान्तरम् उद्भटसंमतं दूषयन्नाह—न चेति ॥ अबिन्द्विति । ' अप्सु प्रतिबिम्बित इन्दुरबिन्दुः, तद्वत् सुन्दरी '। यस्य अबिन्दुभिः सौन्दर्यं नास्ति तस्याः 25 कथं लावण्यबिन्दवः प्रसरेयुरिति विरोधः प्रधानः । अत्र हि श्लेषस्य प्रतिभानमात्रं, न तु प्ररोह इत्याह— न ह्यत्रेति ॥ द्वितीयार्थस्येति । न बिन्दुरबिन्दुरित्येवंरूपस्य ॥

ननु, द्वितीयार्थप्ररोहेण किं प्रयोजनं, तावतैव श्लेषत्वसिद्धेः । तद् न,

द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावात् । न च विरोधाभास इव विरोधः श्लेषाभासः[६०] श्लेषः । तस्मा[६१]देवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलंकारान्तरमेव । तथा च—

सद्वंशमुक्तामणिः ॥३८०॥

नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान्भवान् ॥३८१॥

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः[६२] ।
अहो दैव[६३]गतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥३८२॥

आदाय चापमचलं कृत्वाहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्य[६४]मभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥३८३॥

एवं हि श्लेषाभासत्वं श्लेषस्य लक्षणं स्यात् । न चैतत् संमतमिति प्रतिपादयन्नाह—न चेति । यथा विरोधाभासो विरोधः, न तथा श्लेषाभासः श्लेषः । उभयार्थप्ररोहे हि श्लेष इत्यर्थः ॥

'सद्वंशे'ति । वंशः कुलं, स एव सद्वंशो वेणुः । यथा 'विद्वन्मानसे' त्यत्र राज्ञो हंसरूपणान्यथानुपपत्त्या विद्वन्मानसस्य मानससरस्त्वं रूप्यते साक्षादनुक्तमपि, एकदेशविवर्ति चेदं रूपकं मानसस्य मानससरस्त्वरूपणायाः साक्षादनुक्तत्वाद्, एवमत्रापि वर्ण्यमानस्य मुक्तामणित्वरूपणान्यथानुपपत्त्या वंशस्य कुलस्य वेणुत्वरूपणमनुक्तमपि गम्यते, एकदेशविवर्तित्वं च पूर्ववद् उद्भावनीयमेकस्मिन् देशे विशेषेण वर्तनात् । एकदेशविवर्तिरूपकस्य चास्य परंपरितरूपकत्वं काव्यप्रकाशकारमते ॥

'श्लोकः कीर्तिश्च'। अत्रोपमेयस्य प्राकरणिकत्वेनोपमानाद् आधिक्यमिति व्यतिरेकेऽष्टमो भेदः । श्लोकशब्दः श्लिष्टः ॥

'अनुरागो लौहित्यं अभिष्वङ्गश्च। आगच्छन्त्या इव संध्यायाः कामुकवद् दिवसः पुरः संमुखं सरतीति व्याख्येयम्, न तु पदातिन्यायेन अग्रे दिवसो गच्छति संध्या पश्चादिति । एवं हि वर्षशतैरपि समागमो न भवतीति किं चित्रम् ।' अत्र संध्यादिवसयोरुपमेययोः 'अनुरागवती' इत्यादिश्लिष्टविशेषणमहिम्ना नायकयोरुपमानयोर्व्यवहारप्रतीतिरिति समासोक्तिरलंकारः ॥

'अचलं पर्वतं निश्चलं च । अहीनां सर्पाणां इनं स्वामिनं, हीनं च । विषमा त्रिरूपाऽस्थिरा च । अच्युतः कृष्णो गतिशून्यश्च ।' एषु चतुर्षु चत्वारोऽलंकाराः, न तु श्लेषस्य सर्वालंकारेषु प्रतिभानमात्रम् ॥

इत्यादावेकदेशविवर्तिरूपकश्लेषव्यतिरेकसमासोक्तिविरोधत्वमुचितं, न तु श्लेषत्वम् ।

शब्दश्लेष इति [६५]चोच्यतेऽर्थालंकारमध्ये [६६]च लक्ष्यत इति कोऽयं नयः । किंच वैचित्र्यमलंकार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रतेति सैवालंकारभूमिः । अर्थमुखप्रेक्षित्व[६७]मेतेषां शब्दानामिति चेदनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालंकाराः किं नोच्यन्ते । रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यविशेषसव्य[६८]पेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रा[६९]सादीनामशब्दालंकारता । शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता । अर्थगुणदोषालंकाराणां शब्दापे[७०]क्षैव स्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् ।

विधौ वक्रे मूर्ध्नीत्यादौ च वर्णादिश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्र[७१]सजतीत्येवमादि स्वयं [७२]विचार्यम् ।

तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८५ ॥

संनिवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्गमुरजपद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् । क[७३]ष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते । [७४]उदाहरणम्—

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
साराब्धस्तवा नित्यं त[७५]दार्तिहरणक्षमा ॥ ३८४ ॥

तथा स्ववचनविरोधोऽपीत्याह—शब्दश्लेष इति ॥ य एवेति, शब्दोऽर्थो वा ॥ तत्रैवेति शब्देऽर्थे वा ॥ 'वैचित्र्यम्' इत्यत्र 'स्वयं च पल्लवाताम्रा' इत्यादावपि शब्द एव कविप्रतिभासंरम्भगोचर इति शब्दालंकारतैव । न चार्थमुखप्रेक्षित्वमेव शब्दानामर्थालंकारनिबन्धनमित्याह—रसादीति । यच्चैकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं संमतम् उद्भटस्य तदपि न युक्तमित्याह—'विधौ वक्र' इति ॥ विचार्यमिति, न तु झगित्येवाम्रयितव्यम् । यत्र तु प्रस्तुताभिप्रेयपरत्वेऽपि वाक्यस्य श्लिष्टपदमहिम्ना वक्ष्यमाणोपक्षेप्यार्थनिष्ठं संसूचकत्वं तत्र शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः, यथा—'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु' इत्यादौ ॥

तच्चित्रमिति । यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिविष्टत्वं, तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारत्वम् ॥

'मारारिः शिवः । रामो मुशली । इभमुखो विनायकः । आसार-

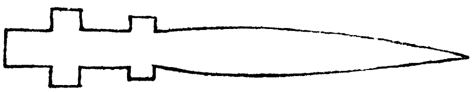
मातानतानां संघट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिजा ॥ ३८५ ॥

खड्गबन्धः

सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।
वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥३८६॥

मुरजबन्धः

तुल्येन वेगेन । सार उत्कृष्टः । तेषां मारारिप्रभृतीनां आर्तिः पीडा । संघट्टः समूहः श्रियाम् । संभ्रमो मोहः । मान्या पूज्या । रामाणां वरवनितानाम् । सीमा पर्यन्तभूः । ततोऽन्या रूपवती न कापीत्यर्थः आदिजा सर्वेषामादिमा ॥'

एतेन श्लोकद्वयेन खड्गः । 

तथा हि द्राढिकान्तरे साधारणो मा-शब्दः । तस्य दक्षिणतोऽधः क्रमेण वर्णाश्चतुर्दश न्यस्येत् । ततः शिखायां साधारणः सा-शब्दः । ऊर्ध्वक्रमेण वामतश्चतुर्दशैव यावन् मा-शब्दः साधारणः । एतत् फलम् ॥ तस्यैव मा-शब्दस्य दक्षिणपार्श्वे निःसरणक्रमेण वामतश्च प्रवेशक्रमेण वर्णाः सप्त सप्त । एषा द्राढिका ॥ ततो मा-शब्दाद् ऊर्ध्वक्रमेण गण्डिकायां कार्या वर्णत्रयी । उपरि मा-शब्दः साधारणः । तस्य दक्षिणतो वामतश्च तथैव चत्वारो वर्णाः । एतच्च कुल्कम् ॥ ततस्तस्य मा शब्दस्य उपरि वर्णद्वयम् । एतद् मस्तकम् ॥ सा-मा-म शब्दा द्विपञ्चकृत्वो द्विरावृत्ताः ॥

'सरले' ति सर्वभाषाभिरमागधिकाभिः शरद्वर्णनोऽयं श्लोकः । 'सरलो दीर्घः । आ समन्तात् प्रभृतेन आरम्भेण चपलानां भ्रमरसैन्यानां आरवः शब्दो यस्याम् । वारलाभिर्हंसोभिर्बहला अमन्दा रणं प्रति सोद्योगाः । करण्डं लान्तीति करला राजानो यस्याः । अबहुलेन शुक्लपक्षेण निर्मला । बहुत्वाल्लातीति बहुला शरत् प्रक्रान्ता ॥ एष मुरजबन्धः । तथा हि पादचतुष्टयेन पङ्क्तिचतुष्टये कृते प्रथमादिपादेभ्यः प्रथमपादाद्यक्षराणि चत्वारि, चतुर्थादिपादेभ्यः पञ्चमादीनि चत्वारि गृहीत्वा प्रथमपादः । द्वितीयपादाद् आद्याक्षरं, द्वितीयतृतीयपादाभ्यां चतुर्थपञ्चमाक्षरे, चतुर्थपादात् तृतीयद्वितीये, तृतीयात् पादात् प्रथमं चाक्षरं गृहीत्वा द्वितीयपादः । द्वितीयाद् अष्टमं, प्रथमात् सप्तमषष्ठे, द्वितीयतृतीयाभ्यां पञ्चमे, चतुर्थात् षष्ठसप्तमे, तृतीयाद् अष्टमं गृहीत्वा तृतीयपादः । चतुर्थात् प्रथमं, तृतीयाद् द्वितीयं, द्वितीयाद् तृतीयं, प्रथमात् चतुर्थपञ्चमे, पुनर्द्वितीयात् षष्ठं, तृतीयात् सप्तमं, चतुर्थाद् अष्टमं च गृहीत्वा चतुर्थः पादः ॥

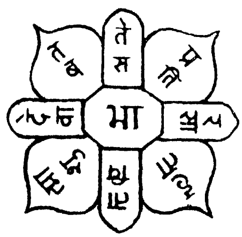
भासते प्रतिभासार रसाभाता हताविभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥३८७॥

पद्मबन्धः

रसासार रसा सारसायताक्ष क्षतायसा ।
सातावात तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ॥३८८॥

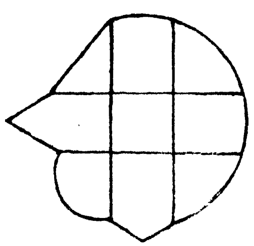
सर्वतोभद्रम् ।

भासते इति । 'हे प्रज्ञातिशयोत्कृष्टवादे रसेन आ समन्तात् भाता दीप्ता हताऽविभाऽशोभा यया भावितात्मा एकाग्रीकृतहृदया वादे एव देवैर्विजिगीषुभिः पण्डितैराभा यस्या।' 'बते'त्याश्चर्ये निपातः। एषोऽष्टदलपद्मः। तथा भा-शब्दः कर्णिकास्थाने, ततोऽक्षरद्वयेनैकं दिग्दलं निर्गमप्रवेशाभ्यां भा-शब्दं



यावत् । ततोऽक्षरद्वयेन विदिग्दलं निर्गमेण तावतैव दिग्दलं प्रवेशेन भा-शब्दं यावत् । पुनर्भा-शब्दो निर्गमेण च तदेवाक्षरद्वयमित्यादिना क्रमेण दलाष्टकमुत्पाद्यम् । एवं दिग्दलानि निर्गमप्रवेशाभ्यां उत्पाद्यानि, विदिग्दलानि तु प्रवेशेनैवेति दिग्दलवर्णानां द्वि-भा-शब्दस्य चाष्टकृत्व आवृत्तिः प्रस्तारे ॥

'रसे'ति । कोऽपि राजानमाह, यथा—'हे सार तव रक्षतः पालयतः सा रसा पृथ्वी । सारसास्तु । आयताक्षविस्तीर्णनयन । क्षत आयोऽर्थागमो यैस्तान् स्यति विनाशयति । सातं सुखं । अवति रक्षति अतति नित्यमुद्यमं भजते । नास्ति तास उपक्षयो यस्याः । तक्षणं तक्षस्तनूकरणं न तक्षोऽतक्षो वृद्धिस्तां राति ।' 'रक्षतस्तु' इति 'तु' शब्दो व्यतिरेके । अत्र न केवलमधोऽधः-क्रमेण स्थितानां पदानां प्रातिलोम्येनापि स्थितिर्यावद् अर्धभ्रमस्यापि । तत्र हि



प्रथमादिपादाद्यक्षराणि चतुर्थतृतीयद्वितीयप्रथमपदाष्टमाक्षराणि च प्रथमाः प्रथमपादः । प्रथमादिपादद्वितीयाक्षराणि च चतुर्थादिपादसप्तमाक्षराणि च द्वितीयपादः । एवं तृतीय-षष्ठाक्षरैस्तृतीयः पादः, चतुर्थपञ्चमैश्चतुर्थः पादः । इह च सर्वं [त]दैव उपलभ्यत इति अर्धभ्रमस्याप्यवस्थानात् सर्वतोभद्रम् । यदुक्तम्—

तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ॥

संभविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न दर्श्यन्ते ।

अन्ये इति, **मुशलधनुर्बाणशक्तिहलशूलस्वस्तिकनागपाशचक्रादयः । स्वर-व्यञ्जनस्थानगतिनियमेऽन्येऽपि चित्रप्रकाराः संभवन्ति । तत्र स्वरनियमे, यथा—**

जय मदन-गजदमन वरकलभगतगमन
गतजननगदमरण भवभयगतरशरण । **ह्रस्वैकस्वरम्** ॥

ह्रस्वत्रिस्वरं, यथा—

क्षितिविजितस्थितिविहितिव्रतरतयः परगतयः ।
उरु रुरुवुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिबलम् ॥

एवं दीर्घैकस्वरादिनियमेऽपि । व्यञ्जनचित्रं 'ननो न नुन्न' इत्यादौ । एवं द्वित्र्यादिव्यञ्जननियमोऽपि 'भूरिभिर्भरिभिः' इत्यादौ । स्थानमुरः-कण्ठादि तच्चित्रं, यथा 'अगगाङ्गागकक्काका' इत्यादौ कण्ठस्थानम् । एवं द्वित्र्यादिस्थाननियमेऽपि । गतिर्गतप्रत्यागतादिका, तच्चित्रं, यथा—

वारणागगभीरा सा साराऽभीगगणारवा ।
कारितारिवधा सेनाऽनासेधा वरितारिका ॥

'करिगिरिदुर्विगाहा उत्कृष्टा । अभीगानां अप्राप्तभयानां भटसमूहानां जयध्वनिना युक्ता । विहितशत्रुक्षया । स्वार्थे णिच् । अविद्यमान आसेधा यस्याः । 'मया सह युध्यध्वम्' इति वरिताः प्रार्थिता अरयो यया । सा यदूनां सेना द्विषतां बलं प्रयाता इति पूर्वेणाभिसंबन्धः ॥ अत्र अयुक्पादयोर्गतिर्युक्पादयोः प्रत्यागतिरर्धे, ते एवेति पादगतप्रत्यागमः । एवं अर्धगतप्रत्यागतश्लोकगत-प्रत्यागतार्धभ्रमतुरगपदगोमूत्रिकादीनि । तथा मात्रार्धमात्राबिन्दुवर्णगतत्वेन च्युतं चतुर्धा । तत्र मात्राच्युतं, यथा—

नियतमगम्यदृश्यं भवति किल त्रस्यतो रणोपान्तम् ।
कान्तो नयनानन्दी बालेन्दुः खे न भवति सदा ॥

अत्र मात्राया इकाररूपायाश्च्यवनेऽन्य एवार्थो भवति । यथा कलत्रस्य तोरणनिकटं राजपथो गन्तुं द्रष्टुं वा अशक्यो भवति, कुलवधूत्वात् । वेश्या हि हट्टं गच्छन्ति पश्यन्ति च । अत्र च मात्रापगमेऽपि अकारान्तत्वावस्थितिरुच्चारणार्थत्वाद् अकारस्य मातृकायामपि । तथा 'न्दु' इत्यत्र नकारो व्यञ्जनं च्युतमित्यर्थमात्राच्युतमपि । तथा च सत्यर्थान्तरं स्यात् । यथा काचित् सखीमाह—

'हे मुग्धे कान्तो वल्लभो नयनानन्दी क्लेशेन भवति, तस्माद् मा एनं तिरस्कार्षी'रिति शेषः ॥ बिन्दुच्युतं यथा–'सहंसानली तारा' इति 'सह कासेन विकासेन' इत्यपि ॥ वर्णच्युतं यथा—

सितनृशिरः स्रजा [च] रविमौलिशिरोमणिभूषणैस्तया
शिखिरुचिरार्धदृक् पृथुललाटतटे तिलकक्रिया च सा ।
स्फुटविकटाट्टहासललितं वदनं स्मितपेशलं च तद्
अभिनवमीश्वरो वहति वेषमहो तुहिनाद्रिजार्धयुक् ॥

अत्र गौरीश्वरवर्णने सिद्धिच्छन्दसि प्रतिपादमाद्याक्षरद्वयपातेऽन्त्याक्षरसप्तकच्युतौ चेश्वररूपवर्णनमेव प्रमिताक्षरावृत्तेन, यदि वा आद्याक्षरसप्तकच्युतौ अन्त्याक्षरद्वयपाते च गौरीवर्णनं द्रुतविलम्बितवृत्तेन ॥

गूढं च क्रियाकारकसंबन्धपादविषयत्वेन चतुर्धा ज्ञेयं, यथा—

पिबतो वारि तवास्यां सरिति शरावेण पातितौ केन ।
वारि शिशिरं रमण्या रतिखेदादपुरुषस्येव ॥ '

'अपुरुषस्य पथे 'ति । क्रियात्र गोपिता । शीतलं जलं प्रातरेव अपुः पपुरिति प्रकटम् ॥ कोऽपि कंचिदाह–शरावेण पात्रेण पिबतः केन पातितौ । कौ इति साकाङ्क्षत्वात् कर्मात्र गूढमिति । कारकगूढमपि–हे एण शरौ बाणौ इति प्रकटम् ॥

संबन्धगूढं, यथा—

न मयागोरसाभिज्ञं चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि ।
अस्थानरुदितैरेभिरलमालोहितेक्षणे ॥

अत्र 'न मे चेत आगोरसाभिज्ञम्' इति संबन्धगूढम् ॥

पादगूढं, यथा—

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहितश्रुतिः । हैमेषु माला शुशुभे ॥

अत्र विद्युतामिव संहतिरित्यस्य गूढत्वम् ॥ एवं प्रश्नोत्तरप्रहेलिकाश्च । यथा–

उद्यन् दिवसकरोऽसौ किं कुरुते कथय मे मृगायताक्षि ।
कथयानिन्द्राय तथा किं करवाणि क्षणि तु कामः ॥

अन्यः प्रतिप्रश्नपूर्वमुत्तरमाह—

अहिणवकमलदलारुणि णमोणुफुरन्तेण केण ।
जाणिज्जइ तरुणीअण हुणिद्दा भणु अहरेण ॥

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।

एकार्थतेव

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेककार्यत्वेन वाऽऽमुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः । स च

शब्दस्य

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः । उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥३८९॥
चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥३९०॥

मूर्खत्वात् पाशत्वेन इन्द्रस्तस्मै मनुष्याय मह्यम् ॥

'स्निग्ध भणे' त्यन्तस्य प्रश्नत्रयस्योत्तरम् । 'अहरेणे'ति हे एण अहः । अहरेऽनिन्द्र अण शब्दं कुरु । 'अधरेणे'ति, एतदनेकभाषमनेकवक्तृकं च ॥

प्रहेलिका, यथा—

पयस्विनीनां धेनूनां ब्राह्मणः प्राप्य विंशतिम् ।
ताभ्यो दश स विक्रीय गृहीत्वैकां समागतः ॥

धेन्वा ऊनाम् ॥ एवमन्येऽपि प्रकारा अभ्यूह्याः ॥८३॥

आमुखे इति, न पुनः परमार्थतः पर्यवसानेऽन्यार्थत्वमित्यर्थः ॥ अर्थपौनरुक्त्यं दोषः; आमुख्यावभासनं तु पुनरुक्तवदाभासोऽलंकारः ॥ अर्थपौनरुक्त्यादेवाश्रितत्वाद् अर्थालंकारोऽयमिति केचिद् इत्याशङ्क्याह– शब्दस्य [इति] । शब्दालंकारोऽयमित्यर्थः ॥

'अरिवधदा ईहा चेष्टा येषाम्, एवंभूतान् शरिणो धानुष्कान् ईरयति यः । सूतो बन्दी । सतामानत्या हेतुभूतया । स्थिरतायां सत्यामगः पर्वततुल्यः ॥ अङ्गनेषु आरामा उपवनानि ॥ अत्रैकार्थतया प्रतिभातौ देह–शरीरशब्दौ अनर्थकौ सभङ्गौ, सारथि-सूतशब्दौ तु सार्थकौ अभङ्गौ । तथा दान–त्यागशब्दौ अनर्थकौ सभङ्गौ, अङ्गना-रामा इत्येतौ त्वनर्थकौ अभङ्गौ, देहशरीरादिशब्दवन्निजेनैव रूपेणावस्थितयोरनयोर्भङ्गाभावात् । उपलभ्यमानसुपामपि शब्दानामामुखे पौनरुक्त्यं प्रतिभासत इत्यभिसंधाय 'तस्य' इत्युदाहृतम् ॥ सुमनसः शोभनचित्तस्य । सुमनसो देवा विबुधाश्च । त एवेत्येकार्थताभ्रमः ॥ एतत् सुबन्ता-

तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

उदा[८५]हरणम्—

तनुवपु[८६]रप्यन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः ।
तेजोधाम महःपृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥३९१॥

अत्रैकस्मिन्पदे परिवर्तिते नालंकार इति शब्दाश्रयः, अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयत इत्यर्थनिष्ठ इत्युभयालंकारोऽयम् ॥

इति काव्यप्रकाशे शब्दालंकारनिर्णयो नाम
नवमोल्लासः समाप्तः ॥

पेक्षया, तिङन्तापेक्षया यथा—

सत्त्वं सम्यक् समुन्मील्य हृदि भासि विराजसे ॥

'हृदि विगत-रजोविकारे हृदि सत्त्वाख्यं गुणं प्रकाश्य शोभसे'। अत्र भासि-विराजसे-शब्दौ सार्थकौ अभङ्गौ ॥

'तनु स्वल्पम् । करिकुञ्जरा गजश्रेष्ठाः । वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्' इति समासः ॥ बहूनामपि पुनरुक्तवदाभासो लक्ष्यते—'तेज' इति । 'तेजसो धामानि आश्रयाः तेजस्विनः, तेषां मह उत्सवः । इन्द्रः स्वामी । हरिः सिंहः । जिष्णुर्जयनशीलः ॥ अत्रैकेति । तनुशब्दपरिवृत्तौ कृशशब्दे सति नायमलंकार इति शब्दालंकारः, शब्दान्वयव्यतिरेकात् । वपुःशब्दपरिवृत्तौ अङ्गशब्दे च न हीयतेऽलंकार इति अर्थालंकारोऽयम् । एवं 'करिकुञ्जर' इत्यत्रापि कुञ्जर शब्दपरिवृत्तौ पुंगवशब्दे सति नायमलंकार इति शब्दालंकारः । करि-शब्दस्थाने तु गजशब्दे सति न क्षीयतेऽलंकार इति अर्थालंकारोऽयम् । 'रुधिर-रक्त' इत्यत्रापि रक्त-शब्दपरिवृत्तौ लिप्तशब्दे सति नायमलंकारः । रुधिर-शब्दपरिवृत्तौ शोणित-शब्दे सति न क्षीयतेऽलंकार इति अर्थनिष्ठत्वम् । एवं च शब्दभेदेऽर्थानामभिन्नत्वे इव पुनरुक्ताभासः, शब्दार्थयोश्चाभेदे तात्पर्यमात्रभेदे लाटानुप्रासः, भिन्नार्थानां च श्रुतिक्रमैक्ये यमकम्—इति विवेकः ॥

इति भट्टश्रीसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते
नवम उल्लासः ॥

अर्थालंकारानाह—

साधर्म्यमुपमा भेदे,

उपमानोपमेययोरेव, न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं

शब्दालंकारानुक्त्वा अर्थालङ्कारान्—

'उपमाऽनन्वयोत्प्रेक्षा ससंदेहोपमोपमा ।
रूपकापह्नुती श्लेषः समासोक्तिर्निदर्शना ।
तथाऽन्योक्तिरतिशयोक्तिश्च वस्तूपमा द्विधा ।
दृष्टान्तो दीपकं मालादीपकं तुल्ययोगिता ।
व्यतिरेको द्विधाऽऽक्षेपो विशेषोक्तिर्विभावना।
जातिरर्थान्तरन्यासो यथासंख्यं विरोधमुक् ।
व्याजस्तुतिः सहोक्तिश्च परिवृत्तिर्विनोक्तितः ।
भाविकं काव्यलिङ्गं च पर्यायोक्तमुदात्तवत् ।
समुच्चयोऽथ पर्यायः परिकरोऽनुतानतः ।
व्याजोक्तिः परिसंख्याऽन्योन्योत्तरे कारणस्रजा ।
सूक्ष्मसाराऽसंगतयः समाधिर्विषमं समम् ।
अधिकं प्रत्यनीकं च मीलितैकावली स्मृतिः ।
भ्रान्तिमांश्च प्रतीपे द्वे सामान्यं च विशेषवत् ।
अतद्गुणस्तद्गुणो व्याघातसंसृष्टिसंकराः ॥

एतान् द्वाषष्टिं क्रमेणाह—साधर्म्यमिति । समानो धर्मो ययोस्ते सधर्मणी तयोर्भावः । उपमैव प्रकारवैचित्र्येण अनेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टः [शा] ॥ उपमानेति । उप समीपे मीयते क्षिप्यते स्वसादृश्यमापणाद् उपमेयं येन तत् प्रसिद्धम् उपमानम् । यत्तु तेन समीपे क्षिप्यते सौन्दर्यादिगुणयोगित्वेन तत्र प्रकरणेऽप्रसिद्धं वदनादि तद् उपमेयम् । 'इन्दुमुखी' इत्यादौ प्रसिद्धं चन्द्रादि उपमानं, अप्रसिद्धं तु मुखादि उपमेयम् ॥

ननु च—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥

—इत्यादौ कामिनीगण्डादेरप्रसिद्धस्याप्युपमानत्वं, चन्द्रादेश्च उपमेयत्वं

भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण संबन्ध उपमा । भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय ।

पूर्णा लुप्ता च,

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

साग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥८७॥

अग्रिमा पूर्णा । यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमान-

दृश्यते । सत्यम् , अत्रापि कामयते प्रियमिति यौगिकत्वाश्रयेण कामिनीशब्दात् प्रतीयमानहृदयस्थितदुर्लभमनोहारिप्रियतमाया गण्डश्चन्द्रादपि अधिकचमत्कारितया प्राधान्येन प्रसिद्ध इति कविविवक्षावशादेव प्रसिद्ध्यप्रसिद्धी अङ्गीक्रियेते । येऽपि प्राकरणिकमुपमेयं, अप्राकरणिकमुपमानमिति आद्रियन्ते तैरपि कविप्रसिद्धिरङ्गीकार्यैव । तेन सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिसाधर्म्ये नोपमा । तथा 'कुम्भ इव मुखम्' इत्यादि शृङ्गारादौ च । हास्यादौ तु न दोषः । कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यस्य असंभवाद् उपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानधर्मेण संबन्धे उपमा । साधर्म्यं च देशादिभिर्भिन्नानां गुणक्रियादिसाधारणधर्मवत्त्वमित्याह–भेदग्रहणमिति । भेदे हि एकस्यैव उपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो वक्ष्यते । तत्र देशेन उपमानोपमेययोर्भेदः, यथा 'मथुरेव पाटलिपुत्रमाढ्यजनपदम्' । कालेन यथा 'वसन्त इव हेमन्तः कामिनीसुखहेतुः' । गुणेन, यथा 'गौरीव श्यामा सुभगा' । क्रियया, यथा 'नृत्तमिव गमनमस्याः सविलासम्'। जात्या, यथा 'विप्र इव क्षत्रियः श्रोत्रियः' । द्रव्येण, यथा 'शिव इव केशवः पूज्यः' । समवायेन, यथा 'विषाणित्वमिव दंष्ट्रित्वं हिंस्रम्' । अत्र 'समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभिधानम्' इति वचनात् समवायस्य संभवाद् यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्व–तलाविति त्वप्रत्ययेन समवायस्याभिधानम् । तस्य च सत्यप्येकत्वे उपाधिनिबन्धनं भेदकल्पनम् । ततश्च विषाणोपाधिकः समवाय उपमानं, दंष्ट्रोपाधिकस्तु उपमेयः । अभावेन, यथा 'मोक्ष इव समाधौ दुःखाभावः' । मोक्षे दुःखाभाव इव समाधौ दुःखाभाव इत्यर्थः ॥

धर्मो मनोज्ञत्वादिः, उपमावाचका इव–वा–यथाशब्दाः । यदुक्तम्—

तामतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणा एते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत्संबन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा । तथैव, 'तत्र तस्येव' (पा० सू० ५ । १ । ११६) इत्यनेनेवार्थे

इव-वद्-वा-यथा-शब्दाः समान-निभ-संनिभाः ।
तुल्य-संकाश-नीकाश-प्रकाश-प्रतिरूपकाः ।
प्रतिपक्ष-प्रतिद्वन्द्वि-प्रत्यनीकविरोधिनः ।
सदृक्-सदृश-संवादि-सजातीयानुवादिनः ।
प्रतिबिम्ब-प्रतिच्छन्द-सरूप-सम-सप्रभाः ।
सलक्षण-सदृक्षाभाः सपक्षोपमितोपमाः ।
कल्प-देशीय-देश्यादि प्रख्य-प्रतिनिधी अपि ।
सवर्ण-तुलितौ शब्दौ ये च तुल्यार्थवाचिनः ।
समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु ।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ।
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।
विडम्बयति संधत्ते हसतीर्ष्यत्यसूयति ।
तस्य पुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विलुम्पति ।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति ।
तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते ।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति ।
तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचिनः ॥

उपमानादिचतुष्टयं यत्र प्रयुज्यते सा पूर्णोपमा । यथा 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यादि । उपमानस्य चन्द्रादेर्विशेषणा उपमानतया विशेषरूपया व्यवस्थापकाः ॥

श्रुत्यैवेति । अभिधाव्यापारेण । यथा षष्ठी यत उत्तरा तदेव विशिनष्टि अत्यैव संबन्धमुभयाधारमभिधत्ते, तथैव अयं यथा–इवादिरुपमानोपमेययोरेकतरस्मिन्नपि अविश्रान्तः श्रौतेन रूपेणोभयाधारमुपमानोपमेयभावं द्योतयतीति श्रौती ॥ तत्सद्भावे, यथा–इव–वा–सद्भावे ॥ तथैवेति, 'श्रौती'त्यर्थः । इवार्थे वतेर्विहितत्वाद् इव–शब्दवच्छ्रौतेन रूपेणोभयानुयायितयोपमानोपमेयत्वावगतिः ॥ 'तेन 'इति चन्द्रेण तुल्यं मुखम् ॥ 'तद् 'इति चन्द्रबिम्बं तुल्यं मुखस्य ॥

विहितस्य वतेरुपादाने। 'तेन तुल्यं मुखम्'–इत्यादावुपमेय एव, 'तत्तुल्यमस्य'–इत्यादौ चोपमान एव, 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिपदोपादान आर्थी। तद्वत्, 'तेन तुल्यम्' (पा० सू० ५।१।११५) इत्यादिना विहितस्य वतेः स्थितौ।

'इवेन 'विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति नित्यसमास इवशब्दयोगे समासगा।

क्रमेणोदाहरणम्—

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥३९२॥

चकितहरिणलोललोचनायाः
क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः
सममिति चेतसि संमदं विधत्ते ॥३९३॥

'इदं च'इति चन्द्रबिम्बं च मुखं च तुल्यम्॥ साम्यपर्यालोचनयेति। सममेव साम्यं साधारणो धर्मः। तुल्यता द्विष्ठरूपं सादृश्यम्। न तु तुल्यादिशब्दादेव साम्यप्रतीतिः, अपि तु अर्थात्, तुल्यादीनां पदानामुपमानोपमेययोरेकतरत्रैव विश्रान्तेः, अन्यत्र तु तद्गतसादृश्यपर्यालोचनया तत्संबन्धित्वावगतिः, तेनासौ आर्थी॥ तद्वदिति, आर्थीत्यर्थः॥

ननु. समासोपमा श्रौती कथं स्यात्, न हि इवेन सह समासो घटते–इत्याशङ्क्य इवेन सह समासप्रतिपादकं 'कु–गति–प्रादय' इति सूत्राश्रितं वक्तव्यमाह वृत्तिकारः–'इवेने'ति॥

वाक्ये पूर्णोपमा श्रौती, यथा–'स्वप्नेऽपि'इति। अत्र 'श्रीः'इति उपमेयं, 'स्वाधीनपतिका' इति उपमानं, मोचनलक्षणः साधारणो धर्मः, 'यथा' इति उपमावाचकम्॥

वाक्ये आर्थी पूर्णा, यथा–'चकिते'ति। 'तरुणारुणेन तरुणारुणवच्च तारा विसर्पिणी मनोहारिणी कान्तिर्यस्य तत् तथा पद्मं मुखं च'। अत्रापि

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥३९४॥

अवितथमनोरथपथ-
प्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृशः स भवा-
नभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य ॥३९५॥

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत्।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥३९६॥

पूर्ववद् उपमेयादि। सम-शब्दश्चात्र उपमाने उपमेये च विश्रान्तः, तेन चोभयत्र विश्रान्तेनापि उपमानोपमेययोरेकतरस्य सादृश्यमर्थादेव गम्यते॥

समासे श्रौती पूर्णा, यथा-'अत्यायतै'रिति। 'भुजैरिव' इत्यत्र 'इवेन' इत्यादिना नित्यसमासः। ये तु इवेन नित्यसमासं नेच्छन्ति तन्मते वाक्योपमेयम्॥

समासे आर्थी पूर्णा, यथा-'अवितथे'ति। 'सुरतरुणा सदृश' इति सदृश-शब्देनोपमेये विश्रान्तेन उपमेयगतं सादृश्यं स्वकण्ठेनाभिहितम्। उपमाने च तस्यार्थात् प्रतिपत्तिः, उपमेयवर्तिसादृश्यविचारेण उपमानोपमेयत्वावगतेः। बहुव्रीहौ तु उपमाने विश्रान्तेरुपमानगतसादृश्यपर्यालोचनया उपमेयस्य उपमेयत्वावगतिः॥

तद्धिते श्रौती पूर्णा, यथा-'गाम्भीर्ये'ति। 'भुजंगवद्' इत्यत्र 'तत्र तस्यैव' इत्यनेन वतेस्तद्धितस्य विहितत्वात् श्रौती। भुजंगः कामुकः, स चात्र अब्धिः। अम्बररत्नं सूर्यः। तथा 'सूर्य' उपमानं, 'स' इति उपमेयः, 'दुरालोकत्वं' साधारणो धर्मः। अम्बररत्नेन तुल्यः, 'तेन तुल्यं क्रिया चेत् वतिः' इत्यनेन क्रियातुल्यत्वे विहितो वतिरुपमेये शाब्देन वृत्तेन विश्रान्तस्तुल्यत्वपर्यालोचनया उपमानस्य उपमानत्वं गमयतीति॥

तद्धिते पूर्णा आर्थी चोपमा, यथा क्रियातुल्यत्वे 'ब्राह्मणवद् अधीते क्षत्रियः' इत्यत्र उपमेये यद् अध्ययनक्रियाद्वारेण विश्रान्तं तुल्यत्वं तत्पर्यालोचनया अर्थाद् उपमानत्वावगतिः। एवमन्यत्रापि॥

स्वाधीन[१२]पतिका कान्तं [१३]भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूस्तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम् , वैचित्र्यं चालंकारः, तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव । रसा[१४]दिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलंकारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीत्यगणयित्वैव[१५] तदलंकारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तूदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम् ॥

तद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः। तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव । तेन पञ्च ।

उदा[१६]हरणम्—

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृतं यथा ॥३९७॥

स्फुटं चेत् प्रतीयमानं तदा ध्वनिव्यवहारः, अथ अस्फुटं तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहार इत्याशयेनाह—स्वाधीनेति ॥ अलंकारान्तरं चेति । तद्धि अनुप्रासादिश्लिष्टतरमपि काव्ये यदि अव्यभिचारितयैव गण्यते, तदा तेन सहोपमादीनां संकरसंसृष्टी स्यातामिति केवलतयैव एषां विनावकल्पेत ॥ तदिति । स चास्फुटतरो रसादिरर्थस्तथा 'अलंकारान्तरम्' इति नपुंसकैकशेषः। अस्फुटश्च रसादिर्गुणीभूतविषय इति अस्फुटतरोऽत्र गृह्यते, इति 'संस्पर्श' पदेनात्र ध्वनितम् ॥ तद्रहितत्वेनेति । रसाद्यलंकारान्तराभ्यां विना वैरस्यं वहन्तीति न विरोधः ॥८५॥

लुप्तामाह—तद्धर्मेति । पूर्णोपमावद् लुप्तोपमापि वाक्यसमासयोः श्रौत्यार्थी चेति द्वि-द्विभेदा; तद्धिते तु आर्थ्येव, न श्रौती; इत्येकस्य धर्मस्य लोपे पञ्चभेदा ॥

वाक्ये श्रौती लुप्ता, यथा—'धन्यस्ये'ति । ' 'करणीयम्' काव्यव्यापारः। 'सत्यम्' इति निर्मिथ्यम्। 'त्रितयमपि तथाह्लादकं यथामृतम् इत्याह्लादकत्वादिधर्मलोपः ॥

आकृष्टकरवालोऽसौ संपराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥३९८॥

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ॥३९९॥

उपमानानुपादाने वाक्यगाथ समासगा ॥८८॥

सँअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अहवणिसुम्मइ सरिसं अंसंसमित्तेण ॥४००॥

वाक्ये आर्थी, यथा – 'आकृष्टे'ति । अत्र 'कृतान्तेन समः' इत्यत्र उपमेये एव सदृशत्वलक्षणस्य स्वार्थस्य विश्रान्तिः, तेन तत्सद्भावे आर्थी । तथा क्रूरादिधर्मो नोपात्तः ॥

समासे श्रौती, यथा—'करवाले'ति । अत्र 'इवेने'ति वक्तव्यबलाद् नित्यसमासः, 'दारुणः' इति धर्मलोपश्च ॥

समासे आर्थी, यथा—'अमृतोपमा' इति । अत्र 'माधुर्यादि'-धर्मलोपः ॥

तद्धिते आर्थी, यथा—'विषकल्पम्' इति । 'यदि वेत्सि तद् जीवसि' इति संबन्धः ॥ अत्र दारुणधर्मलोप इवार्थश्च कल्पप्प्रत्ययेन साक्षाद् अभिहितः । 'ईषद् अपरिसमाप्तं विषम्' इति वचनवृत्त्या सामानाधिकरण्यरूपया यद्यपि रूपकच्छायां भजते, तथापि प्रातीतिकेन रूपेण उपमैव । तथा हि अत्र 'विष-सदृशं मनः' इत्ययमर्थः प्रतीयते, न तु 'ईषद् अपरिसमाप्तं विषमेव' इति ईषदपरिसमाप्तिविशिष्टे प्रकृत्यर्थसदृशेऽर्थे कल्पबादीनां स्मरणात् ॥

ननु, 'विषकल्पं मनः' इति सामानाधिकरण्यं मनःशब्देन प्राप्नोति, तस्यार्थान्तरवाचित्वात् । सत्यम, यथा परिहृतस्वार्थः स्वार्थगतगुणमात्रप्रत्यायके गोशब्दः सदृशगुणवति वाहीके वर्तत इति स्यात् सामानाधिकरण्यं गौर्वाहीक इत्यत्र गोगुणसदृशगुणो वाहीक इत्यर्थात्, तथा गुणहीनविषजातीयवाची विषकल्पशब्दः सदृशजातो मनसि वर्तिष्यत इति स्यात् सामानाधिकरण्यम् । गुणहीनं हि विषं विषकल्पशब्देन उच्यते। न च गुणहीनेन विषेण विषजातीयेन तुल्यं मन इति तदपि विषशब्देन अभिधायिष्यते, विषजातीयसदृशजाति मन इत्यर्थात् ॥

वाक्ये उपमानलोपे लुप्ता, यथा—'सअले'ति। 'सरसकाव्यस्य सदृशं

कव्वस्सेत्यत्र कव्वसममिति, सरिसमित्यत्र च णूणमिति पाठे एषैव समासगा ।

वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।

कर्मकर्त्रोर्णमुलि

वाशब्द उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे पद् समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचि, कर्तरि क्यङि, कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुलि च भवेत् ।

उदाहरणम् ,—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥४०१॥

तथा -

असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०२॥

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य लसितानि सपत्नसेना ॥४०३॥

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसंचारं संचरत्यवनीपतिः ॥४०४॥

सकलेन्द्रियाणां परनिर्वृतिपदं अंशांशमात्रेण नोपलभ्यते, न वा श्रूयते' । अत्र यद्यपि सदृशशब्दाभिधेयस्य उत्कृष्टतरगुणत्वेन अप्राप्यताप्रतिपादनाद् उपमानत्वं बलाद् आयातं, तथापि तस्य साक्षाद् अनिर्देशाद् उपमानस्य लोपः ॥ एषैव 'कव्वसमम्' इति कृते समासगा ॥८६॥

उपमावाचकलोपे लुप्तामाह—'वादेरि'ति । 'णमुल्य'न्तं सूत्रम् ॥

'तत' इति । अत्र समासे उपमावाचकलोपः ॥

'असिते'ति । अत्र उपमानोपमेययोरेकपदानुप्रवेशः, पूर्वत्र तु ते पृथग् निर्दिष्टे इति विशेषात् पुनरुदाहृतम् ॥

कर्मणि क्यचि 'पौरं सुतीयती'ति । 'आधारेऽन्तःपुर इवाचरति अन्तःपुरीयती'ति ॥ कर्तरि क्यङि 'नारीयत' इति ॥

'मृधे निदाघे'ति । अत्र नित्यसमासे कर्मकर्त्रोर्णमुलि इवलोपः ॥

एतद्विलोपे क्विप्समासगा ॥८९॥

एतयोर्धर्मवाद्योः । उदाहरणम्,—

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥४०५॥

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।
संपराये प्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥४०६॥

धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

उदाहरणम्—

ढुण्ढुल्लिन्तु मरीहसि कण्टयकलिआइँ केअइवणाइँ ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो न पाविहिसि ॥४०७॥

'कुसुमेण समम्' इति पाठे वाक्यगा ।

क्यचि वाद्युपमेयासे

आसे निरासे ।

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०८॥

अत्रात्मा उपमेयः ।

एतदिति । **एतयोर्विलोपे** । केचित्तु '**एतयोर्लोप** इत्याहुः ॥

क्विबन्ते 'सविते'ति । **अत्र नामधातुवृत्तौ धर्मस्य उपमावाचकस्य च लोपः ॥**

समासे, यथा—'परिपन्थी'ति । **अत्र 'राजा कुञ्जर इवे'ति समासे धर्मस्य इवस्य च लोपः ॥८७॥**

वृत्ताविति समासे ॥ 'ढुण्ढुण्णन्तु' **परिभ्रमन् मरिष्यति 'मालतीकुसुमसदृक्षम्,' इति सदृक्षशब्दाभिधेयस्य उत्कृष्टतरगुणत्वप्रतिपादनाद् बलाद् आगतस्य उपमानस्य साक्षाद् अनिर्देशाद् उपमानस्यैव लोपः ॥**

वाक्ये 'कुसुमेण समम्' इति ॥ उपमेयोपमावाचकयोस्तु वाक्ये लोपो न संभवति ॥

उपमावाचकोपमेयलोपे लुप्तामाह—क्यचि वेति ॥ **'सहस्रायुधी' त्यत्र नामधातुवृत्तौ सहस्रायुधमिवात्मानं आचरतीति आत्मा उपमेयः, स च इवादिश्च लुप्तः, आचारलक्षणश्च समानो धर्मः क्यच्प्रत्ययेन साक्षाद् अभिहितः, तस्य तत्रैव विधानात् ॥**

त्रिलोपे च समासगा ॥९०॥

उ[४३]दाहरणम्—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासविलब्धविग्रहा ।
स्मरश[४४]रविसर[४५]ारितान्तरा मृगनयना न[४६]यते मुनेर्मनः ॥४०९॥

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिना यदा समासलोपौ[४७] ।

क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाध्यवसा[४८]यात्, अयःशूलेनान्विच्छति 'आयःशूलिकः'—इत्यतिशयोक्तिर्न तु क्रूराचारोपमेयतैक्ष्ण्यधर्मवादीनां लोपे त्रिलोपेय[४९]मुपमा । एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

धर्मवाद्युपमानानां त्रयाणां लोपे लुप्तामाह—त्रिलोप इति । विलासाय विलब्धो दत्तो विग्रहो यया । विशरारितं विभिन्नम् । 'स्मरशरविशरांचित' इति पाठान्तरम् । 'मृगस्य नयने' इति प्रथमं तत्पुरुषः, ततो 'मृगनयने इव नयने यस्याः' इति सप्तम्युपमानोपमानपूर्वस्य समास उत्तरपदलोपश्चेत्यत्र गुणद्योतकोपमानानां त्रयाणां लोपः । यदा तु मृगशब्द एव लक्षणया मृगनयनवृत्तिः, तदा मृग एव नयने यस्या इति रूपकसमासस्यैष विषयः, न त्वस्य उपमासमास्येति नास्ति स्थानमुपमायास्त्रिलोपिन्याः । अत एवोक्तं 'यदा समासलोपौ' इति । 'तदा त्रिलोपे समासगा इति योगः ॥ केचित्तु 'अयःशूलिकः' इत्यादौ क्रूराचारोपमेयस्य तैक्ष्ण्यधर्मस्य इवादीनां च लोपे त्रिलोपिनीमुपमामाहुः, तन्न युक्तमित्याह वृत्तिकारः—क्रूरस्येति । क्रूराचारोऽर्थान्वेषणोपायादिः अयःशूलतयाऽध्यवसीयत इत्यतिशयोक्तिरेवेयम् ॥ न तु क्रूरेति । तथा हि 'अयःशूलम्' उपमानं 'अर्थान्वेषणोपायः' उपमेयः, तैक्ष्ण्यादिर्धर्मः, उपमानोपमेयभावश्चेति चतुष्टयं गम्यते, तन्मध्याच्च शब्दस्पृष्टमुपमानम् 'अयःशूलेन' इति, शिष्टस्य तु त्रयस्य अर्थसामर्थ्याद् अवगतिरिति त्रिलोपे नोपमा । एवं 'दाण्डाजिनिकः' इत्यादावपि । तथा हि दम्भस्य दण्डाजिनतयाध्यवसितस्य जीवनक्रियाकारणत्वं दण्डाजिनेन अर्थान् अन्विच्छति दम्भेन जीवतीति दाण्डाजिनिको दाम्भिक इत्यर्थः । भाष्यकारस्यापि अतिशयोक्तित्वमेवात्र इष्टं, यदाह—'न तिङन्तेनोपमानमस्ति ।' आख्यातं नोपमानं भवतीत्यर्थः । एवं वर्तमानसामीप्यादावपि अतिशयोक्तिभेदत्वं यथाप्रतीति योज्यम् । एवं धर्मलोपे पञ्च, उपमानलोपे द्वौ, वादिलोपे षट्, धर्मवाद्योर्लोपे द्वौ, धर्मोपमानलोपे द्वौ,

" अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥४१०॥

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे,

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥४११॥

इति भिन्ने वा तस्मिन्, एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा, यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वेन पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्वे

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥४१२॥
मतिरिव मूर्तिर्मधुरा मूर्तिरिव [५३]सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥४१३॥

इत्यादिका [५७]रशनोपमा च " न लक्षिता । एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात् । उक्तभेदानतिक्रमाच्च ।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः

उपमानान्तरसंबन्धाभावोऽनन्वयः ।

उदाहरणम्--

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥४१४॥

वाद्युपमेयलोपे एकः, त्रिलोपे एकः, सर्वमीलने एकोनविंशतिः, पूर्णभेदाश्च षट् ॥

मालोपमादयस्तु आनन्त्याद् उपमायाश्च नातिरिच्यन्त इति न पृथग् लक्षिता इत्याह–'अनयेनेवे'ति । अत्र म्लानित्वलक्षणे एकस्मिन् धर्मे । 'ज्योत्स्नेव' इत्यत्र तस्मिन् धर्मे नयनानन्दादिके भिन्नेऽनेकस्मिन् मालोपमा, रसनासादृश्याद् रसनोपमा च न लक्ष्यत इत्याह–इत्यत्र यथोत्तरेति । 'अनवरते'त्यत्र विमलत्वलक्षणेऽभिन्नधर्मत्वे तु 'मतिरिवे'ति ॥८८॥१॥

अविद्यमानोऽन्वयः सदृशवस्त्वन्तरगमनं यस्य असौ अनन्वयः । एतत्सदृशमन्यन्नास्तीति असाधारण्यप्रतिपत्तये प्रकृतस्य वस्तुन एकस्यैव उपमानोपमेयत्वे वास्तवस्य द्वित्वस्य अविद्यमानत्वाद् उभयनिष्ठत्वाच्च उपमानोपमेयभावव्यवस्थितेर्नोपमा । समारोपितरूपस्य द्वित्वस्य चाभ्युपगमे कष्टकल्पना ॥

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥

तयोरुपमानोपमेययोः, परिवृत्तिरर्थाद् वाक्यद्वये, इतरोपमानव्यवच्छेदपरा, उपमेयेनोपमेति उपमेयोपमा ।

उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥४१५॥

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

समेनोपमानेन । उदाहरणम्—

'विलासायुधः कामः, लासः क्रीडनम् ।' अत्र 'सैव नितम्बिनीव' इति 'तद्विलासा इव' इत्येतच्च भेदाभावाद् उपमानतया विश्रान्तिमलभमानमन्यव्यावृत्तौ लक्षणयावतिष्ठते ।

निघ्नन्नभिमुख[:] शूरानेकोऽपि बहुशः परान् ।
संग्रामे विचरत्येष पुरुषः पुरुषो यथा ॥

अत्र तु उपमेयस्य पुरुषशब्दस्य जातिमात्रं प्रवृत्तिनिमित्तं, द्वितीयस्य तु पुरुषशब्दस्य शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्यपरतया शौर्यचातुर्यावदातकर्मवचनत्वमिति भेदे सत्यपि उपमैव ॥२॥

उपमेयेनोपमानधुराधिरूढेन करणात्मना उपमा, उपमानस्योपमेयतापादनम् उपमेयोपमा । 'कमलेवे'ति । अत्र पूर्वस्माद् वाक्यात् सादृश्यस्यावगतत्वात् पुनरिह सादृश्यमभिधीयमानमन्यार्थत्वेन सति अन्यव्यावृत्तिं लक्षणयावगमयति ॥८९॥३॥

संभावनमिति । संभावनमभिमानस्तर्क ऊहाध्यवसाय उत्प्रेक्षेति यावत् प्रकृतगतगुणक्रियाभिसंबन्धात् प्रकृतस्य प्राकरणिकस्य असन्तो ये धर्मा गुणक्रियालक्षणास्तेषां प्रत्येकं भावाभावाभ्यां संभावनं, तद्योगोत्प्रेक्षणम् । अत एवान्यधर्माणां स्वधर्मिभूताद् वस्तुन उत्कलितानां रसभावाद्यनुगुणतया वस्त्वन्तराध्यस्तत्वेन लब्धप्रकर्षाणामीक्षणम् उत्प्रेक्षा । सा च मन्ये-प्रभृतिभिर्द्योत्यते । यदुक्तम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव--शब्दोऽपि तादृशः ॥

उन्मेषं यो" मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥४१६॥
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितम् ।

'उन्मेषम्' इति विकासम्। अत्र हर्षलक्षणगुणस्योत्प्रेक्षा। स हि शत्रुपराभवकरणेनोपकारिणमुद्दिश्य समुत्पद्यमानो लोके दृश्यत इति पद्मलक्ष्म्यामसंभवन्नपि संभावितः। हर्षश्च गुणः, सिद्धरूपत्वे सति द्रव्यधर्मत्वात् ॥ 'लिम्पती'ति। अत्र व्यापनादि उत्प्रेक्ष्यते-इत्याह—व्यापनादीति ॥ जातिद्रव्योत्प्रेक्षापि दृश्यते, क्रमाद् यथा—

स वः पायादिन्दुर्नवबिसलताकोटिकुटिलः
स्मरारेर्यो मूर्ध्नि ज्वलितकपिशे भाति निहितः ।
स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्ताः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव ॥

अत्र अङ्कुर-शब्दस्य जातिशब्दत्वाद् जातेरुत्प्रेक्षा॥

पातालमेतन्नयनोत्सवेन विलोक्य शून्यं शशलाञ्छनेन ।
इहाङ्गनाभिः स्वमुखच्छलेन कृताम्बरे चन्द्रमयीव सृष्टिः ॥

अत्र चन्द्रस्यैकत्वाद् द्रव्यत्वम् ॥

एतानि भावाभिमाने उदाहरणानि । अभावाभिमाने, यथा—

असंतोषो [? षा] दिवाकृष्ट-कर्णयोः प्रापशासनः ।
स्वधाम कामिनीनेत्रे प्रसारयति मन्मथः ॥

—अत्र संतोषगुणाभावस्य उत्प्रेक्षा ।

कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥

—अत्र 'अपश्यन्तौ' इति क्षामतायां कारणतया उत्प्रेक्षेति क्रियाया अभावाभिमानः। "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" [पाणिनि. ३-२-१२६] इति ह्यत्र शतृप्रत्ययः।

चन्दनासक्तभुजगनिश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥

–इत्यादौ भुजगनिःश्वासमूर्छितत्वे कारणत्वेन उत्प्रेक्षमाणेऽर्थे सामर्थ्याद् इवार्थावगतिः ॥

गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु ।
यत्रोच्छलत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति सिप्रा ॥

–अत्र तु इव-शब्दमाहात्म्यात् संभावनं, छलशब्दाच्च अपह्नवोऽपि गम्यते इति सापह्नवोत्प्रेक्षेयम् ॥ एवं छद्मादिप्रयोगे ज्ञेयम् ॥ 'अपर इव पाकशासनः' इत्यादौ तु प्रकृतस्य पाकशासनप्रतीतौ अध्यवसायसंभवाद् इव-शब्देन च तस्य साध्यत्वे उत्प्रेक्षा, अपर-शब्दप्रयोगे तु उपमा, इव-शब्दप्रयोगे तु अतिशयोक्तिः, उभयोरपि अप्रयोगे रूपकम् ॥

अकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ॥

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
सुजातपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥

अचिराभामिव [च] घनां ज्योत्स्नामिव कुमुदबन्धुना विकलाम् ।
रतिमिव मन्मथरहितां श्रियमिव हरिवक्षसः पतिताम् ॥

स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

हिरण्मयी साऽऽस लतेव जंगमा ॥

च्युता दिवः स्थास्नुरिवाचिरप्रभा ॥

बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

–इत्यादिषु उत्प्रेक्षैव । धातुमत्तादीनां हि प्रत्यक्षत एव अकालसंध्यादिसादृश्यमुपलभ्य अकाले संध्या न भवतीति असंभाव्यमानवस्त्वध्यवसायस्य संभावना क्रियते । 'अकालसंध्यामिव' इति प्रत्यक्षोपलब्धौ च न युक्त्यन्तरं मार्गणीयम्, न तु उपमा, उपमानस्य असंभवात्, नाप्यसंभवोपमा, यस्माद् असंभाव्योपमेयदर्शने सति तस्याः प्रयोगात्, यथा—

चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव पावकः ।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसंभावितोपमा ॥

लोकोत्तरायाश्च संभावनाया उत्प्रेक्षाविषयत्वमिति यत्र कुतश्चिन्निमित्ताल्लौकिक्येव धर्माणां संभावना, न तत्रोत्प्रेक्षा । न हि भवति 'मारं वहतीव

ससंदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥

भेदोक्तौ यथा—

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥४१८॥

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो, यावन्निश्चयान्तोऽपि संदेहः स्वीकृतः । यथा—

इन्दुः किं क कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम् ।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः ॥४१९॥

किंतु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इत्युपेक्षितो भट्टोद्भटेन । तदनुक्तौ यथा—

पुंगवः', 'पयो ददातीव स्त्रीगवी' इत्युत्प्रेक्षा ॥ 'कस्तूरीतिलकं तिकालफलके[?] देव्या मुखाम्भोरुहे रोलम्बन्ती' इत्यादौ तु उपमोत्प्रेक्षा। यद्यपि सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विबित्युपमानात् क्विब्विधौ आमुखे उपमाप्रतीतिः, तथापि उपमानस्य प्रकृते संभवौचित्यात् संभावनोत्थाने उत्प्रेक्षायां पर्यवसानम् । आनन्त्यं चास्या इति न प्रतन्यते ॥

ससंदेहस्त्विति । प्रस्तुतवस्तुवर्णनार्थं यत्र संशयः संशयवद् वचः प्रयुज्यते उपमानाभेदपूर्वमुपमेयभेदकस्योक्तौ भेदकस्यानुक्तौ वा तत्र ससंदेहाऽलंकारः सह संदेहेन वर्तते इति॥ स च त्रिधा निश्चयगर्भो निश्चयान्तः शुद्धश्च। यः संशयोपक्रमो निश्चयमध्यः संशयान्तश्च स निश्चयगर्भः, यथा—'अय'मिति । अत्र 'तुरगैः' इत्यादि भेदकस्योक्तौ संशयः । अत्रोपमेयस्य तद्भावमुपमानेनोक्त्वा पश्चाद् भेदे उच्यमाने यद्यपि आमुखे रूपकावभासः, पश्चाद् व्यतिरेकाकारः, तथापि नास्मिन्नलंकारद्वये विश्रान्तिरिति'नु' 'किम्' इत्यादिशब्दोपादानात् संदेहे एव वाक्यार्थस्तस्य परिकरबन्धार्थं रूपकव्यतिरेकौ आमुखे प्रतिभासेते इति तत्संकराशङ्का न कार्या। यत्र संशयोपक्रमेऽपि निश्चयपर्यवसानं स निश्चयान्तः, यथा—'इन्दु'रिति । अत्र 'क कलङ्कः' इत्यादिभेदकोक्तौ निश्चयान्तः संशयः ॥ अत्र 'निश्चितम्' इति वचनेन साक्षादुपात्तत्वान्निश्चयस्येति न तस्य व्यज्यमानत्वमित्याशङ्क्याह —किं त्विति ।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥४२०॥

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः ।

यत्र संशय एव पर्यवमानं स शुद्धः, यथा—'अस्या' इति । उर्वशीं प्रति पुरूरवाः प्राह । 'प्रजापतिः किं कान्तिप्रदश्चन्द्रोऽथ मदनः, किं पुष्पाकरो मासः' । अत्र 'स खलु तुरगैः" इत्यादिवद् भेदकं किमपि नोक्तं, 'चन्द्रो ह्येवंविधः' इत्यादेरभणनात् । 'नामितं नु गगनं स्थगितं नु' अत्र उत्प्रेक्षाश्रयेण संदेहः, तथा हि तिमिरकर्तृकायां शैलगगनादिव्याप्तौ रञ्जितत्वमुत्प्रेक्षितं, गगनानमितत्वाद्युत्प्रेक्षान्तरसंभवात् संदेहमागतम् । अन्ये तु 'नुशब्दः संभावनाद्योतक इत्युत्प्रेक्षैवेत्याहुः ॥१०॥प॥

सादृश्याश्रयेण भेदाभेदतुल्यत्वेऽलंकारा निर्णीताः, अभेदप्राधान्ये त्वाह –तद्रूपकमिति । रूपयति एकतां नयतीति रूपकम् । विषयिणा चन्द्रादिनारोप्यमाणरूपेण आरोपविषयस्य मुखादे रूपवतः करणाद्, यथा 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सारोपगौणीलक्षणा-विषये, अत्र ह्युपमेयशब्दो धर्मिवाची द्वितीयेन उपमानशब्देन तथाभूतेन अनुपपद्यमानसामानाधिकरण्यस्तस्यैव उपमानपदस्य स्वाभिधेयाविनाभूतगुणवृत्तितां नियमयति । यथा 'नीलमुत्पलम्' इत्यत्र यद्यपि नीलशब्दस्य गुणः प्रवृत्तिनिमित्तमुत्पलशब्दस्य तु उत्पलजातिस्तथापि एकस्मिन् द्रव्ये किलैकार्थसमवायाद् वृत्तिरिति सामानाधिकरण्यमुत्पाद्यते, न तथा 'मुखचन्द्रः' इति रूपके सामानाधिकरण्यमित्येकस्य गुणवृत्तिता परिकल्प्यते, ततश्चन्द्रगुणसदृशा मुखस्य गुणा इति सिद्धम् । तथा हि चन्द्रेण स्वगुणा लक्ष्यन्ते, तैर्मुखगुणाः, तैरपि मुखं लक्षणायाश्च प्रयोजनं ताद्रूप्यादिप्रतीतिः, ततश्च सामानाधिकरण्यमुपपद्यते । अत एव भेदेऽपि अभेदप्रतीतिः । साधर्म्यं तु अनुगतमेव । यदाहुः—

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते ॥

तेन 'आयुर्घृतं, नदी पुण्या' इत्यादौ न रूपकम् ॥ कार्यकारणभावादि ह्यत्र निमित्तान्तरं, न साधर्म्यमित्याह–अतिसाम्यादिति । इह च शब्दस्यार्थस्य च

समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥९३॥

आरोपविषया इवारोप्यमाणा यदा शब्दोपात्ताः, तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम् । आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥४२१॥

अत्र पादत्रये । अन्तर्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति" तत्संकरशङ्का न कार्या । "

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।

युगपद् अध्यारोपस्य आरोपः शब्दोपचारस्य अर्थाविनाभूतत्वात् ॥ अनपह्नुत-भेदयोरिति । उपमानोपमेययोरभेदप्राधान्यात्, वस्तुतस्तु भेद एव । अपह्नुतभेदयोस्तु अतिशयोक्तिर्वक्ष्यते ॥ आरोपविषया ज्योत्स्नादयः आरोप्यमाणा भस्मादयः ॥ अविवक्षितमिति । तेन आरोपितौ आरोपित इति च द्रष्टव्यम् ॥

'चन्द्र एव मुद्राकपालम्' । अत्र पादत्रयमिति । समस्तवस्तुविषयस्य उदाहरणमित्यर्थः । चतुर्थपादे तु आरोपपूर्विकापह्नुति[:] स्थलशब्दश्च अपह्नवद्योतकः । 'न्यस्तं विश्वस्थगितहृदयं लक्ष्म सिद्धाञ्जनं तद्' इति तु चतुर्थपादे रूपकेणैव निर्वाहः । 'रात्रिरेव कापालिकी' इति रूपकमुपमानप्राधान्यात् । यदा तु 'रात्रिः कापालिकी वा इति तदा 'उपमितं व्याघ्रादिभि' इति समासे उपमेयप्राधान्ये उपमैवेति किं रूपकमुपमा वेति संदेहसंकरालंकारः प्राप्नोतीत्याह—अन्तर्धानरसिकत्वमिति । अत्र हि रसिकत्वलक्षणो धर्म एव रूपकपरिग्रहे साधकं प्रमाणम् । रूपके हि योगिनीत्वं रात्रेरारोपितं, तस्य चारोपितस्य योगिनी-लक्षणस्य रसिकत्वं धर्मोऽतीव अनुगुणः, प्रसिद्धतरत्वेन आनुकूल्यात् । आरोपितस्य च धर्मानुगुण्ये रूपकमेव, उपमायां तु रात्रेरारोपविषयायाः प्राधान्यं, तस्याश्च अचेतनत्वाद् रसिकत्वधर्मः न तु गुण इति न संकरः ॥९१॥६॥

यत्र चैकत्र विषये आरोप्याः श्रौताः शब्दोपात्ताः, विषयान्तरे तु अर्थगम्याः, तदा एकदेशविवर्तीत्याह—श्रौता इति । श्रुतिर्निरन्तरार्थनिष्ठोऽभिधा-

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः, केचिदर्थसामर्थ्यादवसेया इत्येकदेशे विवर्तनादेकदेशविवर्ति । यथा—

जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलॅअम् ।
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥४२२॥

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम् । मण्डलाग्रलताया नायिकात्वं रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वमर्थसामर्थ्यादवसीयत इत्येकदेशे विशेषेण वर्तनादेकदेशविवर्ति ।

साङ्गमेतत्

उक्तद्विभेदं सावयवम् ।

निरङ्गं तु शुद्धम् ।

यथा —

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥४२३॥

व्यापारः ॥

यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम् ॥

साङ्गमेतदिति सूत्रम् । न केवलं यत्र तस्यैव रूपणं, अपि तु तदङ्गस्यापि अङ्गमत्रोपकरणमात्रं, न तु आरम्भकमेव, लक्ष्याण्याभिप्रसङ्गात् । महाङ्गेनावयवेन वर्तते, सावयवमित्यर्थः ॥

एतच्च समस्तवस्त्वेकदेशविवर्तिविषयतया द्विभेदमपि पूर्वोदाहरणप्रदर्शितमित्याह- उक्तं द्विभेदमिति ॥

निरङ्गं त्विति सूत्रम् । निरवयवमेक एव, यत्रारोपस्य विषयोऽवयवान् अरूपयित्वाऽवयविमात्रेण रूपणं क्रियत इत्यर्थः । 'प्रेमलतिका' मिति । अत्र केवलोऽङ्ग्येव लतालक्षणो रूपितः, न पुनस्तदवयवाः पत्रादय इति शुद्धत्वम् । 'प्रेमैव लतिका' इति मयूरव्यंसकादित्वादेव शब्दलोपी समासः ॥

ननु, व्याघ्रादिद्वारेण इव-शब्दलोपी समासो दृश्यते, लुप्तोपमायां सोऽपि स्यादिति संदेहसंकरः प्राप्नोति । सत्यम्, यत्रान्यतरपरिग्रहे साधकप्रमाणाभावस्तदितरस्य वा परिहारे न स्याद्बाधकं प्रमाणं, तत्रैव उभयप्रसङ्गः,

माला तु पूर्ववत् ॥९४॥

मालोपमायामिवैकस्मिन्बहव आरोपिताः । यथा—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः ।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥४२४॥

नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥९५॥

स एव च संदेहसंकरः, इह तु लतायाः सेचनमानुकूल्याद् आरोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमिति न संकरः । एवं बाधकेनापि प्रमाणेन संदेहांशापवर्तनाद् अपरांशप्रतिष्ठायां निरवकाशतैव संदेहस्य, यथा—

मधु सुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव साललतावधूश्चुचुम्बे ॥

अत्र 'साललतावधूरिव मुख इव पुष्पे भृङ्गेण चुम्ब्यते स्म' इति विवक्षायां इव-शब्दद्वयेन वाक्यार्थासंगतिर्बाधकं प्रमाणं लुप्तोपमायाः । तथा हि 'मुख इव पुष्पे' इत्यत्र सदृशस्य पुष्पस्य प्रतिपत्तौ मुखाधेयमानविशेषता पुष्पाश्रिता रम्यतया उपारोहति, तेन मुखसामर्थ्याक्षिप्तया वध्वा कयापि भाव्यमिति सात्र लताभिधीयते । तस्मात् 'लतेव वधूः' इत्याञ्जसी रूपके प्रतिपत्तिः, उपमाप्रतिपत्तेस्तु अनाञ्जसत्वम् । तथा हि अत्रोपमेये पुष्पविशेषे मुखोपमितिसामर्थ्याक्षिप्तचुम्बनाधारत्वादौ न साललताया उपयोगोऽस्ति, वध्वा एव तत्रोपयोगित्वात् । तेन वधूरत्र प्रधानं, तदुपयोगिनो तु साललता । 'साललतैव वधूः' इत्यनया रूपकच्छायया संगतिरित्यलम् ॥ निरवयवस्य तु केवलं मालारूपकं चेति द्वौ भेदौ । तत्र केवलं शुद्धं दर्शितम् ॥

माला त्विति सूत्रम् । यत्रैकं वस्तु अनेकसामान्यं उपमीयेत अनेकैरुपमानैरेकसामान्यैरिति यद् मालोपमालक्षणं तदेव मालारूपकस्यापीत्याह—मालोपमायामिवेति । 'रहांसि' रहस्यानि । 'पञ्चशिलीमुखः' भ्रमरः । अत्राष्टौ तरङ्गिण्यादय आरोपिताः, प्रियालक्षणश्च एक एवारोपविषयो मुखादिभिरवयवैर्विनैव तरङ्गिण्यादिभी रूपित इति निरवयवत्वं मालासदृशत्वाद् मालारूपकम् ॥९२॥

यथा—

विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥४२५॥

अत्र–मानसमेव मानसम्, कमलायाः संकोच एव कमलानामसंकोचः, दुर्गाणा[७२]मभिमार्गणमेव दुर्गाया मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः[७३] परपराभव एव विजयोऽर्जुनः,—एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः ।

यद्यपि शब्दार्थालंकारोऽयमित्युक्तम्, वक्ष्यते च, तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः । एकदेशविवर्ति हीदमन्यैरभिधीयते ।
भेदभाजि यथा—

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।

तदेवं चतुर्धा रूपकमुक्त्वा परंपरितं श्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धनत्वेन द्विभेदं सत् प्रत्येकं मालाकेवलरूपत्वाच्चतुर्विधमाह–नियतेति । नियतं निश्चितं सरोवरादेरारोपणमुपायो यस्य स तथा, परस्य हंसादेरारोपः । आदौ मानसस्य मानसत्वमारोप्यते, ततो हंसाद्यारोप इति परंपरितशब्दार्थः ॥ भेदभाजीति अश्लिष्ट इत्यर्थः ॥

विद्वन्मानसे'ति । 'दक्षः' प्रजापतिः । विजयस्य प्राग्भावे पूर्वभावे भीमसेनः सन् भीमः । 'वैरञ्च'मिति ब्राह्मं वर्षशतं यावत् । अत्र मानस-कमला-संकोच-दुर्गा-मार्गण-समित्-स्वीकार-सत्यप्रीति-विजय-शब्दाः श्लिष्टाः, तदारोपनिमित्तकश्च हंसादेरारोप इत्याह–एवमारोपणेति । एवमारोपणं निमित्तं यस्यारोपस्य ॥

ननु, मानसशब्दपरिवृत्तौ पर्यायान्तरे सति नालंकार इति शब्दालंकारत्वं, अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि सति न स हीयत इत्यर्थालंकारता । ततश्च शब्दालंकारः परंपरितरूपकं, न तु अर्थालंकार, इत्याशङ्क्याह–यद्यपीति ॥ उक्तमिति शब्दश्लेषे पुनरुक्तवदाभासे च ॥ वक्ष्यत इति संकरालंकारे ॥ एकदेशेति । परंपरितमेव उद्भटादिभिरेकदेशवृत्तीत्युच्यते ॥

संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते करः ॥४२६॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे करस्यालानत्वाद्यारोपो युज्यते ।

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥४२७॥

निरवधि च निराश्रयं च यस्य
स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान्स कूर्ममूर्ति-
र्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥४२८॥

इति च । अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ।

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥४२९॥

इत्यादि रशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम् ।

'आलान'मिति । अत्रापि कुञ्जराद्यारोपनिमित्तः, आलानादेरारोपः । मानसशब्दवद् एक एव शब्दोऽत्र उभयार्थो नास्तीति भेदभाक्ता । श्रियस्तु वनितात्वं साक्षाद् अनुपात्तमपि रूप्यते ॥ परंपरितमपि श्लिष्टे वा वाचके शुद्धं ज्ञेयम् । तत्र श्लिष्टे शब्दे शुद्धं, यथा—'अलौकिके'ति । 'महांश्चासौ आलोको ज्ञानं च' । 'वंशमुक्तेति वंशोऽन्वयः स एव सद्वंशः शोभनो वेणुः' इति श्लिष्टो वाचकः । अत्र हि वंशलक्षणः 'परः' परस्य राज्ञो रत्नारोपणोपायः ॥

अश्लिष्टे शब्दे शुद्धं, यथा—'निरवधी'ति । इह 'भवान्' इति पूज्यः । 'कूर्ममूर्तिः' इति पदे 'भवानेव विष्णुः' इति अतिशयोक्तिः । 'चतुर्दशे'ति । 'लोका एव वल्ली, तस्याः कन्दः' । अत्र वल्लीलक्षणः पर आरोपः परस्य विष्णोः कन्दत्वारोपणोपायः, वाचकश्च न श्लिष्टोऽत्रेति अश्लिष्टे शुद्धम् ॥ तथा श्लिष्टाश्लिष्टशब्दत्वेन द्विविधमपि परंपरितं मालयापि स्यात्, ततश्च 'विद्वन्मानसे'ति 'आलानम्' इत्यादौ च दर्शितमित्याह—मालारूपकमपीति । न केवलं शुद्धं 'अलौकिके'त्युदाहरणद्वये दर्शितं यावन्मालारूपकमपि । एवं चतुर्धा परंपरितम् ॥ यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमेयमिति रूपकरसनापि, यथा—'किसलये'ति । 'कामोऽमीभिः पदार्थैः कामिनां मनो जयति वशीकरोति ।

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

किसलयादिदर्शनाद् विमूर्छितमिव मन इति तैर्जयः’। अत्र यो यः पूर्वोऽर्थः किसलयादिकः स स उत्तरैः करादिभी रूपितः। तथा हि ‘किसलयान्येव करा एव कमलानि तान्येव मुखानि एव इन्दव’ इति सर्वेषां परस्परं संघटनाद् रसनासादृश्याद् रसनारूपकम्। ये चान्ये सहजाहार्योभयावयवादि रूपकभेदास्तेऽपि उक्तलक्षणेन संगृहीताः। विकल्पानन्त्याच्च दिङ्मात्रं दर्शितम्। यदुक्तं—

न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः ।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ॥

वैधर्म्येणापीदं दृश्यते यथा—

सौजन्याम्बुमरुस्थलीसुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशीसरलतायोगश्वपुच्छच्छटा ।
यैरेषापि दुराशयात् कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥

तथारोप्यमाणस्य धर्मित्वात् आविष्टलिङ्गत्वेऽपि क्वचित् स्वतोऽसंभवत्संख्यायोगस्य विषयसंख्यत्वं प्रत्येकमारोपा, तथा क्वचिज्जटावल्कलावलम्बिनः कपिलादावाग्नय इत्यादौ नहि कपिलमुनेर्बहुत्वम्। आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम इति त्वद्यतनाः। परिणामे हि प्रकृतात्मतयारोप्यमाणस्य उपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति। रूपके तु आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपरञ्जकत्वमेव केवलं, न तु प्रकृतोपयोगः। स च सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यप्रयोगाद् द्विधा व्याख्येयः, यथा—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानान्तरं नाविकाय ।
व्योमग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे ॥’

—अत्र सौमित्रिमैत्री प्रकृता आरोप्यमाणसमानाधिकरणा आन्तरत्वेन परिणता, आन्तरस्य मैत्रीरूपतया प्रकृते उपयोगात्। समासोक्तावपि आरोप्यमाणं प्रकृतोपयोगि, अत एव तत्र तद्व्यवहारसमारोपः केवलं तत्र विषयस्यैव प्रयोगो, विषयिणो गम्यमानत्वाद्, इह तु द्वयोरपि अभिधानतादात्म्यात्तु तयोः परिणामत्वम् ॥

उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः ।

उदाहरणम्—

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥४३०॥

इत्थं वा—

बत सखि कियदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन्रागिलोके तथा हि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥४३१॥

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि, अपि तु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः । एवं वा—

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।

व्यधिकरणः, यथा—

अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्भिः सरसैर्वक्रपथाश्रितैर्वचोभिः ।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरंगमाद्यैः ॥

राजसंघट्टने उपायनमुचितं, तच्चात्र वचोरूपमिति वचसां व्यधिकरणोपायनरूपत्वेन परिणामः ॥९३॥ [६॥]

अथारोपप्रस्तावे आरोपविषयापह्नुतौ अपह्नुतिमाह—प्रकृतमिति । प्रकृतमुपमेयं निषिध्य अन्यत्प्रकृतवत् साध्यते । उपमेयस्यापह्नुतत्वान्न स्फुटरूपेण उपमानोपमेयभावोऽस्तीति न रूपकाशङ्का ॥

'अवाप्त' इति । अत्र कलङ्कः प्रकृतः प्रकृतेनैव रजन्यारोपेणापह्नुतो द्वयोरपि वर्णनीयत्वेन प्रस्तुतत्वात् । पारमार्थिकस्यासत्यकरणं, अपारमार्थिकस्य सत्यतया स्थापनं स्थूलतया बोद्धव्यम् । तात्पर्यं तु वाक्यस्य सादृश्ये एव ॥ प्रकृतस्य निषेधेऽप्रकृतस्य साध्यत्वे, यथा—'बते' ति । मन्ये—छलशब्दावसत्यत्वप्रतिपादकौ ॥ क्वचित्पुनरसत्यत्वं वस्त्वन्तररूपताभिधायिशब्दनिबन्धनं, यथा—अमुष्मिन्निति ॥

यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३२॥

अत्र न रोमावलिः, धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः । एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

श्लेषः स वाक्य एकस्मिन्यत्रानेकार्थता भवेत् ॥९६॥

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः । उदाहरणम्—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्तयति क्रियाः ।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्तनकर्तनं
बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ॥४३३॥

अत्राभिधाया अनियन्त्रणाद् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ ।

एवमिति । आरोपपूर्वकोऽपह्नवोऽपह्नवपूर्वको वा आरोपः । क्रमाद् यथा—

विलसदमरनारीनेत्रनीलाब्जखण्डा-
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि ।
न तु ललितकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः ॥

इदं ते केनोक्तम् इत्यादि ।

अत्र 'नेदं स्वर्णवलयं किं तु स्मरचक्रम्' इति । प्रतीतिः ॥ [७॥]

एकार्थेति । यथा गोशब्दो वागाद्यनेकार्थप्रत्यायने ॥ अनेकोऽर्थ इति । 'विभां करोति' इत्येकमेव हि यौगिकमर्थं प्रतिपादयन् विभाकरशब्दः साधारणार्कभूपलक्षणार्थद्वयप्रतिपादकोऽनेकार्थः। उदयादिशब्दा अपि एकार्थप्रतिपादका एव सन्तोऽनेकार्थाः। तथा हि 'उदयलक्षण एक एवार्थ एकत्रोद्गमोऽन्यत्र समृद्धिः, दिशः ककुभोऽन्यत्र तत्स्थाः प्रजाः, मालिन्यं कालिमा कलङ्कश्च, निद्रा सुप्तिरालस्यं च, क्रिया गमनादिका धर्मक्रियाश्च, स्वैराः स्वेच्छा अनीतिकारिणश्च, तेजो ज्योतिः प्रतापश्च' ॥ अभिधाया इति द्वयोरप्यर्थयोः प्राकरणिकतया विवक्षितत्वादिति भावः । यत्र तु वक्ष्यमाणोपक्षेप्यर्थनिष्ठमुपक्षेपपराभिधासंसूचकत्वं यथा—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः

प्रकृतार्थप्रतिपादकेन वाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्याद् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यदप्रकृतस्याप्यर्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः । उदाहरणम्—

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीये स को वि उल्लासो ।
जअलच्छी तुह विरहे ण हाज्जेमा दुब्बला णं सा ॥४३४॥

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति ।

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥

–इत्यादौ, तत्र न श्लेषोऽर्थद्वयस्य प्रकृतत्वेनाभिप्रेयतया वक्तुमनिष्टत्वात्, किं तु अर्थशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरेव । तथा हि प्रकृते न्यायवतः पुंसस्तिर्यञ्चोऽपि सहायाः, सूचनीयार्थविषयत्वेन तु राम–सुग्रीवादिवृत्तत्वम् ॥ ॥९४॥ [८॥]

अथ श्लेषप्रस्तावे प्रस्तुतस्य वाच्यत्वेऽप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिमाह–परोक्तिरिति । श्लिष्टैः श्लेषवद्भिः समानैर्भेदकैरुपमेयविशेषणैः परस्योपमानस्य या उक्तिः प्रतीयमानता सार्थद्वयस्य उपमानोपमेयलक्षणस्य कथनात् समासोक्तिः । विशेष्यस्यापि तु श्लिष्टत्वे श्लेष एव । विशेषणसाम्याच्च प्रतीयमानमप्रस्तुतं प्रस्तुतविशेषकत्वेन प्रतीयते, विशेषकत्वाच्च व्यवहारसमारोपः । रूपसमारोपे तु रूपकमेव ॥ 'लहिऊणे'ति । 'यस्याः स कोऽप्युत्कृष्ट उल्लासः सा तव विरहेण हेतुना दुर्बला भूयात्' । 'णं' नन्वर्थे । अत्र जयलक्ष्म्या उपमेयाया बाहुस्पर्शादिश्लिष्टविशेषणसाम्याद् अप्रकृताया उपमानरूपायाः कान्तायाः प्रतीतिरित्याह–अत्र 'जयलक्ष्मी' इति । विशेषणानि तु कान्तया सह समानानि । यथा वा—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥

'उपोढो धृतो रागः सांध्योऽरुणिमा प्रेमचयेन' । 'निशामुखम्' इत्यत्र समासगताया अपि निशायास्तच्छब्देन परामर्शो बुद्धौ अध्यवसानात् । अत्र निशा–शशिनोरुपमेययोरुपोढरागादिश्लिष्टविशेषणमाहात्म्याद् नायकयोरुपमानयोर्व्यवहारप्रतीतिः । वामनोक्ता तु उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः

निदर्शना ।

अभवन्वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ९७ ॥

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणं—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ ४३५ ॥

अत्र, उडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति ।

यथा वा—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ ४३६ ॥

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम् ।

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्ग-
मादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम् ।

समासोक्तिरप्रस्तुतप्रशंसैव ॥ [९ ॥]

निदर्शनेति । वाक्यार्थपदार्थभेदाद् द्विधा । तत्र वाक्यार्थवृत्तिः, यथा—'क सूर्ये'ति । अल्पविषयमत्या सूर्यवंशस्य वर्णनमसंभवदिति दार्ष्टान्तिके वस्तुसंबन्धस्य असंभवः दार्ष्टान्तिकप्रतिबिम्बरूपत्वाच्च ॥ दृष्टान्तस्येति । दृष्टान्तेऽप्ययमेव न्यायः । पूर्वापरयोरर्धयोर्वाक्यसंबन्धोऽनुपपन्न एवेत्यौपम्ये पर्यवस्यति । केचित्तु दृष्टान्तालंकारोऽयमित्यूचुः, तन्न । निरपेक्षयोर्हि वाक्यार्थयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः, यत्र तु प्रकृतवाक्यार्थान्तरमारोप्यते तत्र संबन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव, न दृष्टान्तः । एवं च—

तत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः ॥

—अत्र निदर्शनैव ॥ पदार्थवृत्तिः, यथा— 'उदयती'ति ॥ तत्सदृशीमिति गजलीलासदृशीम् । गजसंबन्धिन्या लीलाया वस्त्वन्तरभूतेन गिरिणा वहनमसंभवल्लीलासदृशीं लीलामवगमयतीत्यन्वयविप्रकर्षाद् औपम्ये पर्यवसानम् ॥ मालान्यायेनापीयं, यथा—'दोर्भ्याम्' इति । 'तरङ्गवती-भुजंगः समुद्रः ॥९८॥

मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव
यस्ते गुणान्गदितुमुद्यममादधाति ॥४३७॥

इत्यादौ मालारूपाप्येषा द्रष्टव्या ।

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सापरा ।

क्रिययैव [९४]स्वरूपस्वकारणयोः संबन्धो [९५]यदवगम्यते सापरा निदर्शना ।

यथा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति [९६]ध्रुवम् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥ ४३८ ॥

अत्र पातक्रियया पतनस्य, लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिरूपस्य कारणस्य [९७]च संबन्धः ख्याप्यते ।

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥ ९८ ॥

अप्राकरणिक[९८]स्यार्थस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा [९९]सा च ।

संभवद्वस्तुसंबन्धां च निदर्शनामुद्धटोकामाह—स्वस्वेति । स्वश्च पतनलक्षणायाः क्रियायाः स्वभावः स्वहेतुश्च पातक्रिया वा एव कारणं उन्नतपदावाप्तिलक्षणं तयोरन्वयः कार्यकारणभावलक्षणः संबन्धस्तस्योक्तिः ॥ 'उन्नतम्' इति । अत्र 'ममेवोन्नतपदावाप्तिरन्यस्यापि लघोः पातावसाना' इति कारणकार्ययोः समन्वयेन उपमेयस्याक्षेपात् संभवद्वस्तुसंबन्धा निदर्शना द्वितीया । वाच्यं हि स्वसिद्ध्यर्थत्वेन उपमानोपमेयभावलक्षणमर्थान्तरमाक्षिपति ॥ पातक्रिययेति पतनलक्षणया ॥ पतनस्येति । पतेदित्येवमुल्लिखितस्य स्वरूपस्योन्नतपदप्राप्तिरूपकारणकार्यस्य ॥

सैवेति । अप्रस्तुतस्य प्रशंसा या कविभिः क्रियते सा प्रस्तुताश्रया सैव अप्रस्तुतप्रशंसैषोच्यते॥ अप्राकरणिकस्येति । वर्णनावसराद् अपेतत्वाद् अप्रस्तुतस्य॥

ननु, अप्रस्तुतवर्णनमेव अयुक्तम् । कः खलु हिमवद्वर्णने विन्ध्यस्वरूपं वर्णयेदित्याह—प्राकरणिकस्याक्षेप इति । प्रस्तुतस्य कार्यकारणभावादौ संबन्धे सति सहृदयावर्जकत्वमस्या इत्यर्थः । कार्ये प्रस्तुते तदन्यस्य कारणस्य १, कारणे प्रस्तुते कार्यस्य २, सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्य ३, विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य ४, तुल्ये राजादौ प्रस्तुते तुल्यस्य पुरुषोत्तमादेः ५, यद्वचोभिधानम् । 'परार्थे

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ ९९ ॥

तदन्यस्य कारणादेः । क्रमेणोदाहरणानि—

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४३९॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

राजन्राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥ ४४० ॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गताः — इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

स्वसमर्पणम्’इति लक्षणेन लक्षणेयम् ॥

‘याता’ इति । **‘स्वभावत एव कृशा, चिन्तया तु सुतरां भविष्यतीति चिन्तां मुञ्चेति मयि वदति सति तया विलक्षं हसितं कृतम् । तेन च यदि मां मुक्त्वा यास्यसि ततोऽहं मरिष्ये इति कारणं सूचितम् ।** ‘किमिति’ इति । **प्रस्थाननिवृत्तिलक्षणस्य कार्यस्य प्रश्नमात्रे । अत्र प्रस्थानबुद्धिर्मया त्यक्तेति कार्ये प्रस्तुते कारणस्योक्तिः ॥**

‘कुमारसचिवैः कुमारप्रधानैः । राजशुकः कश्चिदेव उत्कृष्टजातिशाली शुकः’ ॥ कार्यमिति । **‘दण्डयात्रोद्यतं त्वां बुद्ध्वा त्वदरयः पलाय्य गताः’ इति कारणरूप एवार्थः प्रस्तुतो, राजशुकवृत्तान्तस्तु अप्रस्तुतार्थे स्वात्मानमर्पयन् कार्यरूप उक्तः ॥ यथा वा—**

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा ।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥

—इत्यादौ संभाव्यमानैरिन्द्वादिगतैरञ्जनलिप्तत्वादिभिः कार्यरूपैरप्रस्तुते-

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै-
स्तत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥ ४४१ ॥

अत्रास्थाने जडानां महत्त्वसंभावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं
करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान्स नीतिमान्
सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥ ४४२ ॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं शमयसि ततस्त्वमेव श्लाघ्यः—इति विशेषे प्रकृते सामान्यमुदितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः—श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यान्तरस्य हेतुः । क्रमेणोदाहरणम्—

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४३॥

लोकोत्तरो वदनादिगतः सौन्दर्यविशेषः कारणरूपः प्रस्तुतः प्रतीयते ॥

'मुखाद्' इति । लोकसिद्धयात्र मुखमाकृतिः । अपेक्षितक्रियं चैतदपादानम् । एतत् तच्छरीरादल्पतरं जातमित्यर्थः ॥

विशेष इति । जलबिन्दौ मणित्वसंभावनमप्रस्तुतं विशेषरूपमुक्तम् ॥

'सुहृद्' इति । 'प्रतियातनं शोधनम्' । एतद्विष्णुना नरकासुरे हते कोऽपि तन्मन्त्री नरकासुरमित्रं प्रत्याह ॥

श्लेष इति । विशेष्यपदस्यापि श्लिष्टता ॥ समासोक्तिरिति । समानविशेषणत्वम् ॥ सादृश्यमात्रमिति । प्रतीयमानेनापि केनचिद् धर्मेणानुगुण्यम् ॥

'पुंस्त्वाद्' इति । 'पुंस्त्वं पुंसो भावस्तस्यैव चारु कृत्यं च । अधः पातालं निकृष्टा गतिश्च । प्रणयने याच्ञानिमित्तम् । न महानपि, स्वल्पोऽपि । पुरुषोत्तमो विष्णुः सत्पुरुषश्च ।' एष न शब्दश्लेषोऽभिधाया एकत्र नियन्त्रितत्वाद् , नापि

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र गमितः क्लान्तिं रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्वेवं जडधामता तु भवतो यद् व्योम्नि विस्फूर्जते ॥ ४४४ ॥

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥ ४४५ ॥

इयं च काचिद्वाच्ये प्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव भवति ।

अब्धेरम्भःस्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपायादिह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्रमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥४४६॥

विशेष्यपदस्य श्लिष्टत्वेऽपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्भगवद्वृत्तान्तस्यात्र वाच्यत्वात् तस्य चाप्रस्तुतत्वात् । प्रस्तुतार्थमुखेन यत्राप्रस्तुतार्थो विशेष्यद्वारेणावगम्यते स तस्य ध्वनेर्विषय इति ह्युक्तम् ॥ सत्पुरुषचरितमेवात्र वाच्यं प्रस्तुतं च, तन्मुखेन चेतरार्थप्रतिपत्तिः । ततः शब्दशक्त्युद्भव एवायमिति चेद् , न, तस्य वाच्यत्वासंभवाद् न ह्युत्कृष्टतमस्यापि पुरुषस्य विष्णोरिव विश्वोद्धरणशक्तिः सत्यत एवास्ति । आक्षिप्यमाणस्य तु तस्य गुणवृत्त्या तद्वर्णनमविरुद्धं, गुणभूतत्वादिति अप्रस्तुतप्रशंसैवेयम् । पुरुषोत्तमस्य विशेष्यस्य विशेषणानां च श्लिष्टत्वात् श्लेषगर्भत्वम् ॥

'येनासि' इति । 'पादा रश्मयश्चरणौ च । जडधामता शीतलतेजस्त्वं मूर्खास्पदत्वं च' । अत्र विशेष्यपदं चन्द्रो न श्लिष्टो, विशेषणानां च श्लिष्टत्वात् समासोक्तिगर्भत्वम् । क्षीणविभवः कश्चिद् अपकारिणमपि उपजीवनार्थमनुसरन् केनचिदिह उपलभ्यते ॥

सादृश्यमात्रे यथा–'आदाय' इति । अत्र अब्धिगर्हणया अन्यायोपार्जितधनः प्रतीयमानसादृश्यः कोऽपि पुमानाक्षिप्यते ॥ इयं चेति । तुल्यत्वनिबन्धनाऽप्रस्तुतप्रशंसा वाच्यार्थे विवक्षिते प्रतीयमानस्य अनध्यारोपेण स्यात् ॥

'अब्धेः' इति । 'आहो इति यद्यर्थे । कल्पः प्रौढः ।' अत्र यद्यपि सारूप्य-

[११४]क्वचित्त्वध्यारोपेणैव । यथा—

> कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
> वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
> वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
> न च्छायापि परोपकार[११५]करणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥४४७॥

[११६]क्वचित्त्वंशेष्वध्यारोपेण । यथा—

> सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
> दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा ।
> सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे यद्वारणोऽद्याप्यसा-
> वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः ॥४४८॥

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः, कर्णचापलं तु हेतुः । मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम् ।

वशेन शूरः कोऽपि पुमानाक्षिप्यते तथापि अप्रस्तुतस्य अब्धिवृत्तान्तस्यैव चमत्कारकारित्वम् । न हि अचेतनोपालम्भवद् असंभाव्योऽयमर्थ इत्युपात्ता धर्माः समुद्रे संभवन्तो नैकान्तेन प्रतीयमानमर्थमाक्षिपन्तीति न प्रतीयमानार्थाध्यारोपः । एवं च 'पुंस्त्वाद्' इत्यत्र 'आदाय' इत्यत्र च प्रतीयमानस्य अर्थस्य अनध्यारोपः । 'येनासि' इत्यत्र च चन्द्रसंबोधनोपालम्भादेरसंभवाद् अध्यारोपोऽवसेयः ॥

'कथयामि' इत्यादि प्रत्युक्तिः । अनेन पदेनैतदाह । 'अकथनीयमेतत् श्रूयमाणं हि निर्वेदाय स्यात् तथापि तु यत्रनुबन्धस्तत् कथयामि ।' 'वैराग्याद्' इति काका 'दैवहतकम्' इत्यादिना च वैराग्यसूचा । 'साधुविदितम्' इत्युत्तरम् । 'कस्माद्' इति वैराग्ये हेतुप्रश्नः । 'इदं कथ्यते' इत्यादि सनिर्वेदस्मरणोपक्रम[ः] कथंकथमपि निरूप्यतयोत्तरम् । 'वामेन' इति अनुचितेन कुलादिना उपलक्षित इत्यर्थः । अत्र [?अ]चेतनेन वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती न संभवत इति असंभवति वाच्ये समृद्धासत्पुरुषसहवासिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं प्रतीयमानमध्यारोपेण स्थितं चेतनवृत्तान्तमारोप्य इत्थं कविना वर्णितत्वात् ॥

'रसनाविपर्ययो गजानां शापहेतुतोऽसत्यभाषित्वमपि । चापलमश्रोतव्यश्रवणमपि । मदो गर्वोऽपि । शून्यकरत्वमदातृत्वमपि ।' अत्र वाच्येऽर्थे रस-

निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१००॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा

उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका । यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥४४९॥

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाध्यवसितम् ।

यच्च[११७] तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते सापरा । यथा—

अण्णं लडहत्तणयं[११८] अण्णा[११९] च्चिय[१२०] का यि[१२१] वत्तणच्छाया[१२२] ।
सामा सामण्णपआवइ[१२३]स्सो[१२४] रेह च्चिअ ण होइ[१२५] ॥४५०॥

यद्यर्थस्य यदिशब्देन चेच्छब्देन[१२६] वोक्तौ यत्कल्पनम् अर्थादसंभविनोऽर्थस्य सा तृतीया । यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥४५१॥

नाविपर्ययशून्यकरत्वयोरसेवने हेतुत्वं न संभवतीति अध्यारोपोऽवसेयः । कर्णचापलं तु असेवने हेतुः । मदश्च सेवने प्रतीयमानश्च कुस्वामिसेवकः ॥ एवं च अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वेऽप्रस्तुतप्रशंसा । श्लिष्टविशेषणैः प्रस्तुतस्य वाच्यत्वेऽप्रस्तुतस्य गम्यत्वे तु समासोक्तिः । प्रस्तुताप्रस्तुतयोरपि वाच्यत्वे विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वेऽर्थश्लेषः ॥ एषान्योक्तिरिति अन्ये ॥९६–९७॥ [११॥]

सेति । लोकातिक्रान्तिगोचरा ॥ अध्यवसानमिति विषयिणा उपमानेन अन्तःकृतस्य उपमेयस्य भेदेऽप्यभेद इत्यर्थः । तदेवेति । प्रस्तुतमभिन्नमेव अन्यत्वेन भेदेनाध्यवसीयते । 'श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न भवति रेखा मर्यादा' । 'अन्यल्लटभत्वम्' इत्यभेदेऽप्यन्यत्वेन भेदोपनिबन्धः ॥

असंभविनोऽर्थस्येति । बहिरविद्यमानस्यार्थस्य संभावनमात्रेण उपनिबन्धे संबन्धेऽप्यसंबन्धोऽसंबन्धेऽपि संबन्ध इत्यर्थः ॥ संबन्धेऽप्यसंबन्धः, यथा—'राकायाम्' इति । अत्र पार्वणशशाङ्कस्य निष्कलङ्कत्वं बहिरसंभवदपि कविप्रजापतिना स्वप्रातिभानात् संभवद्रूपतया उक्तम् । इत्थं च प्रकृतस्य मुखस्य उपमानाभावो, नास्त्यन्यत् किंचिदस्योपमानमिति । अत एव संभाव्यमानार्थनिरा-

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी । यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता ॥४५२॥

प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१०१॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

साधारणो धर्म उपमेयवाक्ये चोपमानवाक्ये च कथितपद[१२७]त्वस्य [१२८]दुष्टतयाभिहितत्वाच्छब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात्प्रतिवस्तूपमा । यथा—

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥४५३॥

चिकीर्षया शङ्काद्योतकश्चेच्छब्दः । आशङ्का ह्यनिश्चितस्वभावे वस्तुनि स्यात् ॥ इयमुत्पाद्योपमेति रुद्रटः, अद्भुतोपमेति दण्डिप्रभृतयः ॥

असंबन्धेऽपि संबन्धः, यथा—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

—अत्र असंबन्धे संभावनया संबन्धः । यद्यर्थं विनापीयं दृश्यते, यथा—

दाहोऽम्भःप्रसृतिपचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किं चान्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वद्वर्त्मवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥

—अत्र दाहादीनामम्भःप्रसृत्याद्यैरसंबन्धेऽपि संबन्ध उक्तः ॥

'हृदयम्' इति । अत्र स्मराधिष्ठानं कार्यं पूर्वमेव जातं, नायकाधिष्ठानं तु स्मराधिष्ठानकारणं पश्चादिति कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययः ॥ [१२॥]

प्रतिवस्तूपमा त्विति । कथितपदं पुनरुक्तदोष इति पर्यायान्तरेण साधारणो धर्मो यदुपमेयोपमानवाक्यद्वये पृथग् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमालंकारः । वस्तु प्रतिवस्तुभावेन तु सामान्यधर्मस्य सकृन्निर्देशे दीपक–तुल्ययोगिते ॥ वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमासाम्यं यस्यामिति अन्वर्थ इत्याह—वस्तुन इति ॥

'देवी' इति । अत्र परिवारपदत्वं साधारणो धर्म उपमेयवाक्ये उपमान-

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥४५४॥

इत्यादिर्मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्यत्राप्यनुसर्तव्यम् ।

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१०२॥

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् । दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः ।

[१६]त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥४५५॥

वाक्ये परिभोगयोग्यपदेन पृथग्निर्दिष्टः, परिवारपदत्वपरिभोगयोग्यत्वयोरेकार्थत्वात् ॥ न केवलमियं साधर्म्येण यावद्वैधर्म्येणापि, यथा—

चकोरा एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि ।
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥

इत्याद्यनुपादानेऽपि च प्राकरणिकत्वाप्राकरणिकत्वपर्यालोचनयात्र उपमानोपमेयतावगतिः ॥

'यदि दहति' इति । अत्र 'प्रकृतिरेव सताम्' इति प्राकरणिकं, शेषं तु त्रयमप्राकरणिकम् ॥

एवमिति । यथा व्यतिरेके । तत्र ह्येकस्य बहुभ्यो व्यतिरेके मालाव्यतिरेकता, यथा–'हरवन्न विषमदृष्टिः' इति ॥ [१३॥]

तदेवमौपम्याश्रयेण शुद्धसामान्यस्य निर्देशे प्रतिवस्तूपमामुक्त्वा बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तमाह— दृष्टान्त इति । यादृश एवार्थविशेष उपमेयवाक्ये तादृश एवोपमानवाक्येऽपि प्रतिबिम्बभावेन यत्र स्यात् पुनःशब्दः पूर्वस्माद् व्यतिरेके । व्यतिरेकश्च बिम्बप्रतिबिम्बभाव एव । साधारणधर्मादीनामित्यादि शब्दाद् उपमेयानां च ॥

ननु, अर्थान्तरन्यास एवायमित्याशङ्क्याह—दृष्टान्तो निश्चयो यत्रेति । निश्चयश्च विशेषादेव संभवतीति विशेषरूप एवासौ, तेन यत्र विशेषस्य विशेषेण समर्थनं बिम्बप्रतिबिम्बभावे सति स दृष्टान्तः । दृष्टान्तस्य हि विशेषरूपतयैव प्रतिबिम्बभावः संगच्छते । यत्र तु विशेषस्य सामान्येन समर्थ्यसमर्थकभावः सोऽर्थान्तरन्यास इति विवेकः ॥

'त्वयि' इति । अत्र निर्वाणस्यापि साधारणधर्मस्य विकासः प्रतिबिम्बत्वेनोपात्तः । 'यथा चन्द्रालोके कुमुदिन्याश्चन्द्रगुणपक्षपातित्वेन कुमुदं विकसति

एष साधर्म्येण । वैधर्म्येण तु—

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः[131] पाणिं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।
भटाः परेषां विशरारुतामगुर्दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ॥४५६॥

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०३॥

प्राकरणिकाप्राकरणिकानाम्, अर्थादुपमानोपमेयानाम्, धर्मः क्रियादिः एकवारमेव यदुपादीयते, तदेकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद्दीपकम् । यथा—

किविणाण[132] धणं णायाण[133] फणमणी केसराइँ[134] सीहाण[135] ।
कुलवालिआण[136] य थणा[137] कुत्तो[138] छिप्पन्ति अमुआण[139] ॥४५७॥

तथा त्वद्दर्शने त्वद्गुणपक्षपातित्वेन तस्या मनः कामाग्निज्वलितमुपशाम्यति । **यथा वा—**

अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरवपुर्जानाति मन्थाचलः ।
दैवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः ॥

—अत्र यद्यपि ज्ञानाख्य एको धर्मो निर्दिष्टस्तथापि नैतन्निबन्धनमौपम्यं विवक्षितम् । यन्निबन्धनं च विवक्षितं तत्र अब्धिलङ्घनादौ अस्यैव दिव्यवागुपासनादिना प्रतिबिम्बनम् ॥ एषोऽपि साधर्म्येण ॥

'तवाहवे' इति । अत्र [वि]शरारुतागमनादे[:] स्थिरताधानादिना वैधर्म्येण प्रतिबिम्बनम् ॥

ननु, साधारणधर्माणां प्रतिबिम्बितत्वेन नियतनिष्ठतया कथं साधारणधर्मतेति चेद्, न, वस्तुतो हि तेषां धर्माणामभेद इति साधारणता, शब्दान्तरेण प्रतिपादितत्वात्तु प्रतिबिम्बनमिति न कश्चिद् विरोधः ॥९८–१००॥ [१४॥]

साधारणधर्मस्य असकृद्वृत्तौ दृष्टान्तमुक्त्वा सकृद्धर्मस्य निर्देशे दीपकमाह— सकृदिति ॥ एकस्थस्यैवेति । प्राकरणिकाप्राकरणिकवर्गमध्याद् एकत्र स्थितः समानो धर्मः क्रियादिः प्रसङ्गेन अन्यत्रोपकाराद् दीपनाख्याद् दीपसादृश्येन दीपकालंकारः । प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वाभ्यां च तेषामर्थानामुपमानोपमेयभावो गम्यमानो न श्रौत इत्युपमातोऽस्य भेदः ॥

'किवणाणे'ति । अत्र कुलबालिका प्रकृता, शेषाणि अप्रकृतानि, 'स्पृ-

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम् । यथा—

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥४५८॥

श्यन्ते ' इत्येकक्रिया समानो धर्मः ॥

अनेकक्रियागतत्वेनैकं कारकं कारकदीपकं, यथा—'स्विद्यति ' इति । अत्र वधूलक्षणस्य कर्तृकारकस्य बह्वीषु क्रि .ासु वृत्तिः ॥ आदिमध्यान्तवाक्यगतत्वेन धर्मस्य वृत्तौ आदिमध्यान्तदीपकाख्यास्त्रयोऽस्य भेदाः । यद् भामहः—

आदिमध्यान्तविषयं त्रेधा दीपकमिष्यते ॥

यथा—मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभङ्गुरम् ।
स प्रियासंगमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥

'मदः सुरादिपानविकारविशेषः । मानभङ्गुरं मानभञ्जनशीलम् । यद्वा, मानो भङ्गुरो यत्रेति समासः । ' अत्र मदादौ यत् प्राकरणिकतया विवक्ष्यते तद् उपमेयं, शेषाणि उपमानानि । आदिवाक्यस्था च जननक्रिया एको धर्मोऽपरेष्वपि वाक्येषु वर्तत इति आदिक्रियादीपकम् ॥

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः ॥

—अत्र ' प्रचक्रमे ' इति मध्यस्था क्रिया ॥ अन्तक्रियादीपकं तु ' किवाणाण ' इति दर्शितम् ॥ एवं कारकदीपकेऽपि आदिमध्यान्तगतत्वं ज्ञेयम् ॥ क्रियादेर्धर्मस्यैव वाक्यार्थेष्वनेकेष्वपि साधारणतया उपादीयमानत्वाद् अत्रौपम्यं बलाद् आपतति । तत्रापि यद् विवक्षितं तद् उपमेयं, इतरत्तु उपमानमिति । अत एव रुद्रटोक्त औपम्यसमुच्चयो दीपकमेव, तुल्यस्वभावात् । यथा—

जालेन सरसि मीना हरिणा वने च वागुरया ।
संसारे भूतसृजा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते ॥

—अत्र उपमानोपमेयत्वे ' बध्यते ' इत्येकः साधारणो धर्मः ॥

ननु, यदि क्रियापदोपनिबन्धो दीपकं, तर्हि न तदलंकारः । क्रियापदे हि सति वाक्यसमाप्तिः प्रतीयते, न पुनरर्थातिशयः । क्रियां विना वाक्यमेव न स्यात् । यदुक्तम्—

सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् इति ।

—तेनात्र कुतः कस्यातिशयः । शास्त्रारम्भवैयर्थ्याच्च । क्रियापदस्य हि

मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुनोत्तर[१४१]मुत्तरं चेदुपक्रियते तन्मालादीपकम् ।

यथा—

संग्रामाङ्गण[१४२]मागतेन भवता चापे समारोपिते
संप्राप्ते परिपन्थियोधनिवहे सांमुख्यमासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं नृ[१४४]पते त्वया सितयशस्तेनापि लोकत्रयम् ॥४५९॥

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१०४॥

नियतानां प्राकरणिकानामेवाप्राकरणिकानामेव वा । क्रमेणोदाहरणम् ।

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च व[१४५]पुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥४६०॥

दीपकत्वे सर्वं काव्यं सालंकारमिति नार्थोऽनेन ग्रन्थेन ।

सत्यम्, न क्रियापदमात्रं दीपकं, किं तु बहुभिः समानजातीयैः कारकविशेषैरभिसंबध्यमानम् । तस्य चानेकेष्वर्थेषु अभिसंबध्यमानस्यार्थवदन्वयिरूपं यत् तत्साम्यमुच्यते ॥१०१॥ [१५॥]

मालादीपकमिति । मालात्वेन चारुत्वविशेषणमाश्रित्य दीपकप्रस्तावे लक्षितम् ॥ गुणावहमिति । पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरं प्रति उत्कर्षनिबन्धनम् ॥

'संग्रामे'ति । अत्र कोदण्डादिभिः क्रमेण शरादीनामुत्कर्षो विहितः समासादनक्रियानिबन्धनं च दीपनं दीपनविषयाणामुत्तरोत्तरो[त्त]म्भितत्वेन कृतम् । चापशब्दाग्रस्य च 'भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी । भावः क्रिया, ततो यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते तस्माद् भाववतः सप्तमी स्यात् । प्रसिद्धा च क्रिया प्रयुज्यमाना गम्या वा क्रियान्तरं लक्षयति, यथा 'दुग्धासु गतः'। अत्र प्रयुज्यमानदोहनक्रियया गमनं लक्ष्यते । 'कलायमात्रेष्वाम्रेषु गतः' अत्र 'सत्सु' इति गम्यमानक्रियया गमनं लक्ष्यते । एवं चापसंबन्धिनी या समारोपक्रिया प्रयुक्ता तया समासादनलक्षणः क्रियाविशेषो लक्ष्यते । एकावली तु पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरेण उत्कर्षहेतुत्वे स्यादिति भेदः ॥ [१६॥]

प्रस्तुताप्रस्तुतयोः समस्तत्वे दीपकमुक्त्वा व्यस्तत्वे तुल्ययोगितामाह—
नियतानामिति । पुनःशब्दः पूर्वस्माद् विशेषे । विशेषश्च व्यस्तत्वमेव ॥

'पाण्डु क्षामम्' इति । अत्र वदनादीनि सर्वाण्यपि प्राकरणिकानि ।

कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥४६१॥

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥ ४६२ ॥

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति यत्केनचिदुक्तं तदयुक्तम् । अत्र यौवनगतास्थैर्यस्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

'आवेदयति' इति धर्मः सकृद् एकवारं निबद्धः । एवं गुणोऽपि यथा —

योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वग् मृगाजिनम् ।
उचितानि तवाङ्गस्य यद्यमूनि तदुच्यताम् ॥

—अत्र योगपट्टादीनि प्रकृतानि उचितत्वं गुणो धर्मः सकृन्निबद्धः ॥

अप्रकृतानामेव यथा । 'कुमुदादीनि चाप्रकृतानि, दृशोराननस्य च प्रकृतस्य वर्ण्यमानत्वात् 'का' इति । निन्दालक्षणश्च सकृद्धर्मो निबद्धः । अत्रापि प्रकृतेष्वेव अप्रकृतेष्वेव पदार्थेषु एकधर्मानुगतेषु वर्ण्यमाणेषु किंचित् साम्यं ज्ञेयम् ॥१०२॥ [१७॥]

उपमेयस्येति । प्राकरणिकस्य यद् आधिक्यमर्थाद् उपमानात् स व्यतिरेकः ॥ 'क्षीण' इति । कयाचिद् युवत्या शशिनि क्षयवृद्धी दृष्ट्वा सागसि प्रिये मानो गृहीतः, यथा 'शशी क्षीणोऽपि वर्धते तथा यौवनं क्षीणमपि वृद्धिं यास्यतीति तदैव मानत्यागात् क्रीडिष्यामि, संप्रति तु रुष्यामि' इति चित्ते कृत्वा स्थिता । स तु नायको विदिताभिप्रायस्तामाह । अत्रोपमेये यौवने उत्कर्षकारणस्य अस्थैर्याधिक्यलक्षणस्य उपमाने तु चन्द्रे निकर्षकारणस्य अस्थैर्यहानिलक्षणस्य उपादानाद् इवाद्यनुपादाने आक्षिप्तौपम्ये सति वक्ष्यमाणतृतीयचतुष्के प्रथमो भेदः । रुद्रटस्तु उपमानादुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे व्यतिरेकमाहेत्याशङ्क्याह–इत्यादाविति ॥ उपमानस्येति, चन्द्रस्य ॥ उपमेयादिति, यौवनात् ॥ विवक्षितमिति । तेन उपमानाद् उपमेयस्य यद् आधिक्यं स व्यतिरेक इत्यर्थः ॥

व्यतिरेकश्च उत्कर्षापकर्षहेत्वोरुपादाने उक्तौ एकविधोऽयमनुक्तौ च तयोः क्रमेण युगपद् वानुपादाने त्रिविधोऽयं चतुर्विधः, पुनश्च औपम्ये शब्दे-

हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥१०९ ॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत् ।

व्यतिरेकस्य हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम्, उपमानगतं निकर्षकारणम्, तयोर्द्वयोरुक्तिः, एकतरस्य द्वयोर्वानुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्, एतद्भेदचतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते, [१५२]आर्थेन [१५३]क्रमेणोक्तौ चत्वार एव भेदाः, आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव, एवं द्वादश। एते च श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः[१५४]। क्रमेणोदाहरणम्—

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥ ४६३ ॥

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वानुपादानेऽन्यद् भेदत्रयम् । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्रेवशब्दस्य

नार्थेन वा निवेदिते प्रतीयमाने वा द्वादशभेद इत्याह-हेत्वोरिति ॥ तद्वदिति। तथा श्लेषेऽपि द्वादश भेदाः, तत्तस्मात् त्रीन् वारान् अष्टभेदाश्चतुर्विंशतिरित्यर्थः ॥ शब्देनेति । इव-वा-यथेतिरूपेण इवार्थे विहितवतिरूपेण च ॥ अर्थेनेति । तुल्यादिना शब्देन तुल्यार्थे विहितवतिना च ॥ आक्षिप्ते इति । इवादितुल्यादिपदविरहे इत्यर्थः ॥

'असिमात्रसहायस्य' इति । अत्र तुच्छत्वं निकर्षकारणं महाधृतित्वं तु उत्कर्षस्य स्मयाभावस्य कारणमिति उपमेयोपमानगतौ युगपद् उत्कर्षापकर्षहेतू उक्तौ। अत्रैव 'इतरस्य जनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः' इति पाठे महाधृतित्वमुपमेयोत्कर्षहेतुः । 'तुच्छस्यान्यजनस्येव न स्मयो यस्य लक्षितः' इति तु पाठे तुच्छत्वमुपमानापकर्षहेतुः स्यात् । तथात्रैव द्वयोर्युगपद् अनुपादानेऽपि ज्ञेयमित्याह वृत्तिकृद्—अत्रैव तुच्छेति । यथा वा—

शीर्णपर्णाम्बुवाताशकाष्ठेऽपि तपसि स्थिता ।
समुद्वहन्ती नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत् ॥

आशो भक्षणम् । गर्वानुद्वहनेन उपमानाद् उपमेयस्याधिक्यं, गर्वोपक्रमावस्थापेक्षं चोपमानोपमेययोः सादृश्यम् । वतिश्च शाब्दीमुपमानोपमेयतां द्योतयति । अत्र उपमेयोपमानगतयोरुत्कर्षापकर्षहेत्वोर्द्वयोरपि अनुक्तिरिति चत्वारो भेदाः ॥एवमन्येष्विति । आर्थादौ चतुष्कपञ्चकेऽपि दर्शितदर्शिना उदाहरणैरन्यद्

सद्भावाच्छाब्दमौपम्यम् ।

असिमात्रसहायोऽयं[155] प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं [156]धृतेर्निधिः ॥ ४६४ ॥

[157]तुल्यार्थे अत्र वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥ ४६५ ॥

[158]अत्रेवादि—तुल्यादि पदविरहेणा[159]क्षिप्तैवोपमा ।

जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥ ४६६ ॥

अत्रेवार्थे वतिः । गुणशब्दः श्लिष्टः[160] ।

अखण्डमण्डलः श्रीमान्पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥ ४६७ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः । कलाशब्दः श्लिष्टः ।

भेदत्रयं द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ आर्थेन साम्ये, यथा–' असिमात्रे 'ति । अत्रापि उत्कर्षापकर्षहेत्वोर्द्वयोरुक्तिः । यत्र ' तत्र तस्येव ' इत्यनेन इवार्थे वतिः, तत्र श्रौतमौपम्यम् । यत्र तु ' तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः ' इत्यनेन वतिः, तत्र आर्थमौपम्यमित्याह–तुल्यार्थेऽत्रेति । एवमन्यद् भेदत्रयं ज्ञेयम् ॥

आक्षिप्तौपम्ये यथा– ' इयं सुनयना ' इति । अत्र अकलङ्ककलङ्कितत्वे उपमेयोपमानगते युगपद् उत्कर्षापकर्षहेतू उक्तौ ॥ अनुक्तौ भेदत्रयं यथा—

नवीनविभ्रमोद्भेदतरंगितगतिः सदा ।
मुखेन स्मितमुग्धेन जयत्येषा सरोरुहम् ॥

—अत्र स्मितमुग्धत्वमुपमेयोत्कर्षहेतुः । अत्रैव ' विडम्बयति वक्त्रेण निश्चयवस्मितमम्बुजम् ' इति पाठे उपमानापकर्षः । ' अहो विडम्बयत्येषा वदनेन सरोरुहम् ' अत्र उत्कर्षापकर्षहेत्वोर्द्वयोरपि अनुक्तिरिति चत्वारो भेदाः । साम्यं तु आक्षेपात् सर्वत्र प्रतीयते ॥

श्लेषे शाब्दमौपम्यं यथा–' जितेन्द्रिये 'ति । अत्र उपमेयोपमानयोरुत्कर्षापकर्षहेत्वोरुक्तिः ॥

' अखण्डे 'ति । अत्र उपमेयगतोत्कर्षोपमानगतनिकर्षकारणोपादाने आर्थौपम्ये श्लेषव्यतिरेकस्य प्रथमो भेदः ॥

यथा[162] वा—

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चा[163]पि दुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥ ४६८ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः । विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वतानेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥ ४६९ ॥

यथा वा—

स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं
बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम् ।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र
तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥ ४७० ॥

[165]अत्रेवार्थतुल्यादीनां [166]च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते । [167]इत्येवंजातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्य[168]स्य पदस्य पृथगुपादानेऽन्येऽपि भेदाः संभवन्ति । तेऽ[169]नयैव दिशा[170] द्रष्टव्याः ।

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चापि दुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥

'वृषो धर्मो दानवविशेषश्च ।' अत्र तुल्यार्थे वतिर्विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः । अयमुत्कर्षापकर्षहेत्वोरनुक्तौ चतुर्थो भेदः आर्थौपम्ये सति शेषं द्वयं ज्ञेयम् ॥

आक्षिप्तौपम्ये श्लेषव्यतिरेको यथा—'नित्योदिते'ति । 'भास्वता' इत्यस्य श्लिष्टत्वं, भास्वतेव भास्वनेति भासुरत्वस्यारोपगत्या रवित्वस्य च प्रतिपादनात् । अत्र उदितप्रतापत्वं मीलितप्रभुत्वं चोपमेयोपमानगते उत्कर्षापकर्षहेतू उक्ताविति श्लेषव्यतिरेकान्त्यचतुष्कस्य प्रथमो भेदः ॥

'स्वच्छात्मते'ति । 'मधु कर्तृ तृष्णां जहार, न मुखम् ।' अत्र तृष्णाया हरणेऽहरणे च नोपात्तौ हेतुरिति उभयानुपादानाच्चतुर्थोऽयं भेदः श्लेषव्यतिरेकान्त्यचतुष्कस्य ॥ शेषं द्वयमूह्यम् ॥ 'एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम्'इति वचनात् प्रतिचतुष्कमेकः कश्चिद् भेदो वक्तुं संमत इति 'हरवद्' इति 'स्वच्छात्मता' इति च उदाहरणद्वयं ग्रन्थकाराभिप्रायेण न भवति ॥ पृथगुपादानमिति । यथा—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥ १०६ ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्याशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विविध आक्षेपः । क्रमेणोदाहरणम्—

या शैशिरी श्रीस्तपसा मासेनैकेन विभ्रती ।
तपसा तां सुदीर्घेण दूराद् विदधतीमधः ॥

'तपो माघमासः, अन्यत्र तु अभ्युदयहेतुः कृच्छ्राचरणम् ।' इत्यादय अनुपात्ता अपि सामर्थ्यगम्याः । अत्र 'तपसा' इति श्लिष्टोक्तियोग्यं पदं पृथगुपात्तम्, अतोऽयमपि श्लेषव्यतिरेक आक्षिप्ते औपम्ये उभयोपादाने सति ॥ यथा वा—

यद्यप्य[न]नुपचरितस्तथापि तव नाच्युतस्तुली [स] भवेत् ।
स हरिर्नाम्ना देवः स हरिर्वरतुरगनिवहेन ॥

देवशब्दः प्रकरणाद् युष्मदर्थे । हेत्वोरुक्तौ आर्थौपम्यम् । अत्रापि श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानम् ॥ एवमन्येऽपि एकादश भेदाः ॥

ननु श्लेषव्यतिरेकयोरन्यत्र लब्धसत्ताकत्वात् श्लेषोपकृतत्वे व्यतिरेकस्याङ्गाङ्गिभावे संकरत्वं स्यात् । सत्यम्, श्लेषगर्भीकारेण व्यतिरेकलक्षणमंशमाश्रित्य एवंविधे श्लेषव्यतिरेकापरनामत्वान्न संकरः । ततस्तदनुचरणार्थमेवैष प्रकारो व्यतिरेकप्रकारतया व्यवस्थाप्यते ॥ [१८॥]

अशक्यवक्तव्यत्वमिति **वक्ष्यमाणविषयस्य लक्षणम्** ॥ अतिप्रसिद्धत्वमिति उक्तविषयम् ॥ निषेध इवेति । **न तु निषेध एव, किं तु प्राकरणिकस्यार्थस्य प्रस्तुतत्वादेव प्रधानस्य वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये निषेधाभासः । विधानार्हस्य निषेधः कर्तुं न युज्यत इति निषेधमुखेन विशेष एव तात्पर्यमित्यर्थः । स च निषेधो वक्ष्यमाणस्य स्यादिति द्वयी गतिः ॥**

ननु, उक्तविषयत्वे कथं वक्तुमिष्टत्वं स्यात् । सत्यम्, उक्तमप्यादौ वक्तुमिष्टमेव, विशेषस्य च शब्दानुपात्तत्वाद् आदिमत्त्वम् । तत्र वक्ष्यमाणविषये कथनमेव निषिध्यते, उक्तविषये च वस्तु निषिध्यते ॥

ए एहि [१७२]किंपि कीएवि कएण [१७३]निक्किव भणामि अलमहवा ।
अवियारिअकज्जारम्भआरिणी मर- [१७४]न भणिस्सम् ॥४७१॥

ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
[१७५]कर्पूरं कदली मृणाळवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर-
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥४७२॥

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥१०७॥

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना । यथा—

'ए एहि' इति । 'अयि एहि किमपि कस्याश्चित् कृतेन निष्कृप भणामि अलमथवा'। 'अवियारिअ' इति। 'कार्यं त्वदनुरागलक्षणं यान्यासक्तमपि त्वामभिळषति' इत्यर्थः । अत्र 'न भणिस्सम्' इति भणितिनिषेधे 'त्वददर्शनात् तास्ता अवस्थाः समुन्मिषन्ति या वक्तुमपि न शक्यन्ते' इति विशेषः प्रतीयते निषेधस्य निषेध इव, न तु निषेध एव तेनेष्टमर्थं प्रतिषेधव्याजेन उत्कर्षयति, मन्मथमाहात्म्यावस्थाविशेषाणां च वक्ष्यमाणतया सूचनमिति वक्ष्यमाणविषय आक्षेपः ॥

'ज्योत्स्ना' इति । अत्र 'किमनेनोक्तेनेति कैमर्थक्यपरमालोचनं न ब्रूमः' इति निषेधमुखेन त्वदप्राप्तौ ज्योत्स्नादयः स्फुलिङ्गव्यापारहेतवस्तस्या भवन्तीत्यतिप्रसिद्धोऽयमर्थोऽन्यत्रापि परिदृष्टत्वात् । स्फुलिङ्गव्यापाराणां चानन्त्यात्मको विशेषोऽभिधित्सितः, तस्य च 'किमनेनोक्तेन' इति सामान्येन उपक्रान्तस्य अधुना निषेधवशेन असंविज्ञानपदनिबन्धनत्वमित्युक्तविषयता । तस्माद् इष्टनिष्ठस्य निषेधाभासस्य विध्युन्मुखस्य आक्षेपत्वमिति स्थितम् । यदाह तिलकः

तदिष्टस्य निषेधत्वमाक्षेपोक्तेर्निबन्धनम् ।
सौकर्यैगान्यकृतये न निषेधत्वयता [?] पुनः ॥

अन्यकृतये विशेषविध्यर्थम् ॥ [१९॥]

हेतुरूपेति । क्रिया हि कार्यं निष्पादयतीति सैव हेतुः । सर्वेषां फलभूतानां क्रियैव अव्यवहितं कारणं, क्रियामुखेन कारणेभ्यः कार्योत्पत्तेः । अन्यैश्च 'क्रियाफलमेव कार्यम्' इति वैयाकरणैरेव अभ्युपगम्यते, न सर्वैरिति क्रियापदस्थाने कारणग्रहणं कृतम् । सामान्येन विशेषमनपेक्ष्य फलप्रकाशनमिति कार्यस्य कविना प्रतिपादनं, न तु भवनकारणमन्तरेण कार्योत्पत्तेरसंभवाद् ॥ इह कारणा-

कुसुमितलताभिरहताप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि ।
परिवर्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा ॥४७३॥

न्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेण असंभवः । यदि तु कयाचिद् भङ्ग्या तथाभावोपनिबन्धः, तदा विभावना । सा च भङ्गिः प्रसिद्धतरकारणानुपलब्धिः । अप्रसिद्धं तु कारणं वस्तुतोऽस्त्येव । अस्याश्च न विरोधरूपत्वं, विरोधे द्वयोरपि समानबलयोः परस्परबाधात् । अत्र तु कार्योत्पत्तिरेव कारणप्रतिषेधेन बाध्यमाना प्रतिभाति. न तु कारणप्रतिषेधस्य कार्योत्पत्त्यापि बाधः । कारणप्रतिषेधस्य हि बाधः प्रतिभासमानोऽपि ज्ञप्त्यपेक्षो, ज्ञप्तिश्च उत्पत्त्यपेक्षया दवीयसी न विभावनां प्रयोजयति ॥ 'ज्ञप्त्यपेक्ष' इति–यथा हि कार्यमुत्पद्यमानमेव कारणप्रतिषेधेन बाध्यत इति भवत्युत्पत्त्यपेक्षस्तत्र बाधस्तथा नोत्पद्यमान एव कारणप्रतिषेधः कार्योत्पत्त्यापि बाध्यते, अपि तु उत्पन्नस्य तस्य बाधस्तया ज्ञाप्यत इति कारणप्रतिषेधबाधो ज्ञप्त्यपेक्ष एव ॥ 'ज्ञप्तिश्च' इति कारणप्रतिषेधबाधज्ञानं च । 'दवीयसी' इति पश्चाद्भावित्वेन ॥ भवतु वात्रापि सामान्येन परस्परं बाधस्तथापि न विरोधरूपत्वं हेतुफलभावं विशेषमाश्रित्य प्रवर्तनाद् अस्यास्तदपवादत्वात् ॥ एवं विशेषोक्तौ कार्यभावेन कारणसत्ता एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम् । येन सापि अन्योन्यबाधत्वानुप्राणिताद् विरोधाद् भिद्यते । इयं च विशेषोक्तिवद् अनुक्तोक्तनिमित्तभेदा द्विधा, यथा–'कुसुमिते'ति । अत्र कुसुमितलताहननादीनां कारणानामभावेऽपि रुग्धारणादीनि कार्याणि प्रकाशितानि । तत्र विरहित्वलक्षणं निमित्तं गम्यमानम् ॥

उक्तनिमित्ता यथा—

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥

–अत्र द्वितीयपादे मदस्य यद् आसवाख्यं करणं प्रसिद्धं तदभावेऽपि यौवनहेतुकत्वेन उपनिबन्ध उक्तः। 'मदो मत्तता हर्षश्चेति'। मदस्य द्वैविध्येऽपि अभेदाध्यवसायकत्वमिति अतिशयोक्त्यनुप्राणिता विभावना । 'असंभृतं मण्डनम्' इति 'कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रम्' इत्यत्र च संभरणस्य पुष्पाणां च मण्डनमस्त्रं च प्रति कारणत्वात् तदभावे विभावना ॥ 'एकगुणहानौ विशेषोक्तिरियम्' इति वामनीयाः । 'रूपकमेव अधिरोपितवैशिष्ट्यम्' इति अन्ये । 'आरोप्यमाणस्य मण्डनादेः प्रकृते वयसि संभवात् परिणाम' इति तु अद्यतनाः ॥ १०३–१०५ ॥ [२०॥]

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्याकथनं विशेषोक्तिः । अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता च । क्रमेणोदाहरणम्—

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥४७४॥

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान्यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥४७५॥

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हृतं बलम् ॥४७६॥

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥

एतद्विपर्ययरूपा विशेषोक्तिरिति । फलस्य कार्यस्य अभणनम् । इह मिलितानि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्ति । यत्तु सत्यपि सामर्थ्ये कार्यं न जनयन्ति सा कंचित् विशेषमभिव्यङ्क्तुं प्रयोज्यमाना विशेषोक्तिरनुक्तोक्ताचिन्त्यनिमित्तत्वेन त्रिधा ॥

'निद्रे'ति । अत्र निद्रानिवृत्त्यादय आलिङ्गनचलनहेतवस्तेषु सत्स्वपि आलिङ्गनचलनलक्षणं कार्यं नोक्तं, मन्मथोन्माथवल्लभस्वप्नसमागमादि च निमित्तं नोक्तम् ॥

'कर्पूरः' इति । अत्र सत्यपि दाहलक्षणेऽविकले कारणेऽशक्तत्वाख्यस्य कार्यस्य नोक्तिः । अवार्यवीर्यत्वं च निमित्तत्वेन उक्तम् ॥

'स एकः' इति । अत्र तनुहरणे कारणे सत्यपि बलहरणस्य कार्यस्य अनुक्तौ निमित्तमचिन्तनीयमेव । प्रतीत्यगोचरत्वात् । 'अतैलपूराः सुरतप्रदीपाः' इत्यादि तु रूपकम् । एकगुणहानिकल्पनायां न पृथग् विशेषोक्तिलक्षणारम्भं प्रयोजयति ॥ [२१॥]

उद्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण संबन्धो यथासंख्यं, संख्योपलक्षितक्रमानतिक्रमेण पदार्थानामन्वयसमाश्रयात् । अन्ये तु इमं क्रमसंज्ञमाहुः ॥ क्रमिकाणामिति बहुवचनमतन्त्रम् । तेन द्वयोरपि अर्थयोर्यथासंख्यम् । तच्च शाब्दमार्थं चेति द्विधा । यत्र असमस्तानां पदानामसमस्तैः पदैरर्थद्वारकः संबन्धस्तत्र क्रमसंबन्धस्य अतिरोहितस्य प्रत्येयत्वाच्छाब्दं, यत्र तु समासः क्रियते तत्र

यथा—

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥४७७॥

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥१०९॥

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत्समर्थ्यते, विशेषो वा सामान्येन, सोऽर्थान्तरन्यासः । क्रमेणोदाहरणम्—

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥४७८॥

समुदायस्य समुदायेन सह संबन्धस्य शाब्दत्वाद् अर्थानुगमपर्यालोचनेन अवयवगतसंबन्धः प्रतीयत इति आर्थत्वम् । तत्र बहुषूद्दिष्टेषु प्रधानार्थेषु यतो द्विविशेषणयुक्तं द्विगुणं त्रिविशेषणयुक्तं त्रिगुणं वा रम्यं जायत इति तथैव बध्नीयात्, द्वयोः पुनरुद्दिष्टयोर्बहुशोऽपि विशेषणानि बध्नीयात् ॥

'एकस्त्रिधा' इति । शौर्योष्मविनयलीलानां वर्णनीयत्वेन उद्दिष्टानां यथाक्रमं देवद्विड्विद्वन्मृगदृशामनुनिर्देशः । अत्र त्रिगुणत्वेन उपनिबन्धः ॥ द्वयोरुद्दिष्टयोर्बहुगुणोपनिबन्धो यथा—

दुग्धोदधिशैलस्थौ सुपर्णवृषवाहनौ घनेन्दुरुची ।
मधुमकरध्वजमथनौ पातां वः शार्ङ्गिशूलधरौ ॥

—अत्र दुग्धोदध्यादीनां शार्ङ्गिशूलधराभ्यां संबन्धः श्रुत्या समुदायनिष्ठः प्रतीयते, अर्थानुगमानुसरणेन तु अवयवानां क्रमसंबन्धावगतिरिति आर्थं यथासंख्यम् । द्वयोरुद्देशिपदं परिकल्प्य चत्वारि तद्विशेषणानि ॥ एवं द्विविशेषण योगाद् द्विगुणं ज्ञेयम् ॥१०६॥ [२२॥]

यत्र हेतोर्हेतुमता सह व्याप्तिर्गूढत्वात् कथं[चित्] प्रतीयते, न तु स्पष्टमवभासते तत्रार्थान्तरस्यैव समानासमानजातीयस्यैव वस्तुन उपन्यासनमसौ अर्थान्तरन्यासः ॥ साधर्म्येण यथा– 'निजे'ति । अत्राद्येऽर्धे सामान्यं द्वितीयार्धोपात्तेन विशेषेण समर्थ्यते ॥

सुसितवसनालंकारायां कदाचन कौमुदी
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः ॥४७९॥

गुणानामेव दौरात्म्याद्धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गली[१७८] [?गलिः] ॥४८०॥

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदां[१७९] पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥४८१॥

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि[१८०] विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः ।

'सुसिते'ति । अत्र 'मुक्ताशङ्का' इत्यतः प्राक् समर्थनीयं विशेषरूपं 'क्व नासि' इति सामान्येन समर्थ्यते ॥

वैधर्म्येण यथा— 'गुणानाम्' इति 'गली[?लिः] कर्मण्यकुशलोऽत्यन्तमलसः'। अत्र 'गुणानाम्' इति सामान्यं, 'सुखं स्वपिति गौर्गलिः' इति वैधर्म्येण विशेषेण समर्थ्यते ॥

विशेषः सामान्येन, यथा– 'अहो हि' ति। अत्र आयुःकर्तृकापराद्धत्वेन आक्षिप्तस्य अधन्यत्वस्य आयुर्विरुद्धक्षयगतिप्रयुक्तं धन्यत्वं विरुद्धं सामान्यरूपतया समर्थकत्वेनोक्तम् ॥ यथा वा—

अन्ययान्यवनितागतचित्तं चित्तनाथमभिशङ्कितवत्या ।
पीतभूरिसुरयापि न मेदे, निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः ॥

—अत्र विशेषः सामान्येन वैधर्म्येण समर्थ्यते ॥ हि–शब्दाभिहितत्वानभिहितत्वादिभेदाश्च वैचित्र्याभावान्नोक्ताः ॥

ननु, अप्रस्तुतप्रशंसातोऽस्य को भेदः, तथा हि 'एतत्तस्य मुखात् कियत् कमलिनी' इत्यादौ अप्रस्तुतप्रशंसायामपि समर्थनमस्त्येव । सत्यम्, किंतु अर्थान्तरन्यासे सामर्थ्यस्य स्वकण्ठेनोपात्तस्य समर्थनं, अप्रस्तुतप्रशंसायां तु अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वं प्रस्तुतस्य गम्यत्वम् । सामान्यविशेषयोश्च द्वयोरपि वाच्यत्वेऽर्थान्तरन्यास इति भावः । दृष्टान्तालंकाराच्च यथास्य अभेदस्तथा तत्रैवोक्तम् ॥ ॥१०७॥ [२३॥]

अविरोधेऽपीति । सति हि विरोधपरिहारे प्रमुख एवाभासमानत्वाद् विरो-

जातिश्च[१८०]तुर्भिजात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥११०॥
क्रिया द्वाभ्याम[१८१]थ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

क्रमेणोदाहरणम् —

अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥४८२॥

गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः ।
विश्वंभराऽप्यतिलघुर्नरनाथ तवान्तिके नियतम् ॥४८३॥

येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां संप्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं परामोति च ।
तेषां संगर[१८२]सङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥४८४॥

सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥४८५॥

स[१८३]ततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥४८६॥

धाभासो विरोधः । समाधानं तु विना दोष एव ॥ जात्याद्यैरिति । जातिर्जात्या गुणेन क्रियया द्रव्येणेति चत्वारः । गुणो गुणेन क्रियया द्रव्येणेति त्रयः । क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यामिति द्वौ । द्रव्यं द्रव्येणेति एकः । एवं दश विरोधभेदाः ॥ रुद्रटस्तु 'नित्यमेव द्रव्याश्रितत्वाद् जातेर्न जातिद्रव्ययोर्विरोध' इति नव भेदानाह ॥ 'अभिनवे'ति । 'पविर्वज्रम्' । अत्र नलिनीत्वादिजातीनां दवदहनत्वजातेश्च अन्योन्यं विरोधो वियोगवशेनेति परिह्रियते ॥

गुणेन यथा — 'गिरयोऽपि' इति । 'बलं जवः सैन्यं च' । 'त्वमेव महान् सैन्यवान् गम्भीरोऽतिविस्तारवांश्च' इति तात्पर्यार्थः । अत्र गिरित्वजातेर्लघुत्वपर्यायानुन्नतिलक्षणेन, मरुत्त्वजातेर्मन्दत्वगुणेन, अब्धित्वजातेर्निम्नत्वगुणेन, विश्वंभरात्वजातेरतिलघुत्वगुणेन विरोधः ॥

'येषाम्' इति । 'धाराधरः खड्गः । अनुरज्यत इति अनुरागः । शोणितकृतं शोणत्वं च । स्नेहो रुधिरार्द्रत्वमपि । अत्र 'पांशूनाम्' इति पांशुत्वजातेर्मण्डनक्रियया सह विरोधः ॥

'सृजति' इति । अत्र शफरत्वजातेर्जनार्दनद्रव्येण सह विरोधः ॥ 'सततम्' इति । । अत्र काठिन्यसौकुमार्ययोर्गुणयोर्विरोधः ॥

पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सुतत्त्वविदाम् ।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत्प्रमोदयति ॥४८७॥
क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥४८८॥
परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥४८९॥
अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥४९०॥
समदमतङ्गजमदजलनिसँङ्गतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक त्वयि तटजुषि शंकरजूटापगापि कालिन्दी ॥४९१॥

'पेशलम्' इति । 'सतत्त्वविदां परमार्थविदाम्' । अत्र पेशलत्वलक्षणगुणस्य दहनक्रियया परुषत्वलक्षणगुणस्य प्रमोदक्रियया च विरोधः ॥

द्रव्येण यथा 'क्रौञ्चे'ति । [य]न्मार्गणा एव अनर्गलः शातपातः । 'अम्भोजदलाभिजातः' इति अम्भोजदलप्रख्यो जातः । अत्र दृषद्दृढत्वलक्षणगुणस्य अम्भोजदलस्वरूपद्रव्येण विरोधः ॥

'जडयति शीतलयति व्यामोहयति च । ताप उष्णत्वं खेदश्च' । अत्र जडीकरणतापकरणयोः क्रिययोर्विरोधो वस्तुसौन्दर्येण तदप्राप्तिपर्यवसानेन परिह्रियते ॥

'अयम्' इति । अत्र जलधिद्रव्येण सह पानक्रियाया विरोधो मुनिगतेन महाप्रभावत्वेन परिह्रियते ॥

द्रव्यस्य द्रव्येण — 'समदे'ति । अत्र 'गङ्गापि यमुना जाता' इति गङ्गायमुनारूपयोः श्वेतकृष्णरूपयोर्द्रव्ययोर्विरोधो, न तु नदीत्वजातेः, विविक्तविषयत्वेन विरोधस्य दर्शनात् । 'श्लेषगर्भत्वे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः' इति उद्भटः । मतान्तरे तु संकरः, यथा — 'संनिहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादौ विरोधेन द्वयोरपि श्लिष्टत्वे । एकस्य च श्लिष्टत्वे 'कुपितमपि कलत्र-

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

[१८७] पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४९२॥

वल्लभम्' इत्यादौ विरोध एवेष्यते । श्लेषवशादेव हि समासादितस्वभावः श्लेषात्मक एव विरोधस्ततः श्लेषेण सहास्य संकरत्वाशङ्का न कार्या, भेदाभावात् । एवमन्यत्रापि परीक्ष्यम् । भिन्नदेशयोश्च कार्यकारणयोर्विरोधेऽपि 'जस्सेग्गवणो तस्स' इत्यादौ असंगतिप्रभृतिर्वक्ष्यते ॥ [२५॥]

अन्यूनानतिरिक्तत्वेन वस्तुस्वभाववर्णनं स्वभावोक्तिः । स्वभावश्च अर्थतादवस्थ्यम् । सा अनुभवैकगोचराऽवस्था यस्य तस्य भावस्तादवस्थ्यम् । अयमर्थः । कविप्रतिभया निर्विकल्पप्रत्यक्षकल्पया विषयीकृता वस्तुस्वभावा यत्र वर्ण्यन्ते सा स्वभावोक्तिरिति सान्वयेयं संज्ञा । तेन—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥

-इति यत् कैश्चिदुक्तं तन्निरस्तमेव ॥ वस्तुनो हि सामान्यस्वभावो लौकिकोऽर्थोऽलंकार्यः कविप्रतिभासंरम्भविशेषस्तु लोकोत्तरोऽर्थोऽलंकरणमिति । तथा चाह—

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ॥
तत्रैकमस्य सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः ।
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः ॥
अत एवाभिधेयं ते श्यामलं बोधयन्त्यलम् ॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः ।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥
वस्तुमात्रानुवादस्तु पूर्णैकफलो हि यः ।
अर्थदोषः स दोषज्ञैरपुष्ट इति गीयते ॥

स्वयोरिति । स्वकीययोः क्रियारूपयोः क्रियाव्यापारः । संस्थानं स्वाभाविकं रूपम् ॥

'पश्चाद्' इति । 'द्राघयित्वा दीर्घीकृत्य । प्रोथोऽश्वस्य मुखाग्रम् । तुण्डं

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः । क्रमेणोदाहरणम् —

हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परो
लज्जामज्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते ।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४९३॥

हे हेलाजितबोधिसत्त्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥४९४॥

मुखम्' । अत्र क्रिया 'धूलिधूम्रा' इति वर्ण्यस्योक्तिः, 'चलत्प्रोथतुण्डः' इति संस्थानस्योक्तिः, 'शब्दायमानो विलिखति' इति क्रिययोरुक्तिः ॥

स्वभावश्च स्थानकादिरपि यथा—

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥

आदि-ग्रहणाद् वेषादि यथा—

वल्लीवल्कपिनद्धधूसरशिराः स्कन्धे दधद्दण्डकम् इत्यादौ ॥ ॥१०८-१०९॥

मुखे निन्देति । **श्रूयमाणा निन्दा । रूढिस्तु अन्यथा स्तुतौ वाक्यतात्पर्यमिति एका** ॥ स्तुतिर्वेति । **श्रूयमाणा स्तुतिः । रूढिस्तु अन्यथा निन्दायां पर्यवसानमिति द्वितीया॥ एतदेवाह** — व्याजरूपेति । **छद्मरूपा निन्दाद्वारिकेत्यर्थः ॥** व्याजेनेति । **परमार्थेन तु निन्दैवेत्यर्थः** ॥

'हित्वा' इति । **कोऽपि राजानमाह । 'भवद्विधः कोऽपि निर्दाक्षिण्यो नास्ति'** । लक्ष्मीसदृशं तु निर्लज्जं किमपि नास्तीत्यर्थः । लज्जाया मज्जनं ब्रुडनम् ॥

'हे हेले'ति । **अत्र विपरीतलक्षणया वाच्याद् विपरीता प्रतीतिरिति निन्दायां पर्यवसानम्** ॥

किं वृत्तान्तैः परगृहकृतैः किं तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलाद्युभयस्यावगमकं सा सहोक्तिः । यथा—

सह दिअ[१४९]संणिसाहिं दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलएँ[१५०]हि वाहधारा गलन्ति ।
[१५१]तुहँ सुहअ विओए तीअ[१५२] उव्विग्गिरीए
सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा[१५३] ॥४९५॥

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम् । दिवसनिशादिगतं [१५४]सहार्थसामर्थ्यात्प्रतिपद्यते ।

—अत्र प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसिना निन्दा ‘ हन्त कीर्तिः ’ इति भणित्वा उन्मूलिता न प्ररोहं गमितेति श्लिष्टमेतद् उदाहरणम् । यत्तु निन्दापूर्विकायां स्तुतौ तेनापि उदाहृतं—

आसीन्नाथ पितामही तव मही माता ततोऽनन्तरं
जाता संप्रति साम्बुराशिरशना भार्या कुलोद्भूतये ।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां तद् [? किं भू] पतीनां कुले ॥

—इत्यादि तद् ग्राम्यं प्रतिभाति, अत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात् ॥ का चानेन स्तुतिः कृता ‘ त्वं वंशक्रमेण राजा ’ इति कियदिदम् ॥ [२६॥]

एकार्थाभिधायकमपीति । एकपदार्थगतधर्माभिधायकमपि सहार्थसामर्थ्येन द्वितीयपदार्थगतधर्मप्रत्यायकमपि यद् भवति । ‘ उव्विग्गिरीए उद्वेजनशीलायाः ’ दण्डादीत्यादिशब्दाद् बाष्पधारागता गलनक्रिया शाब्दी वलयगता तु सहार्थसामर्थ्याद् अवसीयते, द्वयोरपि प्राकरणिकत्वाद् अप्राकरणिकत्वाद् वा ॥ सहार्थप्रयुक्तोऽत्र गुणप्रधानभावः, तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन । गुणभावाद् उपमानत्वं, अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वाद् उपमेयत्वं वैकल्पिकम् । यथा वा—

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय च व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥

—अत्र रघुगता पतनक्रिया शाब्दी, अश्रुगता तु सहार्थसामर्थ्याद् अवसीयते ॥

विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्नेतरः ।

क्वचिदशोभनः, क्वचिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्—

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥४९६॥

ननु, 'सह दिअसणिसे'त्यादौ परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारितानिबन्धनमिति प्रतीयमानोपमैवेयं, हन्त तर्हि रूपकापह्नुत्यप्रस्तुतप्रशंसादयोऽपि पृथग् न वाच्याः, तत्रापि उपमानोपमेयभावप्रतीतेरुपमैव एकालंकारो वाच्यो, नालंकारान्तरम् । यदाह वामनः—'प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः' इति । अथ रूपकादिषु तत्त्वारोपादिर्लक्षणं विशेषमङ्गीकृत्य रूपकादिव्यवहारः प्रवर्त्यते, तर्हि सहोक्त्यादावपि सहार्थसामर्थ्यावसितसाम्यसमन्वयलक्षणो विशेषोऽस्तीति तेऽप्युक्ताः । व्यङ्ग्यं तु तत्त्वारोपादिनाभिधीयमानेनैव वाक्यार्थोऽलंकृत इति वाक्येऽलंकारे गुणीभवति । एवं दीपके दीपनकृतमेव चारुत्वमित्युपमापि । मालारूपापीयं यथोक्तोदाहरण एव । यथा वा—

उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः साकं मुखैर्नामितं
भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम् ।
वैदेह्या मनसा समं तदधुना कृष्टं ततो भार्गव-
प्रौढाहंकृतिकन्दलेन च समं भग्नं तदैशं धनुः ॥

शोभाशून्यत्वे च—

'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु' इति । 'शिष्येण सहोपाध्यायः पठति' 'पुत्रेण सह पिता तिष्ठति' इत्यादौ च सहोक्तिमात्रं नालंकारः । यदुक्तम्—

समासोक्तिः सहोक्तिश्च नालंकारतया मता ।
अलंकारान्तरत्वेन शोभाशून्यतया तथा ॥

शोभाशून्यत्वमहृद्यत्वम् । तत्र चोपमादयोऽपि नालंकारा इति सर्वं संमतम् ॥११०॥ [२७॥]

सहोक्तिप्रतिपक्षभूतां विनोक्तिमाह—विनोक्तिः सेति ॥ सन्नेतर इति । शोभन एवान्योऽशोभनः अशोभन एव वा शोभनो यत्रान्येन विनान्यासंनिधानेन निबध्यते सा द्विधा विनोक्तिः ॥

'अरुचिर्निशे'ति । रुचिरहितोऽशोभन इत्यर्थः । अत्र निशाद्यसंनिधि-

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥४९७॥

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥११३॥

परिवृत्तिरलङ्कारः । उदाहरणम्—

लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम् ।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥४९८॥

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य, द्वितीय उत्तमेन न्यूनस्य ।

नानाविधप्रहरणैर्नृप संप्रहारे
स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान् ।

प्रयुक्तारुचित्वाद्यभिधानमुखेन शोभनानामपि चन्द्रादीनामशोभनत्वमुक्तम् ॥

'मृगे'ति । तया हि प्राग्मोहितः किमपि नाज्ञासीत् । 'सुहृदा' इति । अकल्याणमित्रं हि तस्यासीत् । अत्राशोभनावपि शोभनावुक्तौ ॥ विना-शब्दमन्तरेणापि विनार्थविवक्षा दृश्यते यथा सहोक्तौ सहार्थविवक्षा । तेन—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥

—इत्यादौ विनोक्तिरेव तुहिनांशुदर्शनं विना नलिनीजन्मनोऽशोभनत्वप्रतीतिः ॥ [२८॥]

अर्थानामिति । अर्थशब्देन अर्थ्यतेऽसाविति उपादेयोऽर्थोऽभिधीयते । बहुवचनं चाविवक्षितम् । तेन यत्रैकं दत्त्वा एकं द्वे बहूनि च वस्तून्यादीयन्ते, द्वे च दत्त्वा एकं द्वे बहूनि वा, तत्र सर्वत्रैव स्यात् । समन्यूनाधिकानां समानोत्कृष्टगुणेन न्यूनगुणेन च स्यात् परिवर्तने परिवृत्तिः ॥

समपरिवृत्तिः, यथा– 'लतानाम्' इति । लास्यामोदयोः समत्वात् ॥ उत्कृष्टपरिवृत्तौ 'लतासु' इति । यथा वा—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभिवल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारके विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥

–अत्र उत्कृष्टगुणैराभरणैर्न्यूनगुणस्य वल्कलस्य परिवृत्तिः ॥

न्यूनपरिवृत्तिः, यथा–'नाने'ति । 'विप्रलम्भो भ्रान्तिरपायो वा । निर्वि-

दत्तारिवीरविसरेण वसुंधरेयं
निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥४९९॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य ।

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकं

भूताश्च भाविनश्चेति द्वंद्वः । भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम् । उदाहरणम्—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसंभारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥५००॥

अत्राद्ये भूतस्य, द्वितीये भाविनो दर्शनम् ।

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥११४॥

वाक्यार्थता यथा—

वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे नैवास्मि क्षणमपि भवन्तं प्रणतवान् ।

प्रलम्भो विगतविरहः परिरम्भविधिर्यस्याः । तथा वितीर्णा यथा त्वां न मुञ्चति ' इत्यर्थः । अत्र महारस्वीकारेण न्यूनगुणेन पृथ्वीदानस्य उत्कृष्टगुणस्य विनिमयः ॥१९१॥[२९॥]

अतीतानागतयोरर्थयोरलौकिकत्वेन अद्भुतत्वाद् व्यस्तसंबन्धरहितशब्दसंदर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकं कवेर्भावस्य श्रोतृभावाभेदाध्यवसितस्य विद्यमानत्वात् । यद्यपि मुक्तकादावपि एतत् संभवति तथापि प्रबन्ध एव भाविकस्य चारुत्वम्, अत एव अन्यैर्नास्य उदाहरणं दत्तम । न चेयं सुन्दरवस्तुस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः, तस्या लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने सर्वसाधारण्येन हृदयसंवादसंभवात् ; इह तु लोकोत्तराणां वस्तूनां स्फुटतया ताटस्थ्येन प्रतीतिः, नापि अद्भुतपदार्थदर्शनाद् अतीतानागतप्रत्यक्षत्वप्रतीतेः काव्यलिङ्गमिदं लिङ्गलिङ्गिभावेनाप्रतीतेः ॥ [३०॥]

यत्र हेतुः कारणरूपो वाक्यार्थगत्या निबध्यते विशेषणत्वेन वा पदार्थगत्या लिङ्गत्वेन तत् काव्यलिङ्गम् । तर्कवैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम् । न ह्यत्र व्याप्तिपक्षधर्मोपसंहारादयः क्रियन्ते । वाक्यार्थश्च अनेक एको वा, एवं पदार्थोऽपि ॥

' वपुः ' इति । ' अनुमितम् ' इति । अत्रावयवेऽनुमानालंकारः । ' अतनुर-

नमन्मुक्तः[२०२] संप्रत्यतनुरहमग्रेऽप्यनतिमान्
महेश क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥५०१॥

अनेकपदार्थता यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पतति[२०३] शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥५०२॥

एकपदार्थता यथा—

भस्मोद्धूलन भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले शुभं
हा सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालंकृतिम् ।

शरीरः । अग्रे भाविनि काले । इह च वृत्ते प्राग्भवकाले भाविनि च काले यद्-नमनलक्षणमपराधद्वयकारणं तदेवापराधतया परिणतं सद् अत्र वाक्यार्थो जातः। अतो नमनलक्षणेऽत्र अपराधहेतुरेव वाक्यार्थः । अत्र पादत्रयार्थोऽनेकवाक्यार्थ-रूपश्चतुर्थपादार्थहेतुत्वेन उक्तः । अत्र चानुमानसद्भावेऽपि न तेन सह वाक्यार्थी-भूतस्य हेतोः संसृष्टिव्यवहारः, उभयोरपि भिन्नदेशत्वाभावात् । अनुमानं तु हेतोरुत्थापकतया उपकारकमिति भवत्यङ्गाङ्गिसंकरः, किं तु हेतुलक्षणमत्रास्तीति एतदभिसंधाय हेतोरिदमुदाहृतम् । अनमनं ह्यपराधद्वयस्य जनकं, तदेव चापरा-धतया परिणतं, यथा घटकारणं मृद् घटरूपतया परिणमति ॥ एकवाक्यार्थता यथा—

मनीषिताः सन्ति गृहेऽपि देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ॥

—अत्र वरप्राप्तिहेतुभूततपोनिषेधे 'मनीषिताः' इत्येनकवाक्यार्थरूपो हेतुर्निर्दिष्टः ॥

'प्रणयी'ति । अघोरघण्टो मालतीं घ्नन् माधवेन संबोधितः। अत्र शस्त्रापक्षेपलक्षणो हेतुः 'शस्त्रम्' इत्युपक्षिप्तः इति च व्यवच्छेदकत्वेन अनेक-पदार्थतया उक्तः ॥ यथा वा—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन् माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥

—अत्र 'समबोधयन्' इति संबोधने 'व्यापारयन्त्यः' इत्यादिमृगी-विशेषणत्वेन अनेकः पदार्थहेतुरुक्तः ॥

'भस्मे'ति । अत्र महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं हेतुर्विशेषणद्वारेण एक-

अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ॥५०३॥

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोर्[२०४]नमनम्, भुजपाते शस्त्रोपक्षेपः, महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं च यथाक्रममुक्त[२०५]रूपो हेतुः ।

पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन[२०६] वस्तु यत् ।

वाच्यवाचकभावविविक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं, तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम् । उदाहरणम्—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥५०४॥

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते । तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते । यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौः शुक्लश्चलति'–इति विकल्पः । यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति, न तु यथा दृष्टं तथा । [२०७]अभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टम्, भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति ।

पदार्थतया उक्तम् ॥११२॥ [३१॥]

वाच्येति । वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्याभिधेयकस्य भावमन्तरेणापि प्रकारान्तरेणार्थसामर्थ्यात्मनावगमनव्यापारेणेत्यर्थः ॥ भङ्ग्यन्तरेणेति । यदेव गम्यते तस्यैव प्रकारान्तरेण अभिधानाद् अप्रस्तुतप्रशंसातोऽस्य भेदः । न हि तत्र गम्यस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेणाभिधानम्, अपि तु अप्रस्तुतद्वारेण तस्याक्षेपः ॥

व्यङ्ग्यमपीति योग्यतया निर्देशः ॥ शब्देनोच्यत इति । भङ्ग्यन्तररचितशब्दैरभिधानम् ॥ तेनेति । यद् भङ्ग्यन्तरेणोच्यते तद् व्यङ्ग्यम् ॥ यथा त्वेकघनरूपतात्मकप्रकारेण व्यङ्ग्यं प्रतीयते, न तथा वक्तुं शक्यते, क्रमभाविविकल्पप्रभवानां शब्दानां तथाभिधानशक्तेरभावाद्, इत्याह–यथा त्विति ॥ एतदेव दृष्टान्तेनाह–यथा गवीति ॥ तदेवेति । एतदीयत्वाद् अनुभवस्य तदाकारतयैव तस्योत्पत्तेः ॥ न तु यथा दृष्टमिति । न हि यादृशो निर्विकल्पस्य व्यापारस्तादृश एव भवति विकल्पस्य, अशेषविवक्षावच्छिन्नस्वलक्षणाकारतयानुभवस्योत्पत्तेः ॥ अभिन्नेति । निरंशस्य वस्तुनो भेदसंसर्गयोरभावात् । तौ हि विकल्पस्यैव व्यापारः । स हि अभिन्नमपि वस्तु 'गौः शुक्लश्चलः' इत्येवं भिनत्ति, भिन्नमपि पदार्थं 'अयं गौरयमपि गौः' इत्येवं संसृजति । गोत्व–चलत्व–शुक्लत्वानामभि-

उदात्तं वस्तुनः संपत्

संपत्समृद्धियोगः । यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥५०५॥

महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥

उपलक्षणमङ्गभावः, अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥५०६॥

न चात्र वीरो रसः, तस्येहाङ्गत्वात् ।

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्यैकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सन्ति, स समुच्चयः । उदाहरणम्—

न्नानां तु संसर्गः ॥ [३२॥]

स्वभावोक्तौ भाविके च यथास्थितवस्तुवर्णनमैश्वर्यलक्षितमुदात्तालंकारः । न चेयमतिशयोक्तिः अन्यस्यान्यतयाध्यवसायाभावात् ॥

महतां चेति । उदारचरितानां अङ्गिभूतवस्त्वन्तरस्य अङ्गभावाभिधानमप्युदात्तम् ॥ 'तदिदम्' इति । अत्र अरण्ये वर्णनीये रामचरितमङ्गत्वेन वर्णितम् । रामवासाद्धि दण्डकारण्यस्योत्कर्षः ॥

ननु, अङ्गिभूतरसादिविषये रसादिध्वनिरुक्त इत्याह—न चेति ॥ तस्येति । वीररसस्याङ्गत्वाद् अप्रधानत्वात् ॥ तर्हि अङ्गभूतरसादिविषये रसवदाद्यलंकारा उक्ता इत्युदात्तालंकारविषयश्चिन्त्यः, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्यत्वात् । सत्यम्, अङ्गत्वेऽपि न रसवदलंकारोऽस्योदात्तस्य तदपवादत्वात् ॥११३॥[३३]

समुच्चय इति । तुल्यकक्षतामपेक्ष्यैव समुच्चयनं समुच्चय इति व्युत्पत्तेर्नास्य समाध्यलंकारान्तर्भावः । यत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वमन्यस्तु कार्याय काकतालीयेनापतति तत्र तुल्यकक्षताभावे समाधिर्वक्ष्यते । यत्र तु खले-पोतिकया बहूनामवतरस्तुल्यकक्षतया तत्र समुच्चय इत्यनयोर्भेदः ॥ हेतौ हेत्वन्तरं,

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत्कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥५०७॥

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति, तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्यादि उपात्तम् । एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथग्लक्ष्यते । तथा हि—

कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजंस्त एव तवाङ्कुशाः ॥५०८॥

अत्र सतां योगः । उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः ।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५०९॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः ।

यथा — 'दुर्वारा' इति । **अव्याहतप्रसराः** ॥

न पृथगिति । रुद्रटो हि त्रेधाऽन्यः सदसतोर्योग इति **सद्योगादिना रूपान्तरेण पृथगलक्षयन्, न तथात्रेति भावः** ॥ 'कुलम्' इति । अत्र **अमालिन्येन शोभनस्य कुलस्य मूर्त्यादिभिः शोभनैः समुच्चयः, एकैकं च दर्पहेतुतया योग्यं सत् स्पर्धया निबद्धम् । उक्तोदाहरणे 'दुर्वाराः स्मर' इत्यादौ स्मरमार्गणानां दुर्वारत्वेन अशोभनानां तादृशैरेव दूरत्वात् प्रियतमादिभिः समुच्चयः, नववयःप्रभृतेश्च सत्यपि शोभनत्वे सर्वेषामपि अशोभनत्वकथनं, अशोभनत्वेनैव विरहिण्या भावितत्वात् ॥ सदसतः शोभनाशोभनस्य तादृशेन सदसता समुच्चीयमानेन योगे, यथा**— 'शशी' इति । 'शल्यानि' इति **एकत्रोपसंहृतानि सुन्दरत्वेनान्तःप्रविष्टान्यपि व्यथाहेतुत्वात्** ॥ शोभनाशोभनयोग इति । **तथा हि शशिनः शोभनत्वं प्रकृतिसौन्दर्याद्, अशोभनत्वं तु दिवसधूसरत्वादिति 'शशी दिवसधूसरः'** इत्यस्य **सदसद्रूपस्य तादृशैरेव 'गलितयौवना कामिनी'** इत्यादिभिः **सदसद्रूपैः** समुच्चयः । **अत्रापि**

स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः ॥११६॥

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः । क्रमेणोदाहरणम् —

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ॥५१०॥

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥५११॥

कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसुन्दरश्रि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥५१२॥

'कामिनी' इति सत्, 'गलितयौवना' इत्यसत्। एवमुत्तरत्रापि। इह विशेष्यस्य शोभनत्वं प्रक्रान्तं, विशेषणस्य तु अशोभनत्वम्। 'नृपाङ्गनगतः खलः' इत्यत्र तु नृपाङ्गनगतत्वेन विशेषणस्य शोभनत्वं, विशेष्यस्य खलत्वेन अशोभनत्वमिति विपर्ययात् प्रक्रमभङ्गो दोषः। न त्वत्र कश्चित् समुच्चीयमानः शोभनः, अन्यस्तु अशोभन इति सदसद्योगो व्याख्येयः। तथा ह्यत्र शोभनस्य सतोऽशोभनत्वविवक्षा, 'दुर्वाराः स्मर' इत्यत्र तु अशोभनानामेवेति विवक्षितम्। अत एव 'कथं सोढव्यः' इति सर्वथा दुष्टत्वाभिप्रायेण उपन्यस्तमिति अस्त्यनयोः प्रकारयोर्भेदः ॥

गुणक्रिया इति बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्। तेन गुणक्रियाणां व्यस्तत्वेन समस्तत्वेन च त्रिधायमपरः समुच्चय — इत्याह — गुणौ चेति ॥ 'विदलिते'ति। अत्र विमलत्वं मलिनत्वं युगपद् गुणाववस्थितौ, तयोर्बलं स्वं खलमुखानि चाधारः ॥ क्रियासमुच्चयः, यथा — 'अयम्' इति। अत्र 'उपनतः' इति 'भवितव्यं च' इति क्रिये ॥ 'कलुषं च' इति। कलुषत्वं गुणः, पतनं च क्रिया, तयोर्युगपद्योगः ॥ यथा वा — 'न्यञ्चत्कुञ्चितमुत्सुकं हसितवत्साकूतमाकेकरम्' इत्यादौ। आकेकरादयो गुणशब्दा, न्यञ्चदादयः क्रियाशब्दा इति सामस्त्येन गुणक्रिया यौगपद्यं। 'प्रसदिसापमे (?)'त्यादीनां च समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभिधानमिति संबन्धस्य वाच्यत्वात्तस्य च सिद्धधर्मरूपत्वेन गुणत्वाद् गुणानां यौगपद्यम्।
रुद्रटेन तु—

व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात् तदान्योऽसौ ॥

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्'-इत्यादेः,

'कृपाणपाणिश्च भवान्रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' इत्यादेश्च दर्शनात्, 'व्यधिकरणे'-इति 'एकस्मिन्देशे' -इति च न वाच्यम् ।

एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥५१३॥

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम् ।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं च वक्त्रं
तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन ॥५१४॥

—इति यदुक्तं तन्न वाच्यमित्याह – 'धुनोति' इति । तत्र एकाधिकरणक्रिययोः समुच्चयः ॥ 'कृपाणे'त्यादि कृपाणपाणित्वं साधुवादश्च गुणौ, तयोः क्षितिसुरालयौ भिन्नौ देशौ ॥११४॥ [३४॥]

एकमिति । एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति क्रियते वा स द्विधा पर्यायः ॥

ननु, एकस्यानेकत्र वृत्तौ विशेषालंकारो वक्ष्यते, तत् किमयमुच्यत इत्याशङ्क्याह – क्रमेणेति । इह क्रमप्रतिपादनं, अत एव तत्रापि युगपद् ग्रहणं कृतम् । क्रमाश्रयणाच्च पर्याय इति सान्वयं नाम । क्रमेण उदेति अनन्तरम् ॥

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम् ।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं तु वक्त्रं
तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन ॥

—इत्ययं पाठः । 'तनुतामेव मध्यभागः सेवते' अत्र एकस्य तनुतादेर्द्वये वृत्तिर्दर्शिता । आद्यार्धमेव च श्लोकस्योदाहरणम् ॥

'नन्वाश्रये'ति । अत्र एकस्य विषयस्य अब्ध्यादिषु बहुषु वृत्तिः ॥

यथा वा—

बिम्बोष्ठ एक रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥५१५॥

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं[२१९] निवेसिअं कुसुमबाणेण[२२०] ॥५१६॥

अन्यस्ततोऽन्यथा ।

अनेकमेकस्मिन्क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमेणोदाहरणम् —

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।
अथ कथयति मोहहेतुरन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव[२२१] ॥५१७॥

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं परां[२२२] प्रापितः ॥५१८॥

यथा वेति । प्रकारान्तरोपक्षेपार्थम् ॥ 'बिम्बोष्ठे'ति । अत्र प्राच्यमाश्रयमत्यजत एव रागस्यैकस्य हृदयेऽपि वृत्तिर्निबद्धा । एवं लक्षणमवान्तरं भेदमाश्रित्य एकत्रैव उदाहरणत्रयं दर्शितम् ॥

'रागस्य' इति । अन्यो हि राग ओष्ठगतस्ताम्बूलादिजनितोऽन्यश्च चित्त इति भेदेऽपि अभेदोपचारः ॥

एकमनेकत्र क्रियते, यथा—'तं ताण' इति । 'तद् हृदयं निःशङ्कव्यवसायं तेषामसुराणामिन्द्रमपि अभिभवतां श्रीसहोदराणां रत्नानामा समन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं कुसुमबाणेन सुकुमारतरोपकरणेनापि प्रियाणां बिम्बाधरे निवेशितम् । चुम्बनादिसक्तं कृतं यद् अत्यन्तं विजिगीषा-जाज्वल्यमानमभूद्' इत्यर्थः । सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति तेषां बहुमानो वास्तव एवेति प्रतीयमानोपमापि ॥

'मधुरिमे'ति । अत्र अनेकममृतं हालाहलं च एकस्मिन खलवचसि आधारे भूतम् ॥

'तद्गेहम्' इति । अत्र अनेकं गेहादि एकस्मिन् द्विजे दिवसैः कृतम् ॥

अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न परिवृत्तिः ।

अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः ॥११७॥

[२२३] पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्, धर्मिणि अयोग[२२४]व्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यम् । यथा—

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः ॥५१९॥

एकस्यैवेति । यथा परिवृत्तौ 'मरुल्लास्यं त्यजति लताश्चोपाददते' इत्येवमेकस्यैव हानोपादाने विवक्षिते, न तथात्रेति । अत्र नतभित्ति गृहस्य हानमेव विवक्षितम् । अत्रापि 'क्रमेण' इति योज्यम्, अन्यथा समुच्चयालंकारविषयत्वं स्यात् । अत एव समुच्चयलक्षणे युगपद्ग्रहणं कृतम् ॥ [३५]

अनुमानमिति । यत्र शब्दवृत्तेन पक्षधर्मः सपक्षसत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरित्यन्वयव्यतिरेकवांस्त्रिरूपो हेतुः साध्यस्य निर्भासितस्यार्थस्य प्रतीतये निर्दिश्यते सोऽनुमानालंकारः । धर्मिणि पर्वतादौ अयोगव्यवच्छेदोऽस्तित्वं व्यापकस्य वह्न्यादेः साध्यम् ॥

'यत्रैता' इति । 'अञ्चित आकृष्टः' । अत्र योषितां भ्रूव्यापारेण मार्गणपतनं साधनं, स्मरस्य पुरोगामित्वं साध्यं, योषिल्लक्षणो धर्मः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थत्वेन च विशेषाश्रयणात् तर्कानुमानवैलक्षण्यम्, ततश्च 'अस्त्यत्राग्निर्धूमाद्' इति परिहृतम् ॥

क्वचित्तु अलंकारान्तरगर्भीकारेणापि अयं, यथा—

यथारन्ध्रं व्योम्नश्चलजलदधूमः स्थगयति
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः ।
यथा विद्युज्ज्वालोल्लसनपरिपिङ्गाश्च ककुभ-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुखण्डे स्मरदवः ॥

—अत्र धूमस्फुलिङ्गकपिलदिक्कानि वह्निलिङ्गानि त्रिरूपत्वाद् दवशब्दप्रतिपादितं वह्निं गमयन्तीति रूपकगर्भीकारे विच्छित्त्याश्रयान्न तर्कानुमानम् ॥ 'आदौ साध्यस्य निर्देशः, पश्चात् साधनस्योपन्यासः, यद्वा आदौ साध्यस्योक्तिः, तदनु

साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पने वैचित्र्यं न किंचिदिति तथा न दर्शितम् ।

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता
धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
नसंहतास्तस्य नभेदवृत्तयः
प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥५२०॥

साधनस्येति यथा रुद्रटेनोक्तं, न तथा निरूपितमित्याह— साध्यसाधनयोरिति । वाक्यप्रतिपादाश्च दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिमपि अलंकारमाहुः । दण्डापूपौ विद्येते यस्यां नीतौ, मत्वर्थीयः प्रत्ययः । यद्वा, दण्डापूपयोर्भावो दण्डापूपिका 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुक्, पृषोदरादित्वाद् वृद्ध्यभावः, यथा 'अहमहमिका' इति । अत्र हि मूषिककर्तृकेण दण्डभक्षणेन तत्सहभावि अपूपभक्षणमर्थात् सिद्धम् । एष दण्डापूपन्यायः । तद्वद् यत्कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्याद् अर्थान्तरमापतति सार्थापत्तिः, यथा—

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्गमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि [चे॒त्] यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥

—अत्र विभुवृत्तान्तः प्रस्तुतोऽपरजनवृत्तान्तमप्रस्तुतमर्थादाक्षिपति ॥ यथा वा—

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि ।
अन्यथानुपपन्नैव पयोधरभरस्थितिः ॥

—अत्र स्तनस्थितिरन्यथानुपपद्यमाना मध्यमनुपलभ्यमानमेवेदमिति ॥ ॥११५॥[३६॥]

साकूतैरिति साभिप्रायैः प्रतीयमानार्थगर्भीकृतैः, अत एव प्रसन्नगम्भीरपदत्वान्न ध्वनेर्विषयः । गम्यस्यांशस्य वाचोन्मुखत्वात् परिकर इति च सार्थकं नाम ॥ विशेष्यस्येति । विशेषणैरुपलक्षितस्य विशेष्यस्योक्तिः ॥

'महौजस' इति । बलिष्ठत्वे सति प्रभोः कार्यं पूरयितुं शक्यमिति आकूतमस्य विशेषणस्यैवमन्येष्वपि विशेषणेषु वाच्यम् । साकूतग्रहणाच्च 'न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र' इत्यत्र 'भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः' इति विशेषणं वस्तुस्वरूपख्यापकमित्यस्य निरासः ॥

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः, तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः ।

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥११८॥

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नुयते सा व्याजोक्तिः। न चैषापह्नुतिः। प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासंभवात् । उदाहरणम्—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस
द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान्सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥५२१॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः ।

किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥११९॥

'पुष्टार्थपदं न प्रयोज्यम्' इति पुष्टार्थानि विशेषणान्युपात्तानि अत्रेति दोषत्यागमात्रं, न त्वलंकार इत्याशङ्क्याह–यद्यपीति ॥ [३७॥]

न चैषेति । क्वचित्प्रकृतनिष्ठं साम्यं, यथा—

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥

–इति समुचितोपमायाम् ॥

क्वचिद् अप्रकृतनिष्ठं, यथा कस्यांचित्तुल्ययोगितायाम् । अपह्नुतौ तु प्रकृताप्रकृतनिष्ठं सादृश्यम् । न च तथेहास्ति, प्रकृतस्यैव सद्भावात् । उद्भटेन तु व्याजोक्त्यनभिधानाद् अत्रापि अपह्नुतिरुक्ता ॥

'शैलेन्द्रे'ति । 'हिमाचलप्रतिपाद्यमानगौर्या हस्तोपगूहनमाश्लेषः । ततश्च हिमाचलकरस्पर्शोऽप्यस्ति शिवस्य । व्यासङ्गो निरोधः, तस्माद् भङ्गो भयम् ॥ सात्त्विकरूपतयेति गौरीकरस्पर्शाद् उद्भिन्नत्वात् ॥११६॥[३८॥]

किंचित्पृष्टमिति । अन्यव्यवच्छेदाय या उक्तिः सा कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या । परिवर्जने प्रमाणान्तरावगतं

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या। अत्र च कथनं[२२३] प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं[२२४] द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधिविमुक्त्यै प्रभवति ॥५२२॥

किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषाः[२२५]।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥५२३॥

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥५२४॥

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥५२५॥

प्रतिपाद्येन ज्ञातं प्रयोजनान्तरभावादिति वस्त्वन्तरव्यवच्छेदलक्षणं प्रयोजनं विना यत् प्रयोजनान्तरं नास्ति ॥ पृष्टे प्रतीयमानता, यथा – 'किमासेव्यम्' इति। 'येषां पूर्वोक्तानामासत्त्यावहितत्वेन'। अत्र 'किम्' इति प्रश्नानन्तरं आगमप्रमाणावगतस्य गङ्गातटस्य सेवनमुपनिबद्धम्। कान्तानितम्बसेवानिषेधाय इतरनिषेधश्चात्र प्रतीयते, न तूच्यते। 'चरणयुगम्' इत्यत्रापि 'न मृगलोचना' इति गम्यम्। 'पुण्यम्' इति न 'पापम्' इति गम्यम्। 'करुणा' इति, न तु 'धनम्' इति व्यपोह्यार्थः ॥

पृष्टे वाच्यत्वं यथा– 'किं भूषणम्' इति। 'आर्यचरितम्' इति शिष्टैरनुष्ठितम्। अत्र 'न रत्नम्' इत्यादि निषेध्यं शब्देनैव उक्तम् ॥

अपृष्टे प्रतीयमानता यथा – 'कौटिल्यम्' इति। 'न तु वाचि हृदये वेति गम्यम्। तथा करादिषु रागो, न परपुरुषे। तथा कुचयुगले काठिन्यं, न अवयवान्तरे मानसे च। नयनयोस्तरलत्वं, न तु स्वभावे' ॥

अपृष्टे व्यवच्छेद्यस्य वाच्यत्वं यथा – 'भक्तिः' इति। 'युवतिरेव कामा-

यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्

उत्तरमुत्तरं प्रति यथोत्तरम् । उदाहरणम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते गुणा[३२६]नुरागप्रभवा हि संपदः ॥५२६॥

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' इति हेत्वलंकारोऽत्र न लक्षितः । आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदा[२७]चिदर्हति । वैचित्र्याभावात् ।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥५२७॥

त्वम्' । एकैकस्योदाहरणत्वाद् दीपकभ्रान्तिर्न कार्या ॥११७॥[३९॥]

हेतुमतेति । रुद्रटेन हेतुरलंकार उक्तः, स न वाच्यः ! तथा हि षोढा लक्षणोक्ता – 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ उपादानलक्षणा १, 'गङ्गायां घोषः' इति लक्षणलक्षणा २, द्विरूपापीयं शुद्धोपचारेणामिश्रत्वात् । 'गौर्वाहीकः' इति गौणी सारोपा ३, 'गौरयम्, इति गौणी साध्यवसाना ४, 'आयुर्घृतम्' इति शुद्धा सारोपा ५, 'आयुरेवेदम्' इति साध्यवसाना शुद्धा ६, एषु चतुःषु उपचारमिश्रत्वम् । ततो गौणलक्षणायां सादृश्यसंप्रत्ययाद् वैचित्र्यं, यथा– 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' इत्यादौ अतिशयोक्तौ । यत्र तु--

आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया ।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम् ॥

–इत्यादौ कार्यकारणसंबन्धोपचारे शुद्धलक्षणासद्भावः, तत्र सादृश्याभावेन हेतुमात्रस्य वैचित्र्याभावान्न हेतुरलंकारः ॥

'अविरलकमले'ति । प्रभूतकमलविकासहेतुत्वाद् वसन्तकाल एव तथा । एवमुत्तरत्रापि । अत्र तत्पुरुषो, न तु 'अविरलानां कमलानां विकासो यत्र' इति बहुव्रीहिः, हेतुहेतुमतोरभेदाभावप्रसङ्गात् । अत्र तु रुद्रटोदाहृते 'काव्यत्वमनुप्रासादेव' इत्याह– कोमलानुप्रासेति । 'यद्यपि अव्यभिचारितयैव विकासादीनां नैरन्तर्येण जननमिहोपचारप्रयोजने व्यङ्ग्यं तद् असुन्दरमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यनिबन्धनं भवतीति प्राक्प्रतिपादितमेव, तथापि अलंकारचिन्तायाः प्रक्रान्तत्वात् तद् अपह्नुत्यैवावधारणगर्भमिदमभिहितम्, अत एव तटस्थतयैव उक्तं

इत्यत्र तु काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न हेत्वलं[२३८]कारकल्पनयेति पूर्वोक्तं काव्यलिङ्गमेव हेतुः ।

क्रियया तु परस्परम् ॥१२०॥

वस्तुनोर्जनने ऽन्योन्यम् ।

अर्थयोरेकक्रियामुखेण परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यं नामालंकारः । [२३९]उदाहरणम्—

हंसा[२४०]णं सरेहि सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहि ।[२४१]
[२४२]अन्नोन्नं चिअ[२४३] एए अप्पाणं [२४४]णवर गरु[२४५]एन्ति ॥५२८॥

अत्रोभयेषामपि परस्परं जनकता, मिथः श्रीसारतासंपादनद्वारेण ।

उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥१२१॥

असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र[२४६] परिकल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम् । [२४७]उदाहरणम्—

वाणि[२४८]अअ हत्थिदन्ता [२४९]कुत्तो अह्माण [२५०]वग्घकत्तीओ ।[२५१]
[२५२]जा वि लुलि[२५३]आलअमुही घरम्मि परिस[२५४]क्कए सु[२५५]ण्हा ॥५२९॥

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी, [२५६]मूल्येन ताः प्रयच्छेति क्रे[२५७]तृवे-

---

'**समाम्नासिषुः**' इति उद्भटादयः **प्रत्यपादयन्निति ह्यत्रार्थः** ॥ काव्यलिङ्गमेवेति । **काव्यलिङ्गस्यैव यदि परं हेतुरिति नाम, यद्** भामहः—

हेतुश्च सू[क्ष्मो] लेशोऽथ नालंकारतया मतः ॥ [४०॥]

एकक्रियेति । **एकक्रियाद्वारकं यत्र परस्परमुत्पादकत्वं, न स्वरूपनिबन्धनम्** ॥ '**हंसानां साराभिः श्रीः सार्यते सारीक्रियते ।' यथा वा—**

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥

अत्र शोभाक्रियामुखकं परस्परजनकत्वम् ॥ [४१॥]

उत्तरश्रुतीति । **यत्र अनुपनिबद्धोऽपि प्रश्न उत्तरात्प्रतीयत इत्यर्थः** ॥ तत्र वेति । **प्रश्ने** ॥ '**वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्त[य]श्च, यावत् स्नुषा परिष्वक्कते विलसति ॥' यथा वा—**

चनममुना वाक्येन समुन्नीयते। न चैतत्काव्यलिङ्गम्। उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः। न हि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम्। एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशादित्यलंकारान्तरमेवोत्तरं साधीयः।

प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसंभाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात् तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। उदाहरणम्[५५८]—

का विसमा देव्वगई[५५९] किं लद्धं[५६०] जं जणो गुणग्गाही[५६१]।
किं सुक्खं[५६२] सुकलत्तं किं दुग्गिज्झं[५६३] खलो लोओ ॥५३०॥

प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोह एव तात्पर्यम्, इह तु वाच्य एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः।

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥१२२॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा। सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः। उदाहरणम्—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह--
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥

अत्र 'मम निवासो दीयताम्' इति प्रश्न उत्तरादुन्नीयते ॥

एतदिति **उत्तराभिधानमलंकरणम्** ॥ उत्तरस्येति **प्रतिवचनस्य** ॥ तद्रूपतेति **काव्यलिङ्गतानुपपत्तेः** ॥ अत्रैव **हेतुमाह**- न हीति ॥ एकधर्मीति । **प्रश्नो ह्यन्यत्र प्रतिवचनं चान्यत्रेति** ॥ अनयोश्चेति **प्रतिवचनयोः** ॥

'का विसमे'ति **अत्र दैवगत्यादि निगूढत्वाद् असंभावनीयमसत्कृत्प्रश्नपूर्वकमुत्तरं निबद्धम्** ॥ **न चेयं** परिसंख्या, **व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकयोरत्र अभावात्- इत्याह**- प्रश्नपरिसंख्यायामिति । **इह प्रश्नाद् उत्तरमात्रं, नान्यव्यपोहः ॥ [४२॥]**

कुशाग्रीयमतिभिराकारेङ्गिताभ्यां संलक्षितस्यार्थस्य विदग्धं प्रति प्रकाशनं यत् तत् सूक्ष्मावगमकारणात् सूक्ष्ममलंकारः ॥

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धै-
दृष्ट्वा[२६४] भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या
स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥५३१॥

अत्राकृतिमालोक्य कयापि वितर्कितं पुरुषायितमसिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतम् । पुंसामेव कृपाणस्य[२६५] पाणियोग्यत्वात् । यथा वा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥५३२॥

अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥

परः पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य । धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः । उदाहरणम्[२६६]—

राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां[२६७] पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥१२३॥

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥१२४॥

इह यद्देशं कारणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टम् ।

'वक्त्रस्यन्दी'ति । रत्नाकरस्य हरिविजये श्लोकोऽयम् । अत्र स्वेदकृतकुङ्कुमभेदरूपेणाकारेण संलक्षितं पुरुषायितं पाणौ पुरुषोचितखड्गलेखनेन प्रकाशितम् ॥ यथा वेति । इङ्गितात् ॥ । 'संकेते'ति । 'संकेतकाले ज्ञातव्ये मनो यस्य स तथा'। अत्र संकेतकालाभिप्रायो विटसंबन्धिना भ्रूक्षेपादिना इङ्गितेन लक्षितो रजनिकालभाविना लीलापद्मनिमीलनेन प्रकाशितः । साभिप्राया चेष्टा इङ्गितं, निरभिप्राया तु आकारः ॥ [४३॥]

पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरस्य उत्कृष्टत्वनिबन्धनं सारः ॥ 'राज्ये' इति । अत्र 'राज्यापेक्षया वसुधायाः सारत्वं, वसुधापेक्षया तदेकदेशस्य गृहस्य' इत्यादि योज्यम् ॥ उत्कर्षं सारस्य पुंसि स्मरन्ति कवयस्तु नपुंसकेऽपीति ॥ ११९–१२१॥ [४४॥]

यथा धूमादि । यत्र तु हेतुफलभूतयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनम् सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्पर-संगतित्यागादसंगतिः । उदाहरणम्—

जस्सेअ वणो तस्सेअ वेअणा[269] भणइ तं जणो अलिअम्[270] ।
दन्तक्खअं कओले[271] वहूइ[272] विअणा[273] सवत्तीण[274] ॥५३४॥

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः, भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात् । विरोधे तु विरोधित्वमेकाश्रयनिष्ठ-मनुक्तमपि पर्यवसितम् । अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यव-स्थितेः । तथा[275] चैवं निर्दर्शितम् ।

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

यथा धूमादीति । न हि महानसदेशस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति । यदा त्वन्यदेशस्थं कारणमन्यदेशस्थं च कार्यं निबध्यते तदोचितसंगतेरभावाद् असंगतिरलंकारः ॥ हेतुफलभूतयोरिति कारणकार्ययोः ॥ अतिशयेनेति । अतिशयश्च कारणस्य कारणान्तरतो वैलक्षण्यं, तच्च एतदेव यद् भिन्नदेशे कार्यं तेन जन्यते ॥

ननु, त्रुटितधूमखण्डं भिन्ने काले किल कारणाद् भिन्नदेशतयाप्युप-लभ्यते । सत्यम् , अत एव युगपद्ग्रहणम् ॥ तयोः कारणकार्ययोः ॥

'जस्सेअ वणो इति । 'व्रणः' । अत्र वधूकपोलस्थं दन्तक्षतं कारणं सपत्नीस्था च वेदना कार्यमिति भिन्नदेशत्वम् । यथा वा—

सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः
[सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम् ।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥]

—इत्यादौ । अत्र अन्यदेशस्थं कारणमन्यदेशस्थं च कार्यम् । अत्र च बाल्यनिमित्तमप्रागल्भ्यमन्यदन्यच्च स्मरनिमित्तकमिति तयोरभेदाध्यवसायः । एवमन्यत्रापि ॥

ननु, कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्रेति विरोधालंकार एवायमित्याशङ्क्याह— एषा चेति ॥ उत्सर्गस्य विरोधस्य ॥ तथा चैवमिति । विरोधालंकारेऽपि एकाधारत्वे उदाहृतमित्यर्थः ॥१२२॥ [४५॥]

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३५॥

समं योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित् ॥१२८॥

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया संबन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समम् । उदाहरणम्—

धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य ।
जातं दैवात्सदृशमनयोः संगतं यत्तदेत
च्छृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥५३६॥

यथा वा—

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता ।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥५३७॥

क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥१२९॥

साधनान्तरेति । कारणान्तरेण कृतोपकारेणेत्यर्थः । कर्तुः कार्यं कुर्वतः कार्यस्य कारणान्तरसंबन्धाद् यत् सुकरत्वं स सम्यगाधानात् समाधिः ॥ 'मानम्' इति । अत्र माननिराकरणे कार्ये पादपतनं कारणम् । तस्य सौकर्यार्थं कारणान्तरस्य घनगर्जितस्य योगः ॥ [४६॥]

योग्यतयेति । उत्कृष्टस्य उत्कृष्टं निकृष्टस्य निकृष्टं योग्यमिति योग्यता ॥ इदमिति संगतम् । योग्यतया सममिति व्यपदेशः ॥

'धातुः' इति । अत्र उचितस्य नायकयुगलस्य उचितं संघटनम् ॥ यथा वेति निकृष्टविषयत्वेन ॥ 'चित्रम्' इति । अत्र निकृष्टानां निम्बानां काकानां च योगः ॥१२३॥ [४७॥]

समप्रस्तावे विषममाह– क्वचिदिति ॥

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥१२७॥

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यदनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते [१] यच्च किंचिदारभमाणः कर्ता क्रियायाः प्रणाशान्न केवलमभीष्टं तत्फलं न लभेत, यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषममासादयेत् [२] तथा, सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत्तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परविरुद्धतां व्रजतः [३ । ४], स सम विपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः । क्रमेणोदाहरणम्

शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना ।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ॥५३८॥

सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ॥५३९॥

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥५४०॥

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥५४१॥

तयोरिति **कार्यकारणयोः । कारणसंबधिनी गुणक्रिये कार्यसंबन्धिगुणक्रियाभ्यां सह विरुद्धे स्याताम् ॥** समविपर्ययात्मेति । अ[न]**नुरूपसंसर्गे** हि विषमः ॥

'शिरीषाद्' इति । अत्र **मृद्वङ्गीकर्कशमदनानलयोरत्यन्ताननुरूपयोर्योगेऽनुपपन्न एव प्रतीयते ॥ यथा वा** नवसाहसाङ्के पल्लवस्य —

अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्रः क्व स मृगः
क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स तुरगमः क्वेयमबला ।
क्व तत्कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयं
स्वमाकूतं धाता किमपि निभृतः पल्लवयति ॥

—अत्र अननुरूपाणामरण्यान्यादीनां परस्परयोगः ॥

'सिंहिके'ति । '**सिंहिकासुतः** सिंहो राहुश्च, **न परम्** ' । **शशेनात्मरक्षा न समासादिता यावदेष स्वाश्रयबाधेन** आश्रयणक्रियासंभवात् **स्वयमेवाधिगतमहानर्थश्च ॥**

'सद्यः करे' **त्यत्र कृष्णात् शुक्लस्य गुणस्योत्पत्तिर्विरुद्धेति** विषमत्वम् ॥

'आनन्दम्' इति । **अत्र आनन्ददानतापक्रिये अन्योन्यविरुद्धे ॥ एतल्लक्षणमुचित-**

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते । एवम्—

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥५४२॥

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम्, आश्रयस्तदाधारः, तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यदधिकतरतां व्रजतः, तदिदं द्विविधमधिकं नाम । क्रमेणोदाहरणम्—

अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥५४३॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥५४४॥

मुदाहरणान्तरमप्याह – एवं – 'विपुलेने'ति । अत्र हीनेन गुरुकार्यकरणाद् विषमत्वम् ॥ इत्यादावपीति, अपिशब्दाद्, यथा—

किं ददातु किमश्नातु भर्तव्यभरणाकुलः ।
उदारमतिराप्तेऽपि जगत्त्रितयमात्रके ॥

–अत्र अधिकेनापि स्वल्पकार्यकारणाद् विषमत्वं ज्ञेयम् । यस्य च हेतोर्यत्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं स्यात् तदा कारणविपरीतकार्यनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित् प्रयत्नोऽपि विषमं, यथा—

उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्तेप्सया ।
प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः ॥

–अत्र नमन–बहिःस्थान–व्ययातनन – प्राणमोचन – क्लेशानां कारणानां क्रमाद् उन्नतिदर्शन – वित्तेप्सा – जीवन – भोगेच्छारूपाणि विपरीतकार्याणि प्रयत्नविषयत्वेन निबद्धानि ॥१२५॥[४८॥]

'माति' इति वर्तते अनेनाश्रयस्य महीयस्त्वमुक्तमन्यथा मानस्यासंभवात् ॥ ॥१२६॥ [४९॥]

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥१२९॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमसहेन केनापि यत्तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम्, तत् अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते । यथानीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधीभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते, तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः । उदाहरणम्—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४५॥

यथा वा—

यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते ॥५४६॥

इन्दोरत्र तदीयता संबन्धिमुखसंबन्धात् ।

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यल्लक्षणं तद्द्वारेण किंचित्केनचिदिह यद्वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते, तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति । क्रमेणोदाहरणम्—

या तदीयस्येति प्रतिपक्षसंबन्धिनो दुर्बलस्य यत्नं बाधितुं तिरस्कारः क्रियते प्रतिपक्षस्यैव बलवत्त्वेन स्तुत्यर्थं तत् प्रत्यनीकमलंकारः ॥ 'त्वं विनिर्जिते' त्यत्र प्रतिपक्षसंबन्धिविषयं प्रत्यनीकम् ॥ यथा वेत्यनेन प्रतिपक्षसंबन्धिनः संबन्धिविषयमुदाहरति— 'यस्य' इति । अत्र राहोर्भगवान् विष्णुर्बलवान् प्रतिपक्षः, तदीयं वक्त्रम् , वक्त्रस्य च संबन्धी सादृश्यद्वारेण दुर्बलश्चन्द्रः, तत्तिरस्काराद् भगवतः प्रकर्षावगतिः' इत्याह— इन्दोरिति । संबन्धिवक्त्रैं तेन हीन्दोः संबन्धः समत्वात् ॥१२७॥ [५०॥]

समेनेति । येन स्वाभाविकेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्तुना वस्त्वन्तरं तिरोधीयते तदन्वर्थाभिधानं मीलितम् । न चायं सामान्योऽलंकारः, तत्र हि साधारणगुणयोगाद् भेदोऽनुपलक्षणं, अत्र तु उत्कृष्टगुणेन निकृष्टस्य तिरोधानं,

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशां स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४७॥

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकम्, साधारणं च मदोदयेन । तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं
तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥५४८॥

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्यागन्तुकत्वात्तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयोस्ताद्रूप्यम् । समानतया च भयेष्वपि तयोरुपलक्षितत्वात् ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥

पूर्वं प्रति यत्रोत्तरोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन स्थापनं निषेधो वा संभवति, सा द्विधा बुधैरेकावलीति भण्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥५४९॥

न तु धर्मसाम्याद् ऐकात्म्यमित्यनयोर्भेदः ॥ सहजेन, यथा – 'अपाङ्गे'ति । अत्र दृक्तरलत्वादिना स्वाभाविकेन लक्ष्मणा मदोदयकृतं दृक्तारल्यादि तिरोहितम् ॥ तत्रापीति । मदोदयेऽपि दृक्तारल्यादिदर्शनात् ॥

आगन्तुकेन यथा – 'ये कन्दरासु' इति । 'शत्रूणां संबन्धित्वेन भयानां सुधीरपि न शिक्षितः ।' अत्र हिमाद्रिकन्दरानिवाससामर्थ्यप्रतिपन्नेन शैत्येन समुद्भावितौ आगन्तुकौ कम्परोमाञ्चौ भयकृतयोस्तयोस्तिरोधायकौ ॥ तत्प्रभावयोरिति शैत्यसमुत्थयोः ॥ ताद्रूप्यमिति आगन्तुकरूपत्वम् । भयोत्थकम्पपुलकसादृश्यं च, भयेष्वपि कम्पपुलकयोर्दृष्टत्वात् ॥१२८॥ [५१॥]

स्थापनं विधिः । अपोहो निषेधोऽन्यव्यवच्छेदः । सनियमो विधिरित्यर्थः ॥ स्थापने, यथा –'पुराणि' इति । अत्र वराङ्गनारूपमित्यादि ज्ञेयम् ॥ अपोहेन

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥५५०॥

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनास्तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपं, तस्य विलासाः, तेषामप्यस्त्रमित्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते। उत्तरत्र [303]निषेधेऽप्येवमेव योज्यम् ।

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।
स्मरणं

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतो [304]यथा कदाचिदनुभूतोऽभूत्, स कालान्तरे स्मृतिप्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति, यत्तथैव स्मर्यते, तद्भवेत्स्मरणम् । [305]उदाहरणम्—

निम्ननाभिविवरेषु[306] यदम्भः प्लावितं [307]चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥५५१॥

यथा वा—

करजुअगहिअजसोआथणमुहविणिवेसिआहरउडस्स ।
[308]संभरियपं[309]चजण्णस्स [310]णमह कण्[311]हस्स रोमञ्चम् ॥५५२॥

भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥१३२॥

तदिति[312] अन्येत्यप्राकरणिकं निर्दिश्यते । तेन समानमर्थादिह

यथा – 'न तद्' इति । अत्र जलादीनां सुचारुपङ्कजादीनि पराणि विशेषणानि निषेध्यत्वेन निबद्धानि ॥१२९॥ [५२॥]

दृष्ट इति । दृशिरत्र उपलब्धिमात्रवचनः । 'तद्भवैः प्लाविताम्भोभवैः कुहरुतैः कुहकुहशब्दैः नाभ्यादिनिम्नदेशोत्थैः । स्मारिता इति घटादिपाठे स्मरतेर्मानुबन्धत्वेऽपि 'न ह्रस्वो व्यवस्थितविभाषितस्य वा' इत्यस्यानुवृत्तेः । सादृश्यं विना तु स्मृतिर्न स्मरणमलंकारः, यथा—

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातैरपनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम् ॥

— अत्र च कर्तृविशेषणानां स्मर्तव्यदशाभावित्वे स्मर्तव्यदशाभावित्वं न युक्तम् । प्रेयोलंकारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः, यथा – 'कोपेऽपि कान्तं मुखम्' इति । भ्रान्तिमति च उपमानावगतिरेव, न तु उपमेयस्येति ततोऽस्य भेदः ॥ [५३॥]

प्राकरणिकमाश्रीयते। तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यदप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान्। न चैष रूपकं प्रथमातिशयोक्तिः तत्र वस्तुनो भ्रमस्याभावात्, इह चार्थानुगमेनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेस्तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात्।

उदाहरणम्—

कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥५५३॥

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१३३॥

अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थक्येन यदुपमानमाक्षिप्यते, यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरविवक्षयानादरार्थमुपमेयभावः कल्प्येत तदुपमेयस्योपमानं प्रति प्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम्। क्रमेणोदाहरणम्—

लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षयभुजे निष्पादिते वेधसा।

प्रथमा[तिशयोक्तिः]वेति, निगीर्याध्यवसानलक्षणा ॥ इह चार्थेति। भ्रान्तिश्चित्तधर्मो विद्यते अस्मिन् भणितिप्रकारे इत्यर्थान्वयेन भ्रान्तिमान्, इत्येवंरूपायाः संज्ञायाः प्रवृत्तेस्तस्य भ्रमस्य प्रतिपन्नत्वम्। भ्रान्तिश्चात्र असादृश्यहेतुकेति, न प्रहारादिहेतुज्ञानस्यालंकारस्य विषयः, यथा—

दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥

भ्रान्तिश्च विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव ग्राह्या, न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत्। एवं 'स्थाणुर्वा पुरुषोऽयम्' इति संशयेऽपि ज्ञेयम्॥१३०॥[५४॥]

आक्षेप इति। उपमेयस्य उपमानमारोद्वहनसामर्थ्याद् यद् उपमानस्य कैमर्थक्येन आक्षेप आलोचनं क्रियते तदेकं प्रतीपम्, यच्च उपमानत्वेन प्रसिद्धस्य चन्द्रादेरुपमानान्तरप्रतिष्ठापयिषयानादरार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते तद् द्वितीयम् ॥

'लावण्ये'ति। 'अत्र इन्द्रादय उपमानानि कैमर्थक्येनाक्षिप्तानि। अत्र

इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥५५४॥

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु [२२४]वेयणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो [२२५]उवमिज्जइ जणेण ॥५५५॥

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरगुणत्वादुपमित्यनिष्पत्त्या '[२२६]वेयणिज्जम्'–इति वचनीयपदाभिव्यङ्[२२७]ग्यया तिरस्कारः । क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रियानादरनिबन्धनम् । यथा—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन [२२८]किं वहसि [२२९]भग्न ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥५५६॥

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः ।

अनयैव नीत्या[२३०] यदसामान्यगुणयोगान्नोपमानभावमप्यनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् । यथा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात[२३१] मा स्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥५५७॥

यथासंख्यालंकारोऽपि । यथा वा ' प्रमदानां चक्षुरेव सहजमुडमालामण्डनं भार कुवलयदलदामानि (?)'॥ 'ए एहि 'इति । अत्र उपमानत्वेन प्रसिद्धस्य चन्द्रस्य निकर्षार्थमुपमेयत्वं कल्पितम् । मुखस्य चोपमानत्वं प्रासङ्गिकम् ॥ उपमित्यनिष्पत्त्येति । औपम्यस्यानिष्पत्तिरभावश्चन्द्रस्य स्वल्पगुणत्वात् सादृश्यं नास्तीत्यर्थः ॥

'गर्वम्' इति । भग्ने वराके नेत्रयुगमुपमानम्, उत्पलानि उपमेयानि । यथा 'मुखसदृशश्चन्द्रः' इत्यत्र चन्द्र उपमेयः ॥ अत्र उत्कर्षभाजामुत्पलानामुपमेयत्वं तिरस्कारकारणमित्याह – इहोपमेयीति । 'ए एहि' इत्यत्र तु उपमित्यनिष्पत्तिरेव अनादरनिबन्धनमित्यर्थः ॥

अनयैवेति । अनेन अस्य बहुप्रकारं वैचित्र्यं दर्शितम् । तेन उपमानस्य उपमेयताधानं विनानुकम्पनामात्रे प्रतिपादनमपि प्रतीपम् । यथा—

वदनमिदं सममिन्दोः सुन्दरमपि ते कियच्चिरं न भवेत् ।
मलिनयति यत्कपोलौ लोचनसलिलं हि कज्जलवत् ॥

तत्कल्पनायामपीति । उपमानत्वकल्पनापि तिरस्कारहेतुरित्यर्थः ॥

'अहम्' इति । 'गुरुः प्रधानम्' अत्र हालाहलं मारकं, दुर्जनवचांसि

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसंभाव्यमेवोपनिबद्धम् ।

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं [३३२]बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितुं[३३३] यदप्रस्तुतार्थेन[३३४] संयुक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव[३३५] तदेकात्मतया निबध्यते तत्समान[३३६]गुणनिबन्धात् सामान्यम्[३३७] । उदाहरणम्—

मलयजरस[३३८]विलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥५५८॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्त[३३९]तया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः। अत एव पृथग्भावेन[३४०] न तयोरुपलक्षणम् ।

यथा वा—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन्कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥५५९॥

अत्र निमित्तान्तरजनितापि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते, प्रतीतत्वात्तस्य, प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।

पुनर्न तथेति विषस्योत्कृष्टदोषत्वाद् असंभाव्यमानोपमानत्वं, तथापि उपमानत्वेन निबन्ध इति प्रतीपम् ॥ ॥१३१॥ [५५॥]

अपरित्यक्तनिजेनेत्यनेन तद्गुणादस्य विशेषं दर्शयति, तत्र हि स्वगुणपरित्यागात् ॥ 'मलयजे 'ति । अत्र मलयजरसविलेपादीनां चन्द्रप्रभयाऽविभाव्यतां गता इति भेदाप्रतीतिर्दर्शिता । अत्र अष्टाविंशतिभिर्मात्राभिर्द्विपदीच्छन्दः ॥ प्रस्तुततदन्ययोरिति । प्रकृताप्रकृतयोरभिसारिकाचन्द्रयोरेकात्मनि भेदानध्यवसायाद् एकरूपत्वम् । ततः समानत्वयोगात् सामान्यम् । न चेयमपह्नुतिः, किंचिन्निषिध्य कस्यचिद् अप्रतिष्ठापनात् ॥ निमित्तान्तरेति । भृङ्गपातजनिता भेदप्रतीतिरभेदं न निरस्यति, तस्याभेदस्य प्रतीतत्वात् ॥ प्रतीतेश्चेति । न हि भावमभावं भवतीति ॥१३२॥ [५६॥]

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥१३६॥

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यदाधेयस्य विशिष्टा[341] स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः । उदाहरणम्—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥५६०॥

एकमपि वस्तु यदेकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः । उदाहरणम्—

सा वसइ तुज्झ हिअए स च्चिअ अच्छीसु सा अ सवणेसु[342] ।
अम्हारिसाण सुन्दर ओवासो[343] कत्थ[344] पावाण[345] ॥५६१॥

यदपि[347] च किंचिद्रभसेनारभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो[348] विशेषः । उदाहरणम्—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजतानवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६२॥

यथा वा—

गृहिणी सचिवः सखा[349] मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वत[350] किं न मे हृतम् ॥५६३॥

अत्र[351] चैवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते, तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्[352] । अत एवोक्तम्—

एकात्मेति । एकस्वभावः ॥ 'दिवम्' इति । अत्र कवीनामाधाराणामभावेऽपि आधेयानां गिरामवस्थितिः । अनन्यत्र भावो विषयार्थ इति विषयत्वेन तेषामाधारत्वात् ॥

'सा वसइ' इति । 'अस्मादृशीनां सुन्दर अवकाशः कुत्र पापानाम् ।' अत्र एकस्या योषित एकेनैव वसनस्वभावेन हृदयादौ युगपद् अवस्थानम् ॥

'स्फुरद्' इति । अत्र त्वां सृजता तथैवाशक्यमपि स्मरसूर्यजीवलक्षणं कृतम् । अशक्यग्रहणात् 'इसन पचति' इत्यादौ नालंकारः ॥

सैषा[२५३] सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां [२५४]कविभिः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥इति॥

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसंपदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति ।

उदाहरणम् —

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचिं रुचां[२५५] स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६४॥

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य, तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्र[२५६]गुणवर्णना ।

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य [२५७]तत्स्यादतद्गुणः ।

यदि तु तदीयं वर्णं संभवन्त्यामपि योग्यतायामिदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात् तदा भवेदतद्गुणो नाम । उदाहरणम्—

धवलोऽसि जइ[२५८]वि सुन्दर तदवि तुएं[२५९] मज्झ रञ्जिअं हिययं[२६०]म् ।
राय[२६१]भरिए वि हिअए सुहअ[२६२] णिहित्तो ण रत्तोऽसि ॥५६५॥

'सैषा' इति । 'सा' इत्यनुवादकं, 'एषा' इति विधायकम् । सा वक्रोक्तिरेषैव अतिशयोक्तिरेव, नान्येत्यर्थः, 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः' इति वचनात् । शब्दार्थयोर्वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् । 'लोकोत्तरेति अथ चातिशयोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्' इति भामहः ॥

'विभिन्ने'ति । 'करीरमङ्कुरः' । अत्र रविरथाश्वानामरुणवर्णस्वीकारः । तस्यापि गारुत्मतमणिप्रभास्वीकार इत्याह—रवीति ॥ प्रगुणवर्णनेति, प्रकृष्टगुणवर्णना । न चेदं मीलितम् । मीलिते हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्ति अनयोर्भेदः ॥ एवं सामान्यालंकारेऽपि स्वगुणपरित्यागो नास्ति वस्तुन इति ततोऽप्यस्य भेदः ॥ १३४ ॥ [५८॥]

तस्योत्कृष्टगुणस्य अस्मिन् गुणा न सन्तीति अतद्गुणः॥ 'धवलोऽसि' इति । रञ्जितं जनिताभिष्वङ्गमपि । रागः प्रसक्तिरपि । अत्र पूर्वार्धे विरोधोऽनन्तरं भिन्नाधारतयैव रक्तारक्तत्वयोः प्रतीतिः । अत्र अतिरक्तहृदयसंपर्काद् नायकस्य

अत्रा[३६३]तिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः । किं च तदित्यप्रकृतमस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते । तेन यदप्रकृतस्य रूपं प्र[३६४]कृतेन कुतोऽपि निमित्तान्नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्य[३६५]पि प्रतिपत्तव्यम् । यथा —

गाङ्गम[३६६]ङ्ग सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६६॥

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१३८॥
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।

येनोपायेन यदेकेनोपकल्पितं तस्यान्येन विजिगीषुत[३६७]या तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः ।

उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥५६७॥

धवलशब्दवाच्यस्य न रक्तत्वं निष्पन्नमिति अतद्गुणः ॥

'गाङ्गम्' इति । अङ्ग इतीष्टामन्त्रणे । सैव नान्यादृशी, या न चीयते। अत्र अप्रकृतगाङ्गयामुनजलस्य संपर्केऽपि प्रकृतस्य राजहंसस्य न तथारूपत्वमिति अतद्गुणः ॥ [५९॥]

'दृशा दग्धम्' इति । अत्र दृष्टिलक्षणेन उपायेन स्मरस्य हरेण दाहविषयत्वं निष्पादितं मृगनयनाभिः पुनस्तेनैवोपायेन तस्य जीवनीयत्वं क्रियते । तच्च दाहविषयत्वस्य प्रतिपक्षभूतम्, तेन व्याघातोऽलंकारः । सोऽपि व्यतिरेकनिमित्तत्वेन अत्रोक्तः ॥ 'विरूपाक्षस्य' इति 'वामलोचनाः' इति च व्यतिरेकगर्भावेव वाचकौ, 'जयिनीः' इति व्यतिरेकोक्तिः ॥ रसभावतदाभासतत्प्रशमानां गुणीभूतव्यङ्ग्यावसररसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि तथा भावोदयभावसन्धिभावशबलताश्च पृथगलंकाराः प्राक् प्रतिपादिताः ॥ आशीश्च अप्राप्तप्राप्तीच्छारूपप्राशंसनप्रियोक्तिमात्रं, अथवा स्नेहनिर्भरतया शब्दप्रयोगे चित्तवृत्तिविशेषः । स्नेहात्मा रतिभावविशेषरूप आशीर्द्वारतया प्रतीयत इति भावध्वनिरेव नालंकारः । अन्ये च भोजराजोक्ताः केचिदुक्तेष्वन्तर्भवन्ति, केचिच्च न चमत्कारकारिणः, केचित्तु काव्यशरीरमेवेति न सूत्रिताः ॥६०॥

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१३९॥

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणामलंकाराणां यथासंभवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदिह[३६८] शब्दभाग एव, अर्थविषय एव, उभयत्रापि चावस्थानं सैकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः ।
तत्र शब्दालंकारसंसृष्टिः[३६९] —

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया[३७०] ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया ॥५६८॥

अर्थालंकारसंसृष्टिः[३७१] —

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां[३७२] गता ॥५६९॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः । उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे । शब्दार्थालंकारयोस्तु[३७३] संसृष्टिः—

सो णत्थि इत्थ[३७४] गामे जो [३७५]एँयं महमहन्तलायँन्नम्[३७६] ।
तरुणाण हिअअलूडि परिसक्कन्तिं[३७७] निवारेइ[३७८] ॥५७०॥

एवं शुद्धानलंकारान सप्रभेदानाख्याय यथा बाह्यालंकाराणां सौवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक्–चारुताहेतुत्वेऽपि संघटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते तद्वत् प्रकृतालंकाराणामपि संयोजनेन चारुत्वान्तरमुपलभ्यत इति संश्लेषसमुत्थापितमलंकारद्वयमुच्यते । तत्रैषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वे शब्दालंकारगतत्वेनार्थालंकारगतत्वेन उभयगतत्वेन च त्रेधेति त्रिविधां संसृष्टिमाह – सेष्टेति ॥ यथासंभवमिति न सर्वेषां लक्षितानां, अपि तु केषांचित्, तत्रापि तेषां मध्ये क्वचिद् द्वयोः क्वचित् त्रिचतुराणामिति यथायोगम् । संसृष्टेश्च विषयभेदेन त्रिरूपत्वेऽपि संसृष्ट्या चैकरूपयेति प्रागुक्तं न विरुध्यते, नैरपेक्ष्यलक्षणस्य रूपस्याभिन्नत्वात् । वक्ष्यमाणसंकरस्तु स्वरूपेणैव नानात्वेनावभासत इति युक्तस्तत्र त्रिरूपताव्यवहारः ॥ सापि सजातीययोर्विजातीययोर्वालंकारयोः स्यात् ॥

यमकानुप्रासाविति विजातीयौ । अत्रैव ‘ लकलो–लकलो ’ इति तथा ‘ कलोल–कलोल ’ इति सजातीययोर्यमकयो [:] संसर्गः ॥ तथाविधे परस्परनिरपेक्षे ॥ उपमोत्प्रेक्षे इति विजातीये ॥ अत्रैव ‘ लिम्पतीव ’ इति ‘ वर्षतीव ’ इत्युत्प्रेक्षयोः सजातीययोः संसृष्टिः ॥

‘ एतां प्रसरल्लावण्यां तरुणानां हृदयलुण्टिं परिष्वक्कमाणां निवारयति ॥ ’[छाया]

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे । संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।

एते एव तु यत्रात्मन्यनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात् संकरः । उदाहरणम्—

आत्ते सीमन्तचिह्ने मरकतिनि हृते हेमताडङ्कपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन्गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥५७१॥

अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतम्, तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां चमत्कृतिनिमित्तमित्येतयोरङ्गाङ्गिभावः । यथा वा—

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालाङ्किततले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥५७२॥

रूपकं चेति । आरोप्यमाणरूपेण आरोपविषयस्य आरोपवतः क्रियमाणत्वात् ॥ एकत्र वाक्य इति । अनेन शब्दालंकारनिर्देशपरामर्शः ॥ छन्दसीत्यनेन तु अर्थालंकारोन्मेषः ॥ १३५–१३६ ॥ [६१॥]

अथ क्षीरनीरन्यायेन मिश्रत्वे उपकार्योपकारकत्वेन संदेहेन एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिविधं संकरमाह – अविश्रान्तिजुषामिति, न विश्रान्तिजुषाम् ॥ तुलाकोटिर्नूपुरम् ॥ तद्गुणमिति । 'शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या' इति तद्गुणोऽलंकारः । 'गुञ्जाफलानां स्रजः' इति वाक्ये भ्रान्तिमान् ॥ तदाश्रयेणेति, भ्रान्तिमदाश्रयेण ॥

'जटाभाभिः' इति । 'करा रश्मयः, करः पाणिश्च । वैराग्यं लौहित्यविगमो विषयवैतृष्ण्यं च' । अत्र उपमा । 'कलङ्काक्षवलयः' इति रूपकम् । 'व्यापत्तेरिव' इति उत्प्रेक्षा । 'कलितवैराग्ये' इति श्लेषः । 'तारापरिकरकपाल' इत्यत्र रूपकम् । 'अङ्किततले' इति तु साधारणो धर्मो रूपकहेतुः । 'भस्मनेव पाण्डुः'

उपमा रूपकमुत्प्रेक्षा श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववदङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते । कलङ्क एवाक्षवलयमिति [284]रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते । अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलङ्करूप[286]मक्षवलयमेव मुख्यतयावगम्यते । तस्यैव च करग्रहणयोग्य[287]तायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः । श्लेषच्छायया तु कलङ्कस्य करधारणमसदेव प्रत्यासत्त्योपचर्य योज्यते, शशाङ्केन [288]कलङ्कस्य मूर्त्यैवोद्वहनात् । कलङ्कोऽक्षवलयमिवेति तूपमायां कलङ्कस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः । न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात् ।

एवंरूपश्च संकरः शब्दालंकारयोरपि [289]परिदृश्यते । यथा—

राजति तटीयमभिहत-दानव-रासातिपाति-साराव-नदा ।
गजता च यूथ[290]मविरति-दान-वरा सातिपाति सारा वनदा ॥८७३॥

अत्र यमकमनुलोम[291]प्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे ।

इति उत्प्रेक्षा । 'पितृवने' इति तु उपमाचमत्कृतिहेतुः ॥ पूर्ववदिति । तथा ह्यत्र उपमा श्लेषस्य उत्थापकतया उपकारिणी । श्लेषोऽपि तथैव रूपकोत्प्रेक्षायाः । तैस्तु समस्तैः साक्षात् पारंपर्येण च यथासंभवमुपमा उपकृता । तदुपकृतैव सा सचेतसां चमत्कृतिं करोति ॥ कलङ्कोऽक्षवलयमिवेति समासोपमायां कलङ्कस्य उपमेयस्य प्राधान्यं प्रतीयते । न च कलङ्कस्य करधृतत्वयोग्यता । 'कलङ्क एवाक्षवलयम्' इति तु रूपके वलयस्यैव उपमानस्य प्राधान्यम् । अक्षवलयस्य च करधृतत्वयोग्यतैव रूपकपरिग्रहे साधकं प्रमाणमित्याह – कलङ्क एवेति, न तु 'करै रश्मिभिर्धृतकलङ्कश्चन्द्रः' इति ॥ श्लेषच्छायेति । प्रत्यासत्त्येति । शशाङ्कतनौ कराः कलङ्कश्चेति प्रत्यासत्तिः मुख्येऽपीति ॥ उपमापक्षे कलङ्के ॥ उपचार एवेति । न च तदाश्रयणं युक्तं, तस्य अगतिकगतित्वात् ॥

'अतिपातिनो जवेन व्रजन्तः सारावा नदा यत्र । तादृशीयं तटी भ्राजते । अभिहतो दानवानां रासः सिंहनादो येनेति शम्भोः संबोधनम् । सा चेयं गजता । यूथं गजसमूहम् अतिपाति परित्रायतेऽविरतिना संततेन दानेन । वरा श्रेष्ठा । सारा स्थिरा । वनं दयते रक्षति या, अवनं रक्षणं वा ददाति' ॥

ननु, अत्र यमकचित्रयोः शब्दालंकारयोः शब्दवदुपकार्योपकारकत्वाभावेन अङ्गाङ्गिभावाभावात् संसृष्टिरेव परस्परनिरपेक्षेत्याह – परस्परापेक्षे इति ॥[६२॥]

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥१४०॥

द्वयोर्बहूनां वालंकाराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधान्न यत्र युगपदवस्थानसंभवो, न चैकतरस्य परिग्रहे साधकं तदितरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति, येनैकतर एव स परिगृह्येत, स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः, समुच्चयेन संकरस्यैवाक्षेपात् । उदाहरणम्—

जह गंभीरो जह रअणाणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ ।
तो किं विहिणा सो सरसवाणीओ जलणिही ण कओ ॥५७४॥

अत्र समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः, किमब्धेरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतिपत्तेरियमप्रस्तुतप्रशंसेति संदेहः । यथा वा—

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।
अधुनापि निरुद्धाशमपि शीर्णमिदं तमः ॥५७५॥

अत्र च किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तत इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम्, उत वदनस्येन्दुबिम्बतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, किं वैतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम्, अथवैतयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम्, अथवा तुल्ययोगिता,

---

निश्चयाभावेति, न तु अनिश्चयाख्यः पृथगलंकारः ॥ समुच्चयेनेति । एकस्य चेत्यत्र समुच्चयद्योतिना च-शब्देन ॥

'सरसवाणिओ सरसपानीयः सरसवाणीकश्च' । 'ता 'इति तथेत्यर्थे निपातः ॥ 'आशा दिश आस्थाश्च । तमस्तिमिरं मोहश्च '॥

यथा वा—

तद्वक्त्रचन्द्रे नवयौवनेन श्मश्रुच्छलादुल्लिखितश्चकास्ति ।
उद्दामरामाद्रढमानमुद्राविद्रावणो मन्त्र इव स्मरस्य ॥

—अत्र 'वक्त्रं चन्द्र इव 'इति किमुपमा, उत 'वक्त्रमेव चन्द्रः 'इति रूपकमिति साधकप्रमाणाभावे संशयः, उभयथापि समासस्य भावात्, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः ' इति ह्युपमासमासो, व्याघ्रादेराकृतिगणत्वाद् । मयूरव्यंसकादित्वात्तु रूपकसमासः, तस्यापि आकृतिगणत्वात् ॥ बहूनां वेत्यभिप्रायेण 'नयने 'त्युदाहरणम् ॥ एतयोरिति मुखबिम्बयोः । 'बिम्बं प्रसीदति 'इत्येतच्च 'मुखं प्रसी-

किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः, आहोस्विन्मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसेति बहूनां संदेहादयमेव संकरः ।

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारस्तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः । न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता । दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता । तत्र

'सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ।'

इत्यत्र मुख्यतयावगम्यमाना हासद्युति[407]र्वक्त्र एवानुकूल्यं भजत इत्युपमा[408]याः साधनम्[409], शशिनि[410] तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता ।

'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशु[411]रभ्युद्यतः ।'

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकसा[412]धकतां प्रतिपद्यते, न तूपमाया बाधकताम् ।

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ।'

दति' इति ।। एकक्रियायोगे एकस्य प्रकृतत्वेऽन्यस्य अप्रकृतत्वे दीपकं तुल्ययोगितेति यदि द्वयोरपि प्रकृतत्वमेव वा ।।

न संशय इति । यदि साधकं बाधकं वा प्रमाणमेकमेव स्यात् तदा एकतरस्यालंकारस्य निश्चयान्न संदेहसंकर इत्यर्थः ।। तत्रेति । साधकत्वबाधकत्वयोर्मध्यात् साधकत्वे, यथा– 'सौभाग्यम्' इति । अत्र 'वक्त्रं शशीव' इत्युपमा ।। ननु, 'वक्त्रमेव शशी' इति रूपकम्' इत्याह – मुख्यतयेति । हासद्युतेः प्रकृतत्वात् ज्योत्स्नापेक्षया मुख्यता । सा च वक्त्रस्यैव अनुगुणेति उपमायाः साधकं प्रमाणम् ।। न तथेति । शशिन्यपि हासद्युतेः शुक्लतया मनागानुकूल्यमस्तीति भावः ।। तस्या इति हासद्युतेः ।। यथा वा– 'वक्त्रेन्दौ' इति । उपमानप्राधान्ये रूपकं, उपमेयप्राधान्ये तूपमा ।। अत्र च 'वक्त्रमेवेन्दुः' इति रूपकं, तत इन्दोः प्राधान्यमिन्दौ चापरत्वं घटत इत्यानुकूल्यमेव रूपकस्य साधकं प्रमाणमित्याह– अपरत्वमिति ।। अपरत्वस्यैन्दौ विस्मयावहत्वाद् आनुकूल्यं वक्त्रे चापरत्वं संभाव्यत एव, वक्त्रस्य बहुविधत्वात् ।। बाधकत्वे यथा– 'राजनारायणम्' इति । 'राजैव नारायणः' इति मयूरव्यंसकादित्वाद् रूपकसमासः, ततश्च उपमानस्य नारायणस्य प्राधान्यम् । तं प्रति लक्ष्मीप्रयुक्तमालिङ्गनं घटत इत्यालिङ्ग-

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति, सदृशं प्रति प्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासंभवात् ।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥५७६॥

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितमम्बुजे प्रतिकूलमसंभवादिति रूपकस्य बाधकस्य, न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते, विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः । एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम् ।

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च

अभिन्ने च पदे स्पष्टतया यदुभावपि शब्दार्थालंकारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः । उदाहरणम्—

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब-
विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।

नमुपमाया बाधकं प्रमाणम् । उपमायां हि उपमेयस्य राज्ञः प्राधान्यं, तत्रैव चित्तविश्रान्तेः । न च स्वभर्तृसदृशमन्यं प्रेयसी काचिद् आलिङ्गति ॥ सदृशमिति, राजानम् ॥

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य ।
पादाम्बुजं भवतु........।

–इत्युत्तरार्धं चन्द्रचूडचरिते । अत्र 'पादाम्बुजमिव' इति उपमा ॥ उपमायां हि पादस्य प्राधान्यं, पादे च मञ्जीरशिञ्जितयोगो घटते । 'पाद एवाम्बुजम्' इति रूपके चाम्बुजस्य प्राधान्यं, अम्बुजे च मञ्जीरशिञ्जितं न घटते इति प्रतिकूलत्वाद् रूपकबाधकत्वं, न तु 'पादेऽनुकूलम्' इति रूपकं प्रति यन्मञ्जीरशिञ्जितं बाधकं तदेव पादानुकूल्याद् उपमां प्रति साधकं प्रमाणमिति न वाच्यमित्याह विध्युपमर्दिन इति । रूपकविधानच्छेदिनो बाधकस्य मञ्जीरशिञ्जितस्य यद्यपि साधकत्वं बाधकत्वं चोभयमपि अस्ति, तथापि 'बाधकत्वेनैव व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात् बाधकत्वस्यैव प्राधान्यं, साधकत्वापेक्षया बलीयस्त्वेन उत्कटतया प्रतीतेः ॥ साधकबाधकाभावे तु संदेहसंकरः, यथा उदाहृतं प्राक् ॥१३८॥

अथैकस्मिन्वाचकेऽनेकालंकारानुप्रवेशलक्षणं तृतीयं संकरमाह – स्फुट-

श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-
बद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥५७७॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥१४१॥

तदयमनुग्राह्यानुग्राहकतया, संदेहेन, एकपदप्रतिपाद्यतया [४२२] च व्यवस्थितत्वात्त्रि[४२३]प्रकारतयैव संकरो व्याकृतः । प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम्, आनन्त्यात्तत्प्रभेदानामिति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलंकाराः ।

कुतः [४२४]पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य, कश्चिच्चोभयस्येति चेत् । उक्तमत्र, यथा काव्ये दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः, निमित्तान्तरस्याभावात् । ततश्च योऽलंकारो यदीयौ[४२५] भावाभावावनुविधत्ते स तदलंकारो व्य[४२६]वस्थाप्यत इति । एवं च यथा पुनरुक्तवदा[४२७]भासं परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितयोभयालंकारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यास[४२८]प्रभृतयोऽपि द्र[४२९]ष्टव्याः । अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यमुत्कटतया प्रतिभासत इति वाच्यालं[४३०]कृतिमध्ये

मिति ॥ अत्रैकपदेति । यद्यपि सावयवमिदं रूपकमखिलवाक्यव्यापि तथापि प्रतिपदं रूपकसद्भावात् तथाव्यपदेश इत्येकपदानुप्रवेशो न विरुद्धः ॥

त्रिप्रकारतयैवेति । एतेन—

शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्रभाविनः ।
संकरो वैकवाक्यांशप्रवेशाद् वाभिधीयते ॥

—इति भट्टोद्भटोक्तः संकरः संसृष्टावन्तर्भावित इति त्रेधैवायम् ॥ तत्प्रभेदेति । तस्य संकरस्य प्रभेदास्त्रयः प्रकाराः, तेषां भेदास्तत्तदलंकारयोगेन अवान्तरविशेषाः ॥

भावाभावाविति अन्वयव्यतिरेकौ ॥

ननु, पुनरुक्तवदाभासस्य तावच्छब्दस्य वैचित्र्यमुत्कटमिति उभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव शब्दालंकारत्वेनोक्तिः कृता, परंपरितरूपकादीनां तु किमर्थालंकारेषु पाठ इत्याह – अर्थस्य त्विति । वस्तुवृत्त्या तु भिन्नाः प्रतिपादयितुमुचिता

वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः । योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायामन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ । तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव [४३१]परस्परं व्यतिरेको ज्यायान् ।

एषां दोषा यथायोगं संभवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तः[४३२]पतन्तीति न पृथक्प्रतिपादिताः ॥१४२॥

तथा हि—अनुप्रासस्य प्रसिद्ध्यभावो वैफल्यं वृत्तिविरोध इति ये त्रयोऽनर्थास्ते प्रसिद्धिविरुद्धताम[४३३]पुष्टार्थत्वं प्रतिकूलवर्णतां च यथाक्रमं [४३४]न व्यतिक्रामन्ति, तत्स्वभावत्वात् । क्रमेणोदाहरणम्—

चक्री चक्रारपङ्क्तिं हरिरपि च हरीन्धूर्जटिर्धूर्ध्वजान्ता-
नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः ।
रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिम[४३५]रुचः सोऽवतात्स्यन्दनो वः ॥५७८॥

अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिरनुप्रासानुरोधेनैव प्रतिपादिता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः ।

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि [४३६]सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं ते[४३७] ॥५७९॥

इति भावः ॥

ननु, लोकवदाश्रयाश्रयिभाव एव शब्दार्थालंकारत्वे निबन्धनमिति चिरंतनाः, तत् किमन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्याह – योऽलंकारो यदाश्रित इति ॥ विशिष्टस्येति । यत्र आश्रयनित्यता नास्ति, नित्यत्वं हि यस्य न तस्य अन्वयव्यतिरेकौ निबन्धनमित्यस्य व्यतिरेकाभावात् । व्यतिरेको भिन्नत्वम् ॥१३९॥६२॥

एषामिति अलंकाराणाम् ॥ उक्तेष्विति दोषेषु ॥ अनर्था इति । अनर्थ–शब्दोऽयं अपायोपनिपातवचनः, अपायश्च दोषः ॥

'कूबराग्रं रथाग्रम् । रंहो वेगम्' ॥ प्रसिद्धिविरोध इति । तदा हि चक्रिणश्चक्रारप्रियत्वं संभाव्येतापि, उत्तराणि तु न संगच्छन्ते ॥

'रमणमन्दिरं रतिवेश्म ।' 'रमणस्य प्रेयसो मन्दिरम्' इति व्याख्यायां तु 'अकारणम्' इति असंगतं स्यात् ॥

अनतुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमं[४३८]ञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥५८०॥

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किंचिदपि चारुत्वं प्रतीयत इत्य[४३९]परिपुष्टार्थतै[४४०]वानुप्रासस्य वैफल्यम् ।

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥५८१॥

शृ[४४१]ङ्गारे परुषवर्णाडम्ब[४४२]रः पूर्वोक्तनी[४४३]त्या विरुध्यत इति परुषानु[४४४]प्रासेऽत्र प्रतिकूलवर्ण[४४५]ता वृत्तिविरोधः ।

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन य[४४६]मनमप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

भुजंगमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावकीर्णेव नदी सदम्भाः ।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्र[४४७]मुखे सदम्भाः ॥५८२॥

उपमायामुप[४४८]मानस्य जातिप्रमाणगतं न्यू[४४९]नत्वमधिकता वा तादृश्यनुचितार्थत्वं दोषः । धर्माश्रये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकप[४५०]दतां च न व्यभिचरतः । क्रमेणोदाहरणम्—

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥५८३॥

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥५८४॥

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान्वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥५८५॥

पातालमिव [४५१]नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसंनिभः ॥५८६॥

'अकुण्ठे'ति । अत्र शृङ्गारप्रतिकूला वर्णाः । शृङ्गारे हि उपनागरिकावृत्तिरुचिता ।

'सदम्भाः सततप्रभः' । 'सदम्' इति सदेत्यस्यार्थे निपातश्छान्दसः ॥ मणिशब्दः स्त्रीपुंसलिङ्गः । 'सत् शोभनमम्भो यस्याः' प्रमुखे आदौ 'सह दम्भेन वर्तन्ते सदम्भाः समायाः खला इत्यर्थः ॥

तादृशीति जातिप्रमाणगता ॥ 'चण्डालैः' इति । अत्र वाच्यं साहसकारित्वमिव अस्पृश्यत्वाद्यपि व्यङ्ग्यमिति जातिगतं न्यूनत्वम् ॥ उपमेयस्य प्रमाणगतन्यूनत्वे, यथा – 'वह्नी'ति ॥

प्रमाणाधिक्यं, यथा —'पातालम्' इति । 'पातः प्रवाहः' ॥

अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थता ।

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥५८७॥

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥५८८॥

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यत इत्यधिकपदत्वम् ।

लिङ्गवचनभेदोऽप्युपमानोपमेययोः साधारणं चेद्धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदैकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेनापि धर्मेण प्रतीयत इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् । यथा—

चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ् मन्दभाग्यस्य मे ॥५८९॥

सक्तवो भक्षिता देव शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५९०॥

धर्मन्यूनत्वे, 'स मुनिः' इति ॥

अन्यरूपमिति । उपमानरूपमुपमेयरूपं वा ॥ तस्येति धर्मिणः ॥ प्रतीयमानेनापीति । शब्देन अनुपात्तेन उभयानुगमक्षमेण शब्दोपात्तच्युतत्वादिधर्मव्यतिरिक्तेन केनचिदित्यर्थः ॥ अनिर्वाहादिति । सविशेषणत्वं निर्विशेषणत्वं वा यद् उपमेये प्रक्रान्तम् उपमाने तस्य अनिर्वाहादित्यर्थः ॥

'चिन्तारत्नम्' इति । अत्र च्युतत्वमुपमानोपमेययोः साधारणो धर्मस्तस्यान्यरूपत्वं नपुंसकस्य, उपमेयविशेषणत्वे पुंस्त्वं, तत उपमेयस्य साक्षाद्धर्मसमन्वयः, उपमानस्य तु प्रतीयमान इति शब्देन धर्मेण प्रक्रमे भग्नप्रक्रमत्वम्। यदि तु विपरिणामेन लिङ्गवचसोरपरस्यापि संबन्धस्तदा अभ्यासलक्षणो वाक्यभेदः स्यात् । द्वे वाक्ये स्यातामित्यर्थः । एवं च व्यवधानेन प्रकृतोऽर्थो न प्रतीयेत, विपरिणामश्च शास्त्रीयकाव्येषु न युक्तः ॥

यत्र सामान्याभिधायिशब्दभेदस्तत्रैव लिङ्गवचनभेदौ दुष्टावित्याह –

यत्र तु नानात्वे[४५३]ऽपि लिङ्गवचनयोः[४५४] सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः, उभयथाप्यस्यानुगमक्षमस्वभाववत्त्वात् । यथा—

गुणैरनर्घैः[४५५] प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः । ५९१॥
तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥५९२॥

[४५६]इति कालपुरुषविध्या[४५७]दिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्ति[४५८]मासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रम[४५९]तयैव व्याप्तः । यथा—

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥५९३॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः ।

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्तिः
कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५९४॥

अत्र लता विभ्राजते न तु विभ्राजस इति संबोध्यमाननिष्ठस्य पर[४६०]भावस्यासंबोध्यमानविषयतया व्यत्यासात्पुरुषभेदः ।

• यत्र त्विति ॥

‘असदृश’ इति टगन्तत्वाद् एकवचनान्तं, क्विबन्तत्वाद् बहुवचनान्तं च । ‘मधुरतया भृतो धृतः मधुरतां बिभ्रतीति च’ । ‘दधते’ इति एकवचनबहुवचनाभ्याम् । अत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि साधारणधर्माभिधायीनि पदानि न स्वरूपेण भिद्यन्त इति न भग्नप्रक्रमदोषः॥ यथा वा – ‘चन्द्रमिव सुन्दरं मुखं पश्यति’ इत्यादौ । यत्रापि गम्यमानं साधारणधर्माभिधायिपदं तत्रापि न दोषः, यथा–‘ चन्द्र इव मुखं, कमलमिव पाणिः, बिम्बफलमिवाधरः ’ इत्यादौ ॥ न तथेति । तद्विदां प्रसिद्धेन प्रकारेण ॥

‘मज्जनं स्नानं ब्रुडनं च । स्फुरन्नंशुकस्य अन्तो यस्याः, स्फुरद्भिरंशुभिश्च कान्ता । मकरकेतनः कामः समुद्रश्च ’ ॥ संबोध्यमानेति । नायिका वासवदत्तात्र संबोध्यमाना तन्निष्ठस्य मध्यमपुरुषस्य असंबोध्यमानलताविषयतया विपर्ययः । युष्मदर्थश्च संबोधनार्थः ॥

गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्तिः ॥५९५॥

इत्यादौ च गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मनो विधेः । एवंजातीयकस्य चान्यस्यार्थस्योपमानगतस्यासंभवाद्विध्यादिभेदः ।

ननु समानमुच्चरितं प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमायामुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसंबन्धाच्च कथं[४६१] कालादिभेदोऽस्ति । यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेणोपमा[४६२] गम्यते यथा—युधिष्ठिर इवायं सत्यं[४६३] वदतीति—तत्र युधिष्ठिर इव सत्य[४६४]वादी सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे । सत्यवादी सत्यं वदतीति च[४६५] न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयं, ऐषोऽयं[४६६] पुष्णातीतिवद्युधिष्ठिरसत्य[४६७]वदनेन[४६८] सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात् । सत्यमेवैतत् । किंतु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदं न तु सर्वथा निरवद्यं, प्रस्तुत[४६९]वस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम् ।

असादृश्यासंभवावप्युपमायामनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः । यथा—

ग्रथ्[४७०]नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥५९६॥

अत्र काव्यस्य शशिनार्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि

विधेरिति उपमानविधेर्भेदो, नहि गङ्गाया अप्रवृत्तायाः प्रवृत्तिर्विधीयते यथा कीर्तिः ॥ अन्यस्येति । विधिजातीयस्य निमन्त्रणादेरपि उपमानेऽसंभवः ॥

'ननु, समाने'त्यतो'ऽर्थावगमात्' इत्यन्तं पूर्वपक्षः ॥ उच्चरितमिति शब्दतः प्रादुर्भूतं, यथा 'प्रत्यग्रे'त्यत्र विविक्तमूर्तित्वादीति ॥ प्रतीयमानमिति अनुक्तमपि गम्यमानम् । यथा 'राम इवायं राजा' इत्यादौ गम्यमानधर्मेण उपमानिर्वाहानन्तरं 'भाती'त्यादिना उपात्तेन धर्मेण संबन्धे ॥ धर्मान्तरमिति । आप्त्यादिलक्षणात् कालादिभेदावभासकाद् धर्माद् अन्यता ॥ प्रकृतेति । प्रकृतो धर्मः कालादिभेदावभासक आपेत्यादिकः ॥ सामान्यधर्मेणेति, कालादिभेदावभासकेन ॥ 'युधिष्ठिरो ह्यवदत्; अयं तु वदति' इति व्यक्तः किल कालभेद इत्याह — 'सत्यवाद्ययम्' इति । सत्यवादित्वधर्मस्य प्रतीयमानस्य उपादानेन उपमाप्रतिपत्तिर्भविष्यति, ततः 'सत्यं वदति' इत्येतद् उपमेये एव योजयिष्यते; तत उपमानानिर्वाहानन्तरं 'सत्यं वदति' इत्युपादीयमानेन धर्मेण संबन्ध इति न कालभेदः स्यादिति भावः ॥

न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।

निष्पेतु[४७०]रास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥५९७॥

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न संभवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति ।

उत्प्रेक्षायामपि संभाव[४७१]नं ध्रुवे[४७२]वादय एव शब्दा वक्तु[४७३]मुत्सहन्ते, न यथाशब्दोऽपि, केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् , तस्य चास्यामविवक्षितत्वा[४७४]दिति तत्राशक्तिरस्यावाचकत्वं[४७५] दोषः । यथा—

उद्ययौ दीर्घिकागर्भान्मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचा[४७६]तुर्यशङ्कासंकुचितं यथा ॥५९८॥

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वा[४७७]न्निरुपाख्यप्रख्यम् , तत्समर्थनाय यदर्थान्तर[४७८]न्यासस्योपादानं[४७९] तदालेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः । यथा –

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां[४८०] सतीव ॥५९९॥

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात्त्रास एव न संभवती[४८१]ति कुत एवं[४८२] तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम् । संभावितेन तु [४८३]रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनीयां[४८४] यत्नः ।

साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमप्युपमानविशेषं

'परिवेषिणः' इति । अनेन धनुर्मण्डलमध्यभावत्वं प्रतिरूपितम् ॥ न संभवन्तीति । न हि यन्न संभवति स्वयं तद् उपमानत्वेन स्यात् ॥

केवलस्येति, असमासस्थस्य । समासे तु असौ योग्यतामपि प्रतिपादयति । तस्य चेति, साधर्म्यस्य ॥ तत्रेति, संभावनवाचकत्वे ॥

व्यर्थ एवेति । उत्प्रेक्षामात्रमेवात्रोचितं, न त्वर्थान्तरोपन्यासस्तत्समर्थनार्थ इति तात्पर्यम् ।

समासोक्तिदोषानाह – साधारणेति । 'मानः परिमाणमभिमानश्च ।

प्र[४८५]काशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावादनुपादेयता यत् तदपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तता वा दोषः । यथा—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया ।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयायिदिनश्रिया ॥६००॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया व्यक्तिः, तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि [४८६]प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन ।

श्लेषोपमायास्तु स विषयः, यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः । यथा—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी ।
प्रभातसंध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥६०१॥

[४८७]इति अप्रस्तुतप्रशंसायामप्युपमेयमनयैव नीत्या[४८८] प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थनां नेयम्[४८९] । यथा[४९०]—

आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायान्पुरो वार्यते
मध्ये वा [४९१]धुरि वा [४९२]वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम्[४९३] ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥६०२॥

[४९४]अत्राचेतसः प्रभोरप्रस्तुत—विशिष्ट—सामान्यद्वारेणाभि-

चिरयायिदिनो दीर्घाहा निदाघः' ॥ यथा सदृशविशेषणेति । 'रवेः करैः' इति सदृशमनुकूलं विशेषणं, दिनश्रियास्तु 'विजृम्भिततापया' इत्यादि सदृशं विशेषणम् । व्यक्तेर्लिङ्गस्य विशेषः पुंस्त्वं स्त्रीत्वं च ॥ नायकतयेति । नायकश्च नायिका चेति एकशेषः ॥

ननु, यथा दयिते दयितां करैः स्पृशति सति दयितान्तरस्य तापो भवति तथा रवेः करैः ककुभः स्पृशति सति चिरयायिदिनश्रियोऽपि ताप इति श्लेषोपमेयमिति उपादेयमेव 'दयितया' इति पदमित्याह – श्लेषोपमायास्त्विति ॥

'अप्रधानो मणिस्तृणमणिः' । 'न कम्पते' न बिभेतीत्यर्थः ॥ विशिष्टसामान्येति । अचेतनत्वेन विशेषितं यत् सामान्यं तद्द्वारेण प्रस्तुतस्य प्रभोः प्रतीतेः प्रभुमिवेत्यधिकम् । यथा वा—

व्यक्तेरयुक्तमेव पुनः कथनम् ।

तदेतेऽलंकारदोषा यथासंभविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः [४५५]पूर्वो-

द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपकः ।
बहुविधार्थ्युपकारभर क्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः ॥

—अत्र भवदर्थस्य अप्रस्तुतप्रशंसाबलेनैव आक्षेपाद् 'भवानिव' इत्यधिकम् ॥

अन्येऽपि । यथोपमायां हीनपदत्वे —

क्वचित्काले प्रसरता क्वचिदापत्य निघ्नता ।
शुनेव सारंगकुलं त्वया भिन्नं द्विषां बलम् ॥

—अत्र शुनोपमानेन च कृतार्थकदर्थनेऽनुचितार्थत्वम् । 'क्वचित्काल' इत्यत्र क्वचिदर्थस्य सामान्येनोपक्रान्तस्य काललक्षणेन विशेषेण योगः ॥ क्वचित्तु विशिष्टस्यैवार्थस्योपक्रमः, यथा —

शक्या भङ्क्षुण्टमिति [?] बिसिनीकन्दवच्चन्द्रपादाः ॥

निन्दायां प्रोत्साहने चानुचितार्थत्वं गुणः, यथा —

कुशलसखीजनवचनैरतिवाहितवासरा विनोदेन ।
निशि चण्डाल इवायं मारयति वियोगिनीश्चन्द्रः ॥

तथा—विशन्तु वृष्णयः शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः ॥

अवाचकमुपमायां यथा—

पतिते पतंगमृगराजिनिजप्रतिबिम्बरोषित इवाम्बुनिधौ ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे ॥

—अत्र नागयूथेन धर्मिणा साम्यं तमसो वक्तुमभिमतं न तद्धर्मेण मलिनत्वमात्रेण मृगपतौ पतिते तस्यैव निष्प्रतिपक्षतया स्वेच्छाविहारोपपत्तेः, न तद्वन्मलिनानां तमसां पतंगस्य मृगपतिरूपेण अवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न च तत्साम्यं सुन्दर-हारि-सदृश-संनिभाशब्दा इव मलिनादि-शब्दा वक्तुं शक्नुवन्तीति अवाचकत्वम् ॥ रूपके आधिक्यं, यथा —

निर्मोकमुक्तिमिव गगनोरगस्य लीला ललाटिकामिव त्रिविष्टपविटस्य ॥

—अत्र रूपकेणैव साम्यस्य प्रतिपादितत्वाद् 'इव' शब्दोऽधिकः ॥

अन्यस्यालंकारविषयेऽलंकारान्तरनिबन्धेऽपि अधिकपदत्वम् । तत्र श्लेषविषये उपमानं, यथा —

भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलधिश्चचाल ॥

क्तयैव दोषजातयो अन्तर्भाविता न पृथक्प्रतिपादनमर्हन्तीति ॥

संपूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ।

—अत्र राजशब्द एवोभयार्थत्वाच्छशिनमाहेति श्लेषस्यायं विषयो युक्तः। यस्तु पृथक्त्वमुपादाय राजशशिनोरुपमानोपमेयभावनिबन्धः सोऽधिकः सन्नार्थ एव तद्विदां स्वदते, न शाब्दः ॥ एवम्—

दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥

—इत्यत्रापि श्लेषस्य विषये रूपकमामन्त्रितमनादृत्य उपमानुरागिणा कविना सैवोपनिबद्धा। न चासौ ताभ्यां स्पर्धितुमुत्सहते तयोः, यथा पूर्वं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शातिरेकात् तदनुविधायिनः सहृदयैकसंवेद्यस्य चमत्कारस्य संभवादिति उपमाधिक्यम् । यदाहुः—

वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम् ।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा ॥

किं तु नात्र साम्यमात्रं विवक्षितं, अपि तु समुद्रे यथेन्दुर्जातस्तथा तत्कुले स द्वितीयश्चन्द्र इति चन्द्राभेद एव प्रतिपाद्यः। कुलस्य तु समुद्रसाम्यमेवाभिधित्सितम् ॥

विरोधस्य असंभवः, यथा—

या घर्मभास्तनयापि शीतलैः स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभिर्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥

—अत्र विरोधस्यैकाधारतयैव उपपत्तिरित्युक्तम् । ततो घर्मभास्तनयात्वादीनां शीतलत्वादीनां च धर्माणां भिन्नाधारतयोक्तौ विरोधस्य असंभवः ॥

ननु, तस्या नद्या जलानां च तत्त्वत एकत्वमिति न दोषः । सत्यम्, शब्दसमर्पितं नानात्वमनुभूयतेऽयं च विरोधः शाब्द एवेष्यते ॥ व्यतिरेके भग्नप्रक्रमत्वं, यथा—

तरंगय दृशोऽङ्गणे पततु चित्रमिन्दीवरं
स्फुटीकुरु रदच्छदं व्रजतु विद्रुमः श्वेतताम् ।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिका-
मुदञ्चय मनाङ्मुखं भवतु च द्विचन्द्रं नभः ॥

—अत्र उपमानानामिन्दीवरादीनां निन्दाद्वारेण नयनादीनामुपमेयानां यस्तेभ्योऽतिशयो वक्तुं प्रक्रान्तः स मुखचन्द्रयो 'भवतु च द्विचन्द्रं नभः' इति

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः ॥१॥

इति श्रीमम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशेऽर्थालंकारनिर्णयो नाम
दशम उल्लासः ।

समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशः ।

सादृश्यमात्रप्रतिपादनाद् न निर्व्यूढम् । 'भवतु लक्ष्यलक्ष्मा शशी' इति तु युक्तम् ।

तथा—तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत् स्मितं का सुधा
सा चेद् कान्तिरतन्त्रमेव कनकं ताश्चेद्गिरो धिङ् मधु ।
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैः किं वा बहु ब्रूमहे
यत् सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः ॥

—अत्रापि उपमानाद् उपमेयस्यातिरेको वक्तुमिष्टः, तस्यार्थान्तरन्यासेन वस्तुसर्गपौनरुक्त्यस्य सादृश्यमात्रे पर्यवसानाद् भग्नप्रक्रमत्वम् । 'पुनरुक्तवस्तुविमुखः' इति तु युक्तम् ॥

यद्यपि निर्दोषगुणालंकारभाज एव शब्दार्थयुगलस्य काव्यत्वं तथापि आवापोद्धारिक्या बुद्ध्या शब्दार्थालंकारगुणानां विवेक [:] कृत एवेत्यलंकारदोष एवायं, नार्थविरोधलक्षणोऽर्थदोषः ॥

इत्येष इति । एष मार्गोऽद्भुतं वर्त्म विद्वदादीनां ध्वनिकारादीनां नानाग्रन्थतया विभिन्नोऽप्यनेकरूपोऽपि एकरूपतया यद् भाति तत्र संघटना—विशंस्थुलस्य सुखप्रतीत्यर्थमेकत्र संग्रहः, सैव हेतुः, तद्वशाद् एकात्मताप्रतीतेः । तत्तद्ग्रन्थानामत्र अन्तर्भाव इति भावः ॥

अथ च सुधियां विकासहेतुर्ग्रन्थोऽयं कथंचिदपूर्णत्वाद् अन्येन पूरितशेष इति द्विखण्डोऽपि अखण्ड इव यद् भाति तत्रापि संघटनैव संनिमित्तम् ॥

स्वीकृत्य कल्पतरुतो मरुतः परागं दृष्टेः क्षतिं विदधते जगतोऽपि किं तैः ।
भृङ्गः कृती तु परितः सुमनोमुखेभ्यः पीतं मधूद्गमति येन मदं करोति ॥

॥ छ ॥ इति भट्टश्रीसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते
दशम उल्लासः ॥ छ ॥

भरद्वाजकुलोत्तंस—भट्टदेवकसूनुना । सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा ॥
संपूर्णश्च काव्यादर्शो नाम काव्यप्रकाशसंकेत इति शुभम् ॥ छ ॥ ६ छ ३ ॥ छ ॥
संवत् १२८३ वर्षे ॥ आषाढ वदि १२ शनौ लिखितमिति ॥ छ ॥ ६ छ ३ ॥ छ ॥